आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अर्ध-शताब्दी के उपलक्ष्य में

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का सचित्र इतिहास

चैत्र १९९२

प्रकाशक

भीमसेन विद्यालंकार

मन्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर

"भूमिका" तथा "ऋषि का पंजाब में पदार्पण" मुद्रक सुशीलादेवी
विद्या प्रकाश प्रैस लाहौर, पृष्ठ २३०—२५८ तथा पृष्ठ ३४९—३७०
तक जगजोतसिंहपाल मुद्रक बसन्त प्रैस लाहौर, और शेष
पं० भीमसेन विद्यालङ्कार मुद्रक नवयुग प्रैस लाहौर
के प्रबन्ध से छपा ।

विषय-सूची

भूमिका

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के अर्द्ध-शताब्दी समारोह के अवसर पर मैं सभा के इतिहास को प्रसन्नता-पूर्वक आर्य जनता के सामने उपस्थित करता हूँ। इस इतिहास में पिछले पचास वर्षों में पंजाब में आर्य समाज के आन्दोलन ने किस प्रकार उन्नति की है इसका ऐतिहासिक विवेचन तथा विवरण अङ्कित किया गया है।

यह इतिहास आर्यसमाज के विद्वान् लेखक पं० चमूपति जी एम. ए. ने लिखा है। परिमित समय में, आर्यसमाज के विभिन्न आन्दोलन पर प्रकाश डालने वाली सामग्री की छानबीन कर उसे क्रम-बद्ध तथा लेख-बद्ध करना पं० चमूपति जी जैसे सिद्ध-हस्त लेखक का ही काम है। पण्डित जी ने अस्वस्थ होते हुए भी इस कार्य को पूर्ण करने का सराहनीय परिश्रम किया है। इस प्रकाशित इतिहास के गुरुकुल सम्बन्धी अध्यायों को छोड़कर शेष प्रकाशित इतिहास पण्डित चमूपति जी का लिखा हुआ है। गुरुदत्त-काल में तो उपसभा ने कोई परिवर्तन नहीं किया। लेखराम-काल मुन्शीराम-काल और वर्तमान-काल में कुछ परिवर्तन किए गए हैं। इन कालों के लिखने में जिस दृष्टि-विन्दु से इतिहास प्रकाशित किया गया है उसके लिए उप-सभा उत्तरदायी है। मैं पं० चमूपति जी का कृतज्ञ हूं कि उन्हों ने सारा विषय लिख कर, सभा को सभा-इतिहास प्रकाशित करने में बड़ी सहायता दी है।

गुरुकुल का इतिहास प्रो० सत्यकेतु जी ने लिखा है। पं० सत्यकेतु जी तो हैं ही ऐतिहासिक। उनको तो एक मौलिक इतिहास लिखने के लिए मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। भारतवर्ष में यदि एक दर्जन सुप्रसिद्ध ऐतिहासिकों की नामावली तय्यार की जाय तो उनका स्थान पहले छः में अवश्य होगा। फिर गुरुकुल के वह सुयोग्य स्नातक हैं, उनके लिए इससे बढ़ कर गौरव की क्या बात हो सकती है कि वह अपनी मातृ संस्था का इतिहास लिखकर मातृ-ऋण को अंशतः चुकाएं। ऐसे प्रसिद्ध और लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ का अधिक परिचय देना मेरे लिए धृष्ठता की बात होगी।

परिशिष्ट भाग पं० विश्वनाथ जी एम. ए. ने लिखा है। मैं उनका सभा की ओर से धन्यवाद करता हूँ।

अन्तरंग सभा द्वारा नियत उपसभा ने इस तैयार किए हुए इतिहास को संशोधित तथा परिवर्धित रूप में मुद्रित कराकर प्रकाशित किया है। मैं सभा की ओर से इनका भी धन्यवाद करता हूं।

सभा की ओर से प्रकाशित इतिहास में प्रकट किए गए विचारों के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में एक दो शब्द लिखने अप्रासंगिक न होंगे। सभा की अपनी नीति और अपने मन्तव्य तो वे ही हैं जो समय-समय पर स्वीकृत किए गए उसके प्रस्तावों में अंकित हैं। अनेक बार सभा की ओर से प्रकाशित पुस्तकों में इस बात पर प्रकाश डाला जाता रहा है। बहुत देर हुई श्रीयुत रायबहादुर ठाकुरदत्त जी धवन ने "वैदिकधर्म प्रचार" नामक एक पुस्तक उर्दू में लिखी थी। उक्त पुस्तक सभा की ओर

से प्रकाशित की गई थी। उसकी भूमिका में इन्होंने स्वयं लिख दिया था कि उसमें जो भी विचार प्रकाशित किए गए हैं उनका उत्तरदायित्व लेखक पर है सभा पर नहीं। जब सभा ने गुरुकुल के संचालन का निश्चय किया था और उसके नियमों और पाठ विधि को स्वीकार करके छपवा। गया था तो उनकी भूमिका लाला रलाराम जी ने लिखी थी। उस भूमिका में साफ़ लिखा दिया गया था कि सभा का उत्तरदायित्व केवल गुरुकुल के नियमों और पाठविधि के लिए ही है। उनके सम्बन्ध में जो प्राक्कथन ला. रलाराम जी का है उसका उत्तरदायित्व केवल उन्हीं पर है। इसी भांति पीछे आकर जब कन्या गुरुकुल की स्थापना सभा ने की तो सभा द्वारा स्वीकृत उसकी पाठविधि वो मेरी भूमिका के साथ प्रकाशित किया गया था। उस भूमिका में भी स्पष्ट कर दिया गया था कि सभा केवल स्वीकृत पाठविधि के लिए ही उत्तरदायी है, भूमिका में प्रकाशित विचारों के लिए नहीं। इस लिए प्रस्तुत पुस्तक के विचारों का उत्तरदायित्व भी लेखकों पर है। हाँ यह ठीक है कि सभा अपनी ओर से ऐसी पुस्तक प्रकाशित नहीं कर सकती जिसका दृष्टि-कोण तथा प्रवृत्ति सभा की स्वीकृत तथा उद्घोषित नीति से प्रत्यक्ष रूप से विपरीत हो, और जिसमें अनुचित वैयक्तिकचर्चा तथा कटाक्ष हों। इतिहास-उपसभा ने इसी दृष्टि से तैयार किए गए सभा-इतिहास में परिवर्तन तथा संशोधन किए हैं।

इस पुस्तक में अजमेर निर्वाण अर्द्ध-शताब्दी महोत्सव का वर्णन नहीं। आपका यह अर्द्ध-शताब्दी महोत्सव १९३३ में हुआ। इस अवसर पर एक आर्य महासम्मेलन हुआ जिसका प्रधान मैं था। उसमें कई महत्व-पूर्ण और

ऐतिहासिक निश्चय हुए जिनमें से एक यह था कि कोई मांसाहारी आर्य सभासद नहीं बन सकता, और यह मांसाहार सदाचार नहीं किंतु कदाचार है। इस सम्मेलन में भारतवर्ष और बृहत्तर भारत की समाजों के सहस्रों सदस्य उपस्थित थे। और यह प्रस्ताव इतने प्रबल बहुपक्ष में स्वीकार हुआ है कि उस बहुपक्ष को सर्वसम्मति ही कह सकते हैं। अब इस प्रस्ताव का भाव आर्यसमाज के उपनियमों का भाग बन गया है। इस सम्मेलन में भी सैकड़ों बल्कि हजारों पंजाब के आर्य समाजी सम्मिलत हुए।

पुस्तक में कहीं-कहीं कोई साधारण भूलें रह गई हैं यथा मा० आत्माराम जी ने अमृतसर में जो स्कूल खोला था उस का नाम भ्रातृ हाई स्कूल नहीं बल्कि पंजाबी हाई स्कूल था।

इस इतिहास में कुछ एक बातें रह गई हैं, उन पर प्रकाश डालना आवश्यक है। आर्य विद्या सभा का आन्दोलन गुरुकुल के प्रस्ताव के स्वीकार होने मात्र से प्रारम्भ हो गया था। इस आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास, इतिहास के विद्यार्थी के लिए बड़ा मनोरंजक है। उसका क्रमबद्ध संक्षेप हम यहां इस उद्देश्य से देते हैं कि एक तो आर्य प्रतिनिधि सभा के इतिहास का वह एक बहुत आवश्यक अंग है और दूसरा इसलिए कि विद्या सभा के लगभग सारे प्रस्तावों की तह में यह विचार काम कर रहा था कि शिक्षा-सस्था का प्रबन्ध सभा के शिक्षा-विज्ञ सदस्यों के हाथ में होना चाहिए, अन्तरङ्ग सभा के नहीं क्योंकि उसका चुनाव प्रचार-प्रबन्ध की योग्यता और अन्य इसी प्रकार की योग्यताओं की दृष्टि से होता है। जब अन्तरङ्ग सभा की रचना के नियम बनाए गए थे उस समय सभा के

पास कोई शिक्षा-संस्था न थी। उसके पास केवल प्रचार कार्य था और प्रचार कार्य भी इतना महत्त्व-पूर्ण कार्य है कि उसका संचालन अपने आप एक प्रबन्ध सभा की सारी शक्ति की अपेक्षा रखता है। राय ठाकुरदत्त जी ने अवश्य "वैदिक धर्म प्रचार" नामक पुस्तक में यह स्थापना की थी कि साधारण शिक्षा आर्य सामाज का काम नहीं है। आर्य समाज के नियमों में जो विद्या शब्द आया है उसके भी उन्होंने और अर्थ किए। वह पुस्तक बड़ी विचार पूर्ण है और विद्वान् लेखक के बुद्धि-चातुर्य्य को जतलाती है। किन्तु वह विचार सभा ने कभी अपनाया नहीं, केवल उनकी वेद-प्रचार की स्कीम को अपनाया था, हां यह ठीक है कि उस समय उस विचार की चर्चा बहुत थी। और यह मानना ही चाहिये कि यह विचार उनके मस्तिष्क की उपज है। किन्तु गुरुकुल के खुलने के पीछे वह दब गया। वह धर्म सभा (आर्य समाज) से भिन्न और एक संस्था चाहते थे जिसमें देश के भिन्न-भिन्न धार्मिक विचार रखने वाले लोगों का स्थान हो। किन्तु गुरुकुल की स्थापना के प्रस्ताव की सभा द्वारा स्वीकृति के पीछे जिस विद्या सभा के निर्माग के लिए सभा में सन् १९०० में आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और जो १९२३ में सफलता-पूर्वक समाप्त हुआ उसका उद्देश्य धर्म सभा (आर्य समाज) के अन्तर्गत ही एक विद्या सभा का निर्माग करना था ताकि शिक्षा संस्था का प्रबन्ध अधिक सुगमता से हो सके। गुरुकुल की स्थापना का प्रश्न ही जब ९ जून १९०० को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अन्तरङ्ग सभा में प्रस्तुत हुआ तो राय पैड़राम जी ने प्रस्ताव किया कि गुरुकुल के प्रबन्ध के लिए आर्य विद्या सभा स्थापित की जावे जिस का चुनाव आर्य प्रति-

निधि सभा पञ्जाब किया करे और जो आर्य सभासद उक्त सभा के संगठन में सम्मिलित हों वही उस में लिए जा सकें। यह प्रस्ताव साधारण अधिवेशन में भेजा गया। १९०३ के साधारण अधिवेशन में प्रस्ताव पर विचार करने के लिए एक उपसभा बनाई गई। फिर १९०४ के गुरुकुलोत्सव पर एक सम्मेलन बुलाया गया। उस सम्मेलनके प्रधान ला० रामकृष्ण जी थे और सदस्यों में प्रो०शिवदयाल, तथा मैं भी था। उसमें जो संगठन पास हुआ उसमें भी २० में से १७ आर्य सभासद ही रखे गए और उनका भी वार्षिक चुनाव साधारण सभा में ही करना था। द्रव्य भी सभा के पास ही रहना था। यह वर्णनीय बात है कि इसके पश्चात् माहत्मा मुन्शीराम जी ने अन्तरङ्ग सभा में जब यह पेश किया कि विद्या सभा बनाकर गुरुकुल सम्बन्धी सम्पत्ति उसके सुपुर्द करदी जावे तो अन्तरङ्ग सभा के इस प्रस्ताव पर दो बैठकों में विचार करके इसको अस्वीकार कर दिया गया। तत्पश्चात् गुरुकुल के एक उत्सव के उवसर पर महात्मा मुन्शीराम जी की अध्यक्षता में एक सम्मेलन हुआ। उसने भी सभा की आर्थिक आधीनता में ही आर्य विद्या सभा के संगठन निर्माण की सिफ़ारिश की। १९२१ में एक प्रस्ताव स्वीकार हुआ जिस में आर्य विद्या सभा बनाने की ओर निर्देश और उस संगठन में आर्य प्रतिनिधि सभा की सम्पत्ति केवल वेद विद्यालय को बतलाया गया। किन्तु १९२३ में जब नई साधारण सभा का पहिला अधिवेशन हुआ और इस विद्या सभा के संगठन का प्रश्न उपस्थित हुआ तो सभा ने आर्य सदस्यों को ही (और उनमें से भी ¾ आर्य प्रतिनिधि सभा के सदस्यों को ही) विद्या सभा में रखना स्वीकार किया और फिर

जब १९३५ में एक नई साधारण सभा की आयोजना हुई जिस में उपस्थिति इतनी थी जितनी सभा के इतिहास में कभी नहीं हुई और जिसने १९२३ के प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत किया तो स्नातकों और संरक्षकों तक के प्रतिनिधियों का निर्वाचन भी सभा ने अपने हाथ में रक्खा, यद्यपि उन लोगों के लिए भी न्यून से न्यून आर्य सभासद होने की शर्त पहिले से ही थी और विद्या सभा के मैम्बरों के लिए संध्या, अग्निहोत्र, यज्ञोपवीत, इत्यादि धार्मिक शर्तें भी लगा दी गई हैं।

आर्यसमाज का भविष्य क्या होगा उसके विषय में मेरा लिखना शोभा नहीं देता, क्योंकि आर्य समाज का भविष्य जिसका निर्माण क्षण-क्षण में हो रहा है उसमें लेखक के तुच्छ प्रयत्नों का भी कुछ भाग है। अपितु घटनाओं का प्रवाह यह सूचित करता है कि आर्यसमाज के जो मुख्य दल हैं उनके नेताओं में अब विचार-भेद अधिक नहीं रहा। महा० हंसराज जी ने स्पष्ट ही घोषणा कर दी है कि ऋषि दयानन्द का सिद्धान्त यह था कि मांस-भक्षण वेद विरुद्ध है, और ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त आर्यसमाज के सिद्धान्त हैं। रा० ब० मूलराज अब महा० हंसराज के ऐसे कट्टर विरोधी हैं जैसे कि किसी समय मा० दुर्गाप्रसाद और महा० मुन्शीराम के थे। परन्तु भेद यह है कि अब उनके साथ कोई दल नहीं है। वे बिना सैनिकों के सेनापति हैं। या यूं कहें कि उनकी सेना में सब अफ़सर अफ़सर ही हैं, साधारण योद्धा कोई नहीं। शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल ने अपना स्थिर स्थान बना लिया है और गुरुकुल में वेद-वेदांग का स्थान दिन-ब-दिन बढ़ रहा है।

गुरुकुल की उपयोगिता को दोनों दल स्वीकार करते हैं। डी० ए० वी० कालेज की कमेटी महा० हंसराज के नेतृत्व में डी० ए० वी० कालेज के समयोचित परिवर्तन करने की चिंता में हैं। और डी० ए० वी० स्कूलों में संस्कृत हिन्दी की मात्रा बढ़ाने के लिए सफल आन्दोलन हो रहा है। सम्भव है कि भगवान् के आशीर्वाद से यह दोनों मुख्य दल किस दिन एक हो जायँ। रा० ब० मूलराज के विचार क मनुष्य इस समय दोनों दलों में विद्यमान हैं, और हो सकता है वे इकट्ठे होकर एक मृत-प्राय संगठन बना लें, क्योंकि जीवित संगठन का आधार दृढ़ विश्वास होते हैं न कि संदेहात्मक और खण्डनात्मक उक्तिएँ।

गत पचास वर्षों का इतिहास पाठकों के हाथों में जा रहा है। पाठक अर्द्ध-शताब्दी के इस उपहार को स्वीकार करें। इसके पृष्ठों में विद्वान् लेखकों की कुशल लेखनी द्वारा लिखे गये चित्रों को देख कर ज्ञानवृद्धि के साथ ही साथ साहित्यिक आनन्द का भी अनुभव करें।

अन्त में मैं परम पिता परमात्मा से हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि हम आर्यों को ऐसा बल दें कि हम आर्य समाज के स्वर्णीय भूतकाल का स्मरण करते हुए आर्य समाज के भविष्य को अधिक से अधिक उज्ज्वल तथा निर्मल बनाने के लिए यत्नशील हों।

रामदेव

प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

गुरुदत्त भवन, लाहौर
२५ चैत्र, १९९२.

पंजाब म ऋषि का पदार्पण

१८७७ में देहली में महारानी विक्टोरिया को भारत की राजराजेश्वरी उद्घोषित करने का दर्बार हुआ। जहाँ सब ओर राजाओं के प्रासादों से शामियाने अपनी राजसी आन-बान की प्रदर्शिनी कर रहे थे, वहीं एक ओर स्वामी दयानन्द का सादा-सा तम्बू अपनी लजीली सरलता से आते-जाते का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। ऋषि के निवास के स्थान में एक सर्व-धर्म सम्मेलन का आयोजन किया गया था। उस में उस समय के भारत के सभी धार्मिक सुधारक निमन्त्रित थे। इन सुधारकों में लुधियाने के मु० कन्हैयालाल अलखधारी भी थे। मुन्शी जी पहिले किसी सरकारी न्यायालय में फ़ौजदारी विभाग के मुन्शी रह कर अपने बुढ़ापे के दिनों में समाज-सुधार के कार्य में प्रवृत्त हो गये थे। "नीति-प्रकाश" नाम के पत्र में इन के लेख निकला करते थे। पीछे इन लेखों को इन्होंने "कुलियात-इ-अलखधारी" नामक ग्रन्थ में संगृहीत कर पुनः प्रकाशित किया।

आर्य जाति को उन दिनों समाज-सुधार की बड़ी आवश्यकता थी। किसी भी जाति के अधःपतन का कारण उस का सामाजिक विकार ही होता है। जब किसी समाज की रूढ़ियां मानव-समुदायों में परस्पर

अन्याय तथा अत्याचार का कारण बन जाती हैं तो उस समाज की उन्नति रुक कर अवनति होने लगती है। आर्य जाति में स्त्रियों पर, अनाथों पर, अछूतों पर विधवाओं पर, बालाओं पर अनेक प्रकार के अत्याचार हो रहे थे। उस समय समाज-सुधार का अर्थ था इन दुःखी समुदायों के पक्ष में आवाज़ उठाना। बंगाल में राजा राममोहनराय ने यह आवाज़ उठाई थी। पञ्जाब में सिख गुरुओं ने वह सुधार किया था। परन्तु फिर भी देश के कोण-कोण से "त्राहि माम् त्राहि माम्" की आर्त-ध्वनि उठ रही थी। कन्हैयालाल अलखधारी के लेखों में यह ध्वनि कहीं क्रन्दन का, कहीं कठोर भर्त्सना का, कहीं शाप का, कहीं श्मशान के से अट्टहास का रूप धारण करती है। सभी अत्याचार धर्म के नाम पर हो रहे थे। इन का उपाय धर्म-सुधार था। वेदों शास्त्रों की रट लगाने वाली जाति वेदों शास्त्रों ही के नाम पर ध्यान दे सकती थी। कोरी युक्ति, कोरे तर्क के तीर श्रद्धा की चिकनी चट्टान पर पड़ कर झट फिसल जाते थे। पञ्जाब का अलखधारी भारत के अन्य सुधारकों की प्रतिध्वनि था। वह सब के कथन पर स्वतन्त्रता-पूर्वक विचार कर सभी सुधारकों के लिए समान आदर के भाव प्रकट करता था। उसके 'कुल्लियात' में ऋषि दयानन्द की ओर इन शब्दों में संकेत किया गया है:—

'जो हिन्दू अपने आप को प्राचीन शास्त्रों का भक्त रखना चाहते हैं वे अगर किसी को गुरु बनाना चाहें या किसी से किसी समस्या का समाधान करने के इच्छुक हों या किसी से उपदेश चाहें या किसी की वक्तृता सुनना चाहें, केवल एक दयानन्द सरस्वती है।"

मकाला ६०, बाब ३, पृ० ५६२

"हिन्द को चौबीस करोड़ मनुष्यों में सिवाय स्वामी दयानन्द सरस्वती के एक को '.........

"जिस को इस कथन पर सन्देह हो वे स्वामी जी को लिख कर भेजें कि आप प्रमाण दें" ।

मकाला० ६, पृ० १४

अलखधारी के लेखों द्वारा पंजाब का पठित समाज धीरे-धीरे ऋषि दयानन्द के विचारों की ओर आकर्षित हो रहा था । अलख-धारी की बात युक्ति-युक्त तो थी परन्तु उस के नीचे शास्त्र का आधार नहीं था । शास्त्र के लिए वह हमेशा ऋषि की ओर संकेत कर देता था । चुपके-चुपके इस दूर-पड़े प्रान्त के हृदय में ऋषि के दर्शनों की उत्सुकता जागृत हो रही थी । इस उत्सुकता का उदय अमीर-ग़रीब सब के हृदयों में एक-साथ हो रहा था । पेशावर का सार्जेंट अलखधारी के लेखों द्वारा खिंचा अजमेर गया और

मु० कन्हैयालाल अलखधारी

उसी दिन से मानो ऋषि की वेदि पर बलिदान हो गया। जलन्धर के राजा विक्रमसिंह और सर्दार सुचेतसिंह ने बम्बई तथा देहली में ऋषि का दो बार साक्षात्कार किया और रईस-समुदाय की ओर से ऋषि को पंजाब में पदार्पण करने का निमन्त्रण दे आये।

१९ मार्च १९७७ को पंजाब के भाग जागे। शुतुद्री और विपाट् के मैदानों में एक नये विश्वामित्र का शुभागमन हुआ। नदियाँ झुक गईं। ऋषि का शकट हो कर सारे पंजाब की यात्रा कर स्थान स्थान को सनाथ करने लगा। इस सनाथता का सौभाग्य सब से पूर्व अलखधारी के निवास-नगर लुधियाने को प्राप्त हुआ वहाँ रामशरण नाम का ब्राह्मण ईसाई हो चुका था। वह ईसाई स्कूल में पढ़ाता था ऋषि ने उसे आर्य धर्म में वापस लिया। ऋषि को उपदेश-गंगा में नर-नारी स्नान कर रहे थे। एक दिन देवियाँ अकेली आईं और उन्होंने उपदेश की याचना की। ऋषि ने अपना अभ्यस्त उत्तर दे दियाः—पुरुष पुरुषों को ही उपदेश कर सकते हैं। तुम्हें उपदेश चाहिए तो अपने पतियों को भेजो। संन्यासी का उपदेश तुम्हें साक्षात् नहीं, उन्हीं के द्वारा पहुँच सकता है।

१९ एप्रिल को ऋषि लाहौर पधारे। पहिले बावली साहेब, फिर ब्राह्म मन्दिर, फिर रत्नचन्द के बाग़ और अन्त में डा० रहीमखाँ की कोठी में डेरा हुआ। व्याख्यान का प्रबन्ध भी डेरे के साथ ही किया जाता था। परिव्राजक मानो हवा के घोड़े पर सवार था। उसे टिक कर कौन बैठने देता था? जिस के यहाँ ठहरे, उसी के मत का खण्डन कर दिया। पूछा

तो कहते हैं—साधु के पास सत्य के सिवाय क्या है जो वह दे ? कोठी वालों के उपकार का प्रत्युपकार वे-लोग सत्यता द्वारा किया जा रहा था। उपकारी उपकार करते थे पर प्रत्युपकार की ताब नहीं ला सकते थे। सत्य महँगा था, कोठियाँ सस्ती। या कोठियाँ महँगी थीं, सत्य सस्ता। सौदा पटने में ही नहीं आता था। स्थित-प्रज्ञ साधु कैसी स्थित-प्रज्ञता से इधर उधर भटक रहा था ? रोज़-रोज़ का यही भटकना उस की समाधि थी।

२४ जून १८७७ को डा० रहीमखाँ की कोठी में लाहौर समाज की स्थापना हुई। हवन हुआ, उपासना हुई, उपदेश हुए। मन्त्री शारदाप्रसाद भट्टाचार्य के मिष से आर्य समाजियों ही को उपदेश का अधिकार दे दिया गया। यह परिपाटी स्वयं ऋषि ने चला कर आर्य-मात्र को मानो वेद का उपदेशक बना दिया। समाज के वर्तमान नियम उसी पवित्र दिन से प्रचलित किये गये। १ जुलाई को ऋषि का व्याख्यान सत्सभा में हुआ पर वह सभा भी बहुत देर समाज का भार नहीं उठा सकी। भट्टाचार्य महाशय ने प्रस्ताव किया कि ऋषि को समाज का परम सहायक बनाया जाय। ऋषि ने पूछाः—ईश्वर को क्या बनाओगे ? परम सहायक तो वही है। दयानन्द को समाज के सहायकों में रख लो। सहायक के नीचे कोई और स्थान होतो तो ऋषि सम्भवतः वही स्वीकार करते।

उस समय के पत्र इण्डियन मिर्रर में २१ अक्तूबर १८७७ को ब्राह्म समाज के उत्सव में ऋषि के पधारने का उल्लेख मिलता है। उनके साथ उस समय दो-तीन सौ अनुयायियों का समूह बताया गया है। इस से ऋषि के प्रचार की कृतिकार्यता का अनुमान हो सकता है। छः मास के

अन्दर-अन्दर इतना बड़ा समुदाय ऋषि का अनुचर बन चुका था।

६ नवम्बर १८७७ की अन्तरंग सभा में उपनियम स्वीकार किये गए। सभासदों ने किसी विषय में ऋषि की सम्मति पूछी। ऋषि ने उत्तर दियाः—मैं अन्तरङ्ग सभासद नहीं हूँ। सामाजिकों के लिए यह पाठ विनय का था या आत्म-निर्भरता का? ऋषि की निर्भयता का इससे और अधिक प्रमाण क्या हो सकता है।

ऐसे ही ८ मई ७८ की अन्तरंग सभा में इन्हें प्रधान का आसन पेश किया गया तो इन्हों ने कहाः—मैं प्रधान नहीं हूँ। ऋषि समाज के क्या थे? परम-सहायक नहीं, अन्तरंग सभासद नहीं, प्रधान नहीं। ऋषि के द्वारा दी गई प्राणायाम तथा उपासना की शिक्षा-दीक्षा का उल्लेख भी मिलता है यह भी लिखा है कि गणपतिराय के एक सज्जन को विवाह करने से इन्होंने यह कह कर रोका कि तेरी आयु ३० वर्ष से अधिक नहीं होगी। जब २८ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई तो वह ऋषि के वचन की अपने द्वारा की गई अवज्ञा पर पछताता था। ऋषि आध्यात्मिक अनुभूति के पुरुष थे। उसी के प्रचार के लिए उन्होंने समाज की स्थापना की संघटन का ढाँचा इस शिक्षा-दीक्षा का शरीर था। ऋषि उस शरीर में विद्यमान तो थे पर आत्मवत्, स्वयं उसका अंग नहीं बने। उनका काम था प्रचार जिसका परिणाम यह था कि मूर्तियों के ढेर के ढेर रावी के अर्पण भी हो रहे थे, गली बाज़ार मे भी फेंके जा रहे थे।

सरदार दयालसिंह मजीठिया के प्रबन्ध से अमृतसर पधारे। १२ अगस्त १८७७ को मियाँ जान मुहम्मद की कोठी में आर्य समाज

की स्थापना की । मिशन स्कूल के कुछ छात्र ईसाई हुआ चाहते थे । ऋषि के उपदेश से वे इस अनिष्ट से बच गए । ईसाइयों ने पादरी खड्गसिंह को बुलाया कि ऋषि से शास्त्रार्थ करे । उसे ईसाई हुए बारह वर्ष हो चुके थे । ऋषि के स्थान पर पहुँचते ही वह उन के पक्ष का समर्थन करने लग गया और झट आर्य धर्म में लौट आया । डा० ज्ञानसिंह मिशन स्कूल में काम करता था । उसे पुनर्जन्म के विरुद्ध बोलने के लिए कहा गया । उसने झट त्याग-पत्र दे दिया और आर्य-धर्म का प्रचार करने लगा । जहाँ विधर्मियों के विरुद्ध यह सफलताएँ थीं, वहाँ सनातनियों की ओर से घोर विरोध भी था । व्याख्यानों का स्वागत ईंट-पत्थरों से होता था, छोकरों को सिखा दिया जाता था कि इस बाबा पर लाठी का प्रहार करो । एक लड़के ने ऐसा किया । बाबा रुक गये । उन्हों ने इस बिना कारण के आक्रमण का कारण पूछा । लड़के बोलेः—हमें लड्डू मिलेंगे । इन्हों ने लड्डू स्वयं ले दिये और कहा: —लो ! और मार लो । लड़के कोई बाहों में, कोई टांगों में—सब इनके शरीर को चमट गये । बाबा यथार्थ रूप में बाबा बन गया । "आर्योद्देश्यरत्नमाला का निर्माण इसी अमृतसर में हुआ । आगे के व्याख्यानों के विषय हा क्रम-पूर्वक इसी रत्नमाला के रत्न होते थे ।

गुरुदासपुर में डा० विहारीलाल असिस्टंट सर्जन थे । उन्हों ने अपने भाई को गाड़ी सहित भेज कर यहाँ के लिए निमन्त्रण दिया । वहाँ मूर्ति-पूजकों का रौला तो था ही । एक दिन मिस्टर काक इंजनियर ऋषि के व्याख्यान में खड़े थे । ऋषि ने कहा:—अँग्रेज़ों ने यहाँ आ कर भारत को

भाषा का उच्चारण भी तो नहीं सीखा। और तो और "तुम" को 'टुम' कहते हैं। इस पर साहब बहादुर बिगड़ गए। कहा:—पेशावार जाओ तो पता लगे।

इस घटना का उल्लेख यह दिखाने को किया गया है कि पाठकों को ऋषि के विरोध के स्रोतों का अनुमान हो सके। ऋषि के विचार में अँग्रेज़ों को भारत की भाषा आनी चाहिए। इन्हें इस भाषा को बिगाड़ना नहीं, सीखना और अपनाना चाहिए। यह कहते साहब बहादुर रुष्ट हो गए।

ऋषि के व्याख्यानों के विषय उन दिनों मूर्ति-पूजा, गो-रक्षा, पुनर्जन्म, श्राद्ध, भारत वर्ष की प्राचीन अवस्था आदि होते थे। २४ अगस्त को गुरुदासपुर में आर्य समाज स्थापित हो गया।

जलन्धर के राजा विक्रमसिंह तथा स० सुचेतसिंह पहिले से ही ऋषि के भक्त थे। ११ सितंबर १८७७ को ऋषि जलन्धर पधारे। लखनऊ में उन दिनों उपद्रव हुआ था। कुछ अँग्रेज़ों की हत्या का बदला अनेक देसियों के वध द्वारा लिया गया था। ऋषि ने इसपर कहा:—यह अन्याय राज्य को ले डूबेगा। किसी देसी की मृत्यु किस गोरे के हाथों हो जाय तो उसे हत्यारे को शराबी कह कर छोड़ दिया जाता है। ऋषि ने कोई ऐसा समाचार सुना था। उस पर भी वही रोष प्रकट किया।

भूत-प्रेत के प्रतिकार के लिए मन्त्रों का अनुष्ठान के सम्बन्ध में ऋषि ने कहा:—एक मक्खी को इस मंत्र से हटती नहीं, भूत-प्रेत क्या हटेंगे। ऐसे ही तिलक के विषय में हँस कर बोले:—पोलीस का सिपाही इससे तो कभी डरा नहीं, डरेंगे यम-दूत? यह मीठा हास्य रस व्याख्यानों का मनोरंजन भी बन जाता था, प्रभाव भी गहरा करता था।

किसी ने प्रश्न कियाः—क्या सचमुच अथर्ववेद विवाह के समय स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गीतों ही का नाम है ? ऋषि ने अथर्ववेद निकलवा कर दिखाया। कई अन्य स्थानों पर भी ऋषि ने जनता को वेद के दर्शन कराये थे। अपने धर्म के सम्बन्ध में हमारे अज्ञान का कोई ठिकाना था ? विवाह के गीत और वेद ? उस समय के "ब्राह्मण" का वेद क्या था ? वेद का भौतिक दर्शन भी तो हमें ऋषि ने ही कराया ?

एक दिन गंगा के माहात्म्य का खण्डन करते हुए अमृतसर के दर्बार साहेब के तालाब की भी आलोचना कर दी। सर्दार साहब बोलेः—हम पर भी ? ऋषि ने कहाः—व्याख्यान में बे-लाग सत्य ही कहा जाता है। यह दूसरे शब्दों में लाहौर की घटनाओं की पुनरावृत्ति थी।

२५ सितम्बर को स्वामी जी का मौ० अहमदहसन से "करामात (चमत्कार)" तथा "पुनर्जन्म"—इन दो विषयों पर लिखित शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ को "फ़क़ीर मुहम्मद मीर्ज़ा मुवाहद" ने प्रकाशित करा दिया। भूमिका में ये महाशय लिखते हैं कि 'स्वामी जी की तरफ़ से यह भी एलान हुआ कि कोई साहेब इस गुफ्तगू के खत्म होने पर हार-जीत तस्सव्वुर करे। अगर करेगा तो मुतअस्सिब और जाहिल तस्सवुर होगा क्योंकि यह मसाइल ऐसे नहीं कि दो तीन गुफ्तगू में इन का तसफ़िया हो जाय हार जीत मुतसव्विर हो।............ बाद ख़त्म होने गुफ्तगू के जो मौलवी साहेब की तरफ से खिलाफ़ अमल आलिमाना एक फेल सरज़द हुआ, ब-नज़र इन्साफ़ उसका भी ज़ाहिर

कर देना मुनासिब है और वह यह है कि बाद तमाम होने गुफ्तगू के मौलवी साहिब ख़ानकाह इमाम नासिरुद्दीन के दर्वाजे पर गए......
......और जुहला-इ-अवाम जो मुर्ग और लाल बटेर और अगन वगैरा की लड़ाई के आदी और हार-जीत की शुहरत के शाइक हैं। उन्हों ने मौलवी साहेब को बाज़ी-याफ्ता क़रार दिया और घोड़े पर चढ़ा कर शहर के गली-कूचों में खूब फिराया। मगर ख़ास वज़ादार और मुहज़्ज़ब आदमियों ने इसे नापसन्द किया।"

एक मुसलमान सज्जन के इन शब्दों से, जो उनकी अपनी भाषा में ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिए गए हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि की दृष्टि में शास्त्रार्थ का स्वरूप कितना ऊँचा और उदात्त था। वे धार्मिक वाद-विवाद को हार-जीत का विषय बनाने के विरुद्ध थे। उनके विचार में इन गम्भीर प्रश्नों का समाधान एक दो संवादों में हो ही नहीं सकता था। गम्भीर धार्मिकता की अंतिम तार्किक दृष्टि यही है।

२६ अक्तूबर को ऋषि फिर शिक्रम ही की सवारी से फ़ीरोज़पुर पहुंचे। इसका प्रबंध ला० मथुरादास सुपर्वाइज़र पब्लिक वर्क्स ने किया। उन्हों ने ऋषि के ठहरने के लिए उन्हीं दिनों एक नया भवन तैयार कराया। ऋषि भक्ति की यह पराकाष्ठा थी परंतु यहाँ भी निस्स्पृहता का कमाल था ऋषि वहाँ उतरते ही नहीं। वह भवन शहर में था और ऋषि सब जगह शहर के बाहर उतरा करते थे। फ़ीरोज़पुर में इनके पधारने से पूर्व हिंदू सभा विद्यमान थी। अब उसी का नाम परिवर्तित कर आर्य समाज रख दिया गया।

७ नवम्बर से दिसम्बर के अन्त तक ऋषि का निवास रावलपिण्डी में रहा। पहिले जामसन जी की कोठी में उतरे फिर सरदार सुजानसिंह की कोठी में चले गये। कारण यही गृह-स्वामियों की असहिष्णुता। यहाँ भी समाज की स्थापना हो गई। रावलपिण्डी में सम्पत्गिरि नाम के इनके एक पुराने सहपाठी रहते थे। उनसे इनकी खूब घुल-मिल कर बातें हुईं। उन्होंने लोगों से कहा कि ये बड़े विद्वान् हैं। लोगों ने उनसे शास्त्रार्थ के लिए कहा पर वे नहीं माने। स्वयं ऋषि ने कहा तो भी नहीं माने। "फ़क़ीरों का युद्ध" दिखाने को वे तैयार नहीं हुए, नहीं हुए।

जेहलम में एक बूढ़े महात्मा से ऋषि ने संस्कृत में वार्तालाप किया। वे एक योगी थे। दरिया के किनारे रहते थे। दो योगियों का प्रेम-पूर्ण वार्तालाप देखने योग्य था। जेहलम में भी बहुत शीघ्र समाज स्थापित हो गया। ऋषि जाने के लिए गाड़ी पर बैठे ही थे कि पं० द्वारकानाथ ने एक नये सभासद का प्रार्थना पत्र मन्त्री के हाथ में दिया। ऋषि गाड़ी से उतर आये। द्वारकानाथ को बग़ल में लेकर आशीर्वाद दिया और कहा:—तुम जैसों से मुझे बड़ी आशा है। आर्य परिवार को बढ़ाता देख ऋषि का रोम-रोम प्रसन्न होता था। आर्य समाज के प्रसिद्ध गायक महता अमीचन्द का काया-कल्प ऋषि के कृपा-कटाक्ष ही का परिणाम था। यह काया-कल्प उन्हीं दिनों हुआ।

गुजरात में स्वामी जी के व्याख्यान में खूब ईंटों की वर्षा होती थी। सभ्य लोग शरीरों को पकड़वाना चाहते थे पर स्वामी जी हंसते हुए कह

देते थे—यह लोग पागल हैं। पागल को दण्ड क्या देना? इन्हें और अधिक उपदेश देना चाहिए।

वज़ीराबाद में यह पुण्य-वर्षा इतनी बढ़ी कि व्याख्यानों का हो सकना ही असम्भव हो गया। स्वामी जी का लेखक नीचे उतरा तो लोगों ने उसे पीटा। ज्यों ही ऋषि के पास यह समाचार पहुंचा उन्होंने अपना डंडा घुमाया। वे नीचे आया ही चाहते थे कि फ़सादी भाग गए। किसी ने अभियोग का परामर्श दिया पर स्वामी जी ने नहीं माना। कहा—हमारा धर्म क्षमा कर देना है। यहां स्वामी जी राजा फकीरुल्लाह की कोठी पर ठहरे थे।

७ फ़रवरी को गुजराँवाले पधारे। यहीं एक व्याख्यान में हाथ उठा कर ऋषि ने कहा था कि कोई बल का धनी इसे नीचे कर दिखाए। श्रोतृवृन्द में कई पहलवान भी विद्यमान थे। परन्तु किसी को आने का साहस नहीं हुआ।

यहां की वार्ता है कि भगवद्दत्त नामक एक पुजारी को महाराज के उदेश सुनने का इतना चाव चढ़ गया था कि वह मूर्त्तियों की समय से पहिले ही आरती करके व्याख्यान सुनने चला जाया करता था। जब महाराज गुजरांवाला से चलने लगे और रेल में बैठ गए तो पुजारी ने छिप कर मिठाई की टोकरी आपकी की भेंट की। गुजरांवाला से प्रस्थान करने से एक दिन पहिले वहां आर्यसमाज स्थापित हो गया था।

४ मार्च को स्वामी जी पुनः लाहौर पहुँचे। यहाँ वे नव्वाब रज़ाअलीखां के बग़ीचे में ठहरे। ११ मार्च को उन्होंने मुसलमानी मत

की आलोचना पर व्याख्यान दिया। बगीचे के मालिक नवाब नवाज़िशअली खाँ पास ही टहल रहे थे। और उनका व्याख्यान सुन रहे थे। व्याख्यान की समाप्ति पर किसी ने उनसे कहा कि महाराज आप को न कोई हिन्दू ठहरने देता है, न ईसाई, न मुसलमान। नवाब साहब ने कृपा करके आप को यह स्थान दिया था सो यहां भी आपने इसलाम का खण्डन किया, ऐसा न हो कि नव्वाब साहब आप से अप्रसन्न हो जाएँ। ऋषि ने उत्तर दिया कि मैं यहां इसलाम वा किसी अन्य मत की प्रशंसा करने नहीं आया हूँ। मैं तो केवल वैदिक धर्म को ही सच्चा मानता हूं और उसी का उपदेश करता हूँ। मैंने देख लिया था कि नव्वाब साहब सुन रहे हैं। मैं जान बूझ कर उन्हें वैदिकधर्म के गुण सुना रहा था। मुझे परमात्मा से भिन्न अन्य किसी का भय नहीं है।

१२ मार्च को स्वामीजी मुल्तान पधारे। वहां वे ३६ दिन रहे ३५ व्याख्यान दिए। सागरचन्द इंजनीयर, जो बड़ा पक्का नास्तिक था और यह डींग मारा करता था कि मैं १४०० पुस्तकें पढ़ कर नास्तिक हुआ हूँ, जब महाराज के सम्मुख आया तो उन की युक्तियों के आगे उसकी कुछ न चल सकी। तीन दिन तक उससे वार्त्तालाप हुआ और अन्त को उसे ईश्वर की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी।

४ अप्रैल को वह आर्यसमाज स्थापित हुआ और उसके केवल ७ सभासद बने। इस पर ब्र० ब्रह्मानन्द ने हस कर कहा कि केवल ७ ही सभासद हैं। तो ऋषि ने हंस कर उत्तर दिया कि मुसलमानों के पैगम्बर

की तो केवल एक स्त्री ही सहायक थी परन्तु उसने इतनी उन्नति की और हमारे धर्म के तो सात सहायक हैं।

११ जुलाई तक ऋषि का निवास अमृतसर में रहा, तत्पश्चात् उन्होंने संयुक्त प्रांत को चलने का संकल्प किया। अमृतसर से महाराज जालंधर पधारे और वहां केवल एक दिन ठहर कर १२ जुलाई १८७८ को लुधियाना पहुँच कर ३-४ दिन वहां ठहरे। लुधियाना से अम्बाला ठहरते हुए रुड़की चले गए।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

का

इतिहास

गुरुदत्त-काल

१९४०—१९४७ वि०

१८८३—१८९० ई०

ऋषि के पश्चात्

अमावास्या तिथि ३० अक्टूबर १८८३ को ऋषि दयानन्द का देहान्त हुआ। ऋषि जोधपुर जाते हुए कह गये थे कि यदि मेरी अँगुलियों को बत्ती बना कर जला दिया जाय तो मुझे यह विचार कर प्रसन्नता होगी कि मेरे शरीर का प्रत्येक अङ्ग संसार में प्रकाश फैलाने के पुण्य कार्य में प्रयुक्त हो रहा है। दीपावली के दीप क्या ऋषि की वही जल रही अँगुलियाँ थीं? इन जलते दियों के बीच में ही ऋषि की जीवन-ज्योति विश्व-ज्योति में एकाएक विलीन हो गई। ऋषि ने अपनी इच्छा प्रभु की इच्छा के अधीन कर दी और अपनी ५९ वर्ष की उपकार-लीला को स्वयं प्रभु की लीला कह पूर्ण प्रसन्नता से उसका संवरण किया।

धार्मिक जगत् में इस घटना का विशेष महत्व है। अमेरिका के एक योगी ने ऋषि की ओर संकेत कर कहा था:—गंगा के किनारे प्रदीप्त हुई यह आग संसार-भर की कुरीतियों को भस्मसात् कर देगी। भ्रान्त विधर्मी अपनी

भ्रान्तियों के तिनकों से इस आग को बुझाने का प्रयत्न करेंगे। पर इस से आग और प्रज्वलित होगी।

थियोसोफ़िकल सोसाइटी के प्रवर्त्तक कर्नल अलकाट लिखते हैं कि ऋषि ने दो वर्ष पूर्व इस अनहोनी का ज्ञान अपने आन्तरिक चक्षु द्वारा प्राप्त कर लिया था और कह दिया था कि दो वर्ष पीछे हम इस चोले में नहीं होंगे। इस मानसिक दृष्टि ने उन के वेद-भाष्य के कार्य को अपूर्व वेग दे दिया था।

ऋषि का प्राणान्त दीपावली के दिन हुआ। उन्हों ने पूछा—कौनसा पक्ष, क्या तिथि और क्या वार है? किसी ने उत्तर दिया—कृष्ण और शुक्ल पक्ष की संधि है, अमा-वास्या तिथि और मंगलवार है। यह सुनते ही ऋषि ने कोठी के सब दर्वाज़े खुलवा दिये और गहरी साँस ले प्राण-पखेरू शरीर के पिंजरे से एकाएक उड़ा दिया।

दीपावली की शुभ तिथि वह तिथि है जिसमें जैनियों के तीर्थंकर, वेदान्तियों के प्रारम्भिक श्री शंकराचार्य, सिखों के गुरु अर्जुनदेव, और तो और, वर्तमान युग के विरक्त-शिरोमणि श्री रामतीर्थ—भारतवर्ष के ये सभी महात्मा निर्वाण-पद को प्राप्त हुए हैं। इन प्रकाशमय महात्माओं की एक अपनी दीपमालिका है। आध्यात्मिक अनुभूति के महा-पुरुषों को इन पक्षों, तिथियों तथा वारों में एक विशेष रहस्य दीखता है। ऋषि ने कहा ही तो था—"तेज और अन्धकार का भाव है।" अन्धकार हट रहा था, तेज उसका स्थान ले रहा था। कृष्ण और शुक्ल पक्ष की संधि केवल

भौतिक ही नहीं थीं। अध्यात्म के क्षेत्र में भी यही लीला खेली जा रही थी। भीष्म के समय से ले कर योगियों ने अपने मृत्यु-विजय का समय स्वयं निश्चित किया है। ऋषि ने अपने मरने की मुहूर्त पूछी थी। उन की दृष्टि में जगज्जननी की गोद में सो रहने की यह वेला पुण्य थी। योग-विद्या के आधुनिक आचार्यों ने देश-विदेश के सन्तों की आध्यात्मिक अनुभूतियों के अवसरों का तुलनात्मक अध्ययन कर प्रकृति और आत्मा की विकास-लीला का एक सुचारु समन्वय-सा करने का प्रयत्न किया है। उन के लेखों में इस पुरातन रहस्य के उद्घाटन के लिए संकेत-से मिलते हैं। हम ने इस घटना के इस पहलू का वर्णन उपर्युक्त अध्ययन में सहायता देने के लिए किया है।

ऋषि को इस अनहोनी का ज्ञान था। वे इस के लिए तय्यार थे, उत्सुक थे। उन के अनुयायियों की अवस्था इस से भिन्न थी। ऋषि बाल-ब्रह्मचारी थे। उन्हें अपने लेख के अनुसार ४०० वर्ष तो जीना ही चाहिए था। एक बाल-ब्रह्मचारी ५६ वर्ष की आयु में परलोक सिधार जायगा—इस की सम्भावना किसी को नहीं थी। कानों ने सुना, आँखों ने विश्वास नहीं किया। ऋषि की शक्ति, ऋषि की कान्ति, ऋषि का तेज, ऋषि का असीम बल—ये सब इस बात के प्रमाण थे कि ऋषि विजित-मृत्यु हैं।

पर अनहोनी हो चुकी थी। विश्वास न होते हुए भी आख़िर हुआ। न मानते हृदयों ने अन्ततः माना कि ऋषि

अब इस संसार में नहीं हैं। उद्धार का आधार-स्तम्भ टूट गया। सुधार की आशा-कलिका मुरझा गई।

एक दूरस्थ ग्राम में जहाँ आर्य समाज का नाम ही अभी पिछले दिनों ही पहुँचा है, एक अनपढ़-सा डाक-खाने का मुन्शी बिलख-बिलख कर रो रहा था। पूछने पर बोला—एक महात्मा की मृत्यु हो गई है। यार लोग हँसे। कहा—महात्मा क्या इस का बाप था? रोने वाले की आत्मा से पूछो। उस का आध्यात्मिक बाप वस्तुतः ऋषि दयानन्द था। संसार-भर की बिलख-बिलख कर रो रही आत्माओं का बाप ऋषि था।

इस दारुण समाचार का सब से पहिला प्रभाव वज्र-पात का सा था। कठोर से कठोर हृदय बैठ गये। केवल आर्य समाजी ही नहीं, सम्पूर्ण धार्मिक जगत् में इस समाचार के सुनते ही बिजली सी गिरी। संसार का "रूहानी बादशाह" चल बसा। समाज अनाथ सा रह गया।

ऐतिहासिकों का कहना है—संसार के नाथ हमेशा अनाथ हुए हैं। स्वयं ऋषि की अनाथता ने भारत को, और भारत के साथ सम्पूर्ण आध्यात्मिक जगत् को, सनाथ कर दिया था। आर्य समाजी आज उसी अनाथता की अग्नि में से गुज़र रहे हैं। कर्मण्य ऋषि के चेले झट कर्मण्यता का कवच पहन इस अनाथता की आपत्ति से लोहा लेने लगे। ऋषि का उद्देश्य था वेद-प्रचार। इसी उद्देश्य की सफलता के लिए ऋषि ने अपना तन, मन, धन—सभी कुछ न्यौछावर कर दिया था। क्या ऋषि के साथ उन का यह उद्देश्य भी

विलीन हो जायगा? आर्यों के रहते यह दुर्दशा आनी असम्भव थी।

ऋषि ने प्रचार के एक नये युग को जन्म दिया था। जो ज्ञान पोथियों के पन्नों में बंद था, उसे सर्व-साधारण की भाषा में सामान्य जनता के सम्मुख ला रखा था। पण्डित ऋषि से पहिले भी थे पर उन की बोली पण्डिताऊ थी। विद्वत्ता नाम ही इसी का था कि उसे साधारण जन समझ न सकें। देवताओं की वाणी देवता ही समझ सकते थे। काशी के विद्वान् शब्दों को घोखते थे; उन के अर्थों का न गुरु को ज्ञान था न शिष्य को। ऋषि ने अपने अन्तश्चक्षु से धर्म के मर्म को देखा और देवताओं की वाणी को अपनी ऋषि-सुलभ सरलता द्वारा मनुष्यों की वाणी बना दिया। शास्त्रार्थों में पण्डितों के पक्ष को देवता समझते थे, ऋषि के पक्ष को मनुष्य। मनुष्य ऋषि के साथ हो जाते थे, देवता पण्डितों के। मानव लोक में आर्य समाज की स्थापना हो रही थी, देव-लोक में सनातन धर्म की।

ऋषि के देहान्त के पश्चात् ऋषि के इस शस्त्र का ग्रहण कौन करेगा? यह समस्या थी। आवश्यकता आविष्कार की माँ है। विधर्मी सामने आये तो प्रत्येक आर्य समाजी ने अपने आप को दयानन्द का उत्तराधिकारी समझा। सन् १८८३ ही में जब ऋषि दयानन्द के देहावसान को अभी कुछ मास भी गुज़रने न पाए थे, कालका के मुसलमानों ने आर्यों का क़ाफ़िया तंग करना चाहा। मौ० मुहम्मद बलाल और मु० अब्दुल्ला ख़ाँ ने अपने आप को ऋषि दयानन्द का विजेता

उद्घोषित किया। आर्य समाजी उठ खड़े हुए। पं० गोपीचन्द और ला० .खुशीराम ने ऋषि का स्थान सँभाला। कोह डकूसाई के डिपुटी इन्सपेक्टर मीर बशीर हुसैन और कालका के डिपुटी इन्सपेक्टर ला० मुन्नालाल निर्णायक नियत हुए। निर्णायकों का निर्णय यही था कि पण्डितों के प्रश्नों का उत्तर मौलवियों से नहीं बना। ऋषि की आन ऋषि के चेलों ने सुरक्षित रखी।

कालका की विजय उस व्यापी युद्ध का नमूना थी जो चारों ओर आर्यों अनार्यों में हो रहा था। आर्य लड़ना सीख भी रहे थे और लड़ भी रहे थे। युद्ध विद्या का शिक्षणालय स्वयं युद्ध-स्थली थी। मौखिक शास्त्रार्थों के अतिरिक्त एक युद्ध क़लम के बल से भी लड़ा जा रहा था। थियोसाफ़िकल सोसाइटी के नेता ऋषि के शिष्य बन कर आए थे, पर थोड़े ही समय पीछे उन्हों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी। आर्य विचारक लेखनी के बल से उन पर आक्रमण कर रहे थे और वे उत्तर में मूक थे। देव समाज के भावी गुरु पं० शिवनारायण का भी पर्दा उघाड़ा जा रहा था। जिस चौमुखी लड़ाई का आरम्भ ऋषि के पुण्य हाथों से हुआ, उस का उत्तराधिकार उन के चेलों को मिला और वे उस कर्तव्य को योग्यता-पूर्वक निभा रहे थे।

इस प्रचार के परिणाम-स्वरूप जहाँ पुराने आर्य समाज बलशाली बन रहे थे वहाँ स्थान-स्थान पर नये समाजों की स्थापना भी होती जा रही थी। संन्यासी, उपदेशक, सभासद—सब पर ऋषि का सन्देश अपने चारों ओर फैलाने की

धुन-सी सवार थी। हिन्दू जनता के साथ-साथ मुसलमान, ईसाई भी आर्य धर्म की दीक्षा लेने में तत्पर हो रहे थे। ऋषि के परलोक गमन को अभी छः महीने भी नहीं बीतने पाते कि मेरठ का 'आर्य समाचार' अमृतसर में ३५ मुसलमानों तथा ईसाईयों की, रियासत राजगढ़ में अनेक मुसलमानों और रावलपिण्डी में दो मुसलमानों की शुद्धि की खबर देता है। इस के दो ही मास बाद जबलपुर के दो हिन्दू जो ईसाई हो चुके थे, फिर अपने पैतृक धर्म में आते हैं। अमृतसर में लाभसिंह अपनी पत्नी सहित पुनः संस्कार करा रहा है। फिर उन लोगों की तो संख्या ही क्या कहें जो अपने धर्म को छोड़ जाते यदि आर्य समाज के प्रभाव से उन के इस पतन का प्रतिकार न हो जाता। उस समय के समाचार-पत्र इस प्रकार की खबरें यत्र-तत्र देते चले जाते हैं।

समाजों को स्थापित होते और शास्त्रार्थों तथा शुद्धियों के समारोह रचाते तो फिर कुछ समय लगा होगा। ऋषि के देहावसान के नवें ही दिन ८ नवम्बर १८८३ को लाहौर में सभा होती है और झट ऋषि के स्मारक रूप में डी० ए० वी० कालेज की स्थापना का निश्चय किया जाता है। हम थोड़ी-सी देर के लिए अपने आप को वर्तमान काल से निकाल कर आज से ५२ वर्ष पूर्व की अवस्था में ले जायँ तो हमें हैरानी होगी कि किस प्रकार हमारे बड़े-बूढ़ों ने उस समय जब कि लोग सार्वजनिक संस्थाओं का नाम भी नहीं जानते थे, जब कि शिक्षा और दान—इन दो शब्दों का आपस में कुछ सम्बन्ध ही नहीं समझा जाता था, जब आठ-आठ आने

तथा चार-चार आने की दान की गई राशियों का उल्लेख समाचार पत्रों में किया जाता था—सार्वजनिक संघटन तथा त्याग के उस प्रारम्भिक काल में ८०००) का दान पहिले ही दिन उद्घोषित कर दिया। इस दान में देवियों के भूषणों तथा बच्चों के पैसों का वर्णन पढ़ कर हृदय अनुभव करता है कि ऋषि के स्मारक का प्रेम अपनी जड़ें इतनी जल्दी कितनी गहराई तक पहुँचा चुका था। १८८५ में ला० हंस राज नाम के एक युवक ने बी० ए० परीक्षा पास की। उत्तीर्ण विद्यार्थियों में उस का स्थान प्रान्त-भर में दूसरा था। प्रथम गुरुदत्त था जिस की प्रतिभा का कोई मुकाबला ही नहीं था। हंसराज ने अपनी सेवाएँ इस पुण्य-स्मारक के लिए अवैतनिक रूप में पेश कीं। आजीवन सेवा की यह भेंट कई आठ हज़ारों के बराबर थी। बी० ए० की उपाधि का उस समय का मूल्य आज के पैमानों से नहीं मापा जा सकता। तब बी० ए० थे ही बहुत कम।

इस प्रकार शिक्षा तथा प्रचार दोनों क्षेत्रों में आर्य समाजी विचित्र उत्साह से काम ले रहे थे। ऋषि के निर्वाण के पश्चात् उन्हें केवल शास्त्रार्थ रचाने तथा आर्य समाजों की वृद्धि करने का ही ख़याल नहीं था। वे ऋषि की स्मारक-रूप एक बृहत् संस्था भी स्थापित करना चाहते थे। जो प्रेम पहिले ऋषि से था, अब उस के एक भाग का पात्र उन का स्मारक हो गया। दिन-रात उसी की धुन रहने लगी। ला० हंसराज के सहपाठी पं० गुरुदत्त और ला० लाजपतराय इस स्मारक के मानो मस्ताने हो गये।

कालेज का आन्दोलन करने के लिए लाहौर आर्य समाज ने साप्ताहिक "आर्य-पत्रिका" निकाली। यह पत्रिका अंग्रेज़ी में थी। इस से पूर्व अन्य समाज अपनी-अपनी पत्रिकाएँ निकाल रहे थे। मेरठ से "आर्य-समाचार", फ़र्रुखाबाद से "भारत सुदशा प्रवर्त्तक", लाहौर से अंग्रेज़ी "आर्य" इत्यादि पत्र निकल रहे थे। ऋषि ने पत्र-प्रकाशन भी आर्य समाज के कार्य-क्रम का भाग बना दिया था। मुरादाबाद से इन्हीं दिनों "आर्य-विनय" प्रकाशित होने लगा।

सिद्धान्त सम्बन्धी समस्याओं का समाधान इस से पूर्व ऋषि स्वयं करते थे। अब यह भार भी आर्यों के कन्धों पर पड़ा। आर्यों में वेद के विद्वान् उस समय थे ही नहीं। ले दे कर ऋषि के शिष्य पं० भीमसेन जी ही थे जिन के व्यवहार से स्वयं ऋषि को अपने जीवन-काल में कई बार शिकायत हुई थी। ऋषि के पुस्तकों के प्रूफ़ों का संशोधन तथा हिन्दी अनुवाद प्रायः इन्हीं ने तथा पं० ज्वालादत्त जी ने किया था। ऋषि दयानन्द की दृष्टि से आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन करने का इन्हें इस प्रकार अपूर्व अवसर मिल चुका था। इन के मन्त्रित्व में प्रयाग राज में आर्य धर्म-सभा की स्थापना हुई और "आर्य सिद्धान्त" नामक पत्रिका निकाली गई। पत्रिका के सम्पादक भी पण्डित जी ही थे।

आर्यों का उत्साह दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा था। प्रत्येक प्रान्त में नई-नई योजनाएँ हो रही थीं। ऋषि के देहावसान ने आर्यों को अनाथ तो छोड़ा ही था। परन्तु इस अनाथता

में कर्मण्यता थी, स्वावलंबन था अटूट धैर्य था और थी साहस की अजेय प्रेरणा। ऋषि दयानन्द का जीवन तो एक विजयी योद्धा का जीवन था ही। उन की मृत्यु जीवन से कुछ कम विजय-युक्त सिद्ध नहीं हुई। कवि का यह गीत एकाएक एक-एक आर्य की ज़बान पर चढ़ गया :—

"परिव्राजकाचार्य स्वामी दयानँद
सिधारा है परलोक डंके बजाता।"

देखने वाले देख रहे थे। ऋषि की विजय का डंका इस लोक तथा परलोक—दोनों स्थानों में एक-साथ बज रहा है। पं० गुरुदत्त ने ऋषि की आध्यात्मिक विजय का दृश्य तो उन की रोग शय्या पर देख लिया था। रही उन के सिद्धान्त की विजय, उस के प्रमुख साधन पण्डित जी स्वयं बन गये। ऋषि ने एक गुरुदत्त को ही अपना शिष्य बनाया होता तो उन की सफलता का यही एक प्रमाण पर्याप्त था पर यहाँ तो समूचा आर्य संसार ही ऋषि के उद्देश्य को पूर्ण करने में जुट रहा था।

सभा की स्थापना

(१९४२ वि० । १८८५ ई०)

बम्बई आर्य-समाज की स्थापना ऋषि दयानन्द के अपने हाथों १० एप्रिल १८७५ को हुई थी। इस समाज की स्थापना के साथ ही २८ नियम भी स्वीकार किये गये थे। आर्य समाज के वे सब से पूर्व के नियम हैं। तीसरे नियम की भाषा इस प्रकार थी :—

"इस समाज में प्रति देश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा-प्रशाखा होंगे।"

इस नियम के देखने से प्रतीत होता है कि ऋषि का विचार आर्य समाज के स्थापना-दिवस से ही इसे एक व्यापक तथा संघटित संस्था बनाने का था। "देश" शब्द से उन का अभिप्राय क्या था?—यह कहना कठिन है। ऋषि के अपने लिखे जीवन-वृत्तान्त में इस शब्द का प्रयोग गुजरात के साथ हुआ है। आज कल की हिन्दी की परिभाषा के अनुसार गुजरात प्रान्त है, देश नहीं। सम्भव है,

ऋषि प्रत्येक प्रान्त में एक प्रधान समाज का संघटन करना चाहते हों, या समूचे देश को एक प्रधान समाज बना कर प्रान्तिक सभाओं को उस की शाखा और नगरों तथा ग्रामों के समाजों को फिर उस शाखा की प्रशाखा बनाने का ही उन का विचार रहा हो।

सितम्बर १८८४ में बम्बई समाज के उपप्रधान सेवक लाल कृष्ण दास ने देश-भर के आर्य समाजों को पत्र भेज कर उन्हें सम्पूर्ण भारत का एक 'प्रधान समाज" बनाने की प्रेरणा की थी। यह यत्न सफल नहीं हुआ, परन्तु इससे पता लगता है कि बम्बई के प्रमुख आर्य समाजियों ने ऋषि द्वारा निर्दिष्ट "प्रधान समाज" का अर्थ सम्पूर्ण भारत वर्ष का प्रमुख समाज ही लिया था।

इस से पूर्व २८ दिसम्बर १८८३ को अजमेर में ही, जहाँ इस से दो मास पहिले ऋषि का देहावसान हो चुका था, परोपकारिणी सभा का अधिवेशन हुआ। यह इस सभा का पहिला अधिवेशन था। इस सभा के सदस्यों की नियुक्ति ऋषि ने स्वयं की थी, और यदि किसी सदस्य का स्थान रिक्त हो तो उस की पूर्ति का अधिकार सभा ही को दे दिया था। परन्तु पहिले ही अधिवेशन में सभा के सदस्यों ने अनुभव किया कि इस प्रकार स्वतन्त्र रहने की अपेक्षा सभा का समाज के संघटन के साथ सम्बन्ध हो जाना अधिक लाभकर होगा। श्रीयुत महादेव गोविन्द रानडे ने प्रस्ताव किया और रा० ब० सुन्दरलाल जी ने उस का अनुमोदन किया कि आर्य समाजों के प्रतिनिधियों की एक सभा निर्माण

की जाय और आगे को परोपकारिणी सभा में रिक्त स्थानों की पूर्ति इस प्रकार की जाय कि कम से कम आधे सदस्य प्रतिनिधि सभा के हों। प्रस्ताव स्वीकार हो गया, परन्तु उस पर कार्य नहीं हो सका।

इन प्रस्तावों के देखने से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि आर्य समाजियों के हृदयों में प्रतिनिधि-शासन का भाव आरम्भ-काल से ही काम कर रहा था। पंजाब में "आर्य पत्रिका" ने और पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा अवध (आधुनिक संयुक्त प्रान्त) में "आर्य समाचार" ने इस आन्दोलन को उठा लिया। २७ जून १८८५ की "पत्रिका" एक सम्पादकीय टिप्पणी द्वारा भारतवर्ष के सम्पूर्ण आर्य समाजों के संघटन की आवश्यकता पर बल देती है। मीरठ आर्य समाज के श्री लक्ष्मण स्वरूप पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा अवध तक ही इस प्रकार के संघटन को परिमित कर एक प्रान्तीय सभा की आयोजना की तय्यारी कर रहे हैं। "पत्रिका" इस विचार से सहमत है।

१७, १८ अक्टूबर १८८५ को अमृतसर आर्य समाज के उत्सव पर दोनों दिन, रात के समय पंजाब के समाजों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। २० समाजों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। अमृतसर तथा लाहौर के समाजों ने प्रतिनिधि सभा के नियमों के मसविदे तय्यार कर रखे थे। पश्चिमोत्तर (संयुक्त) प्रान्त के भी पाँच समाजों के सभासद इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए। विचार के पश्चात् नियम स्वीकृत हो गए।

लाहौर का मसविदा पहिले पं० गुरुदत्त जी तथा ला०

हंसराज जी ने तय्यार किया था। इन का विचार लाहौर समाज को केन्द्रीय समाज बना कर शेष समाजों को इस की शाखाएँ बनाने का था परन्तु ला० साईंदास आदि वृद्ध महानुभावों ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्हों ने लाहौर समाज को भी अन्य समाजों के समान प्रतिनिधि सभा का एक अंग बना दिया। सभा की वर्तमान रचना उन वृद्ध महानुभावों के परामर्श का परिणाम है। नियम संख्या २ में प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं को "देशिक प्रतिनिधि सभा" कहा गया है और सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए "सार्वदेशिक" सभा की तजवीज़ की गई है।

१४ नवम्बर की "पत्रिका" ने फिर भिन्न-भिन्न प्रान्तों के प्रमुख समाजों को अपनी-अपनी प्रान्तीय सभाओं के संघटन की प्रेरणा कर लिखा है—कल्याण एकता में ही है।

लाहौर आर्य समाज के मंत्री श्रीयुत (वर्तमान महात्मा) हंसराज बी० ए० अगस्त १८८६ के अन्त में सूचना देते हैं कि अक्तूबर मास के प्रारम्भ में प्रतिनिधि सभा का प्रथम अधिवेशन होगा। ४, ५ अक्तूबर को यह अधिवेशन होता है। उसमें १. देहली, २. कोहाट, ३. रावलपिण्डी, ४. गुजरांवाला, ५. अमृतसर, ६. फ़ीरोज़पुर छावनी, ७. होशियारपुर, ८. पेशावर, ९. दीनानगर, १०. गुजरात, ११. जेहलम, १२. शिमला, १३. रायकोट, १४. जालन्धर, १५. लुधियाना तथा १६. लाहौर के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं। मीरठ आर्य समाज से ला० शिवप्रसाद तथा ला० बाबूराम, प्रयाग आर्य समाज के डा० गंगादीन

तथा बाबू रघुबीर प्रसाद, और सहारन पुर समाज के ला० बिहारीलाल—पश्चिमोत्तर (संयुक्त) प्रान्त के इन सज्जनों के भी इस अधिवेशन में उपस्थित होने की सूचना मिलती है। इस अधिवेशन का अभिप्राय अन्तरंग सभा का निर्माण तथा कार्य-संचालन-सम्बन्धी नियमों का निर्धारण करना था। सभा ने निश्चय किया कि अन्तरंग सभा के सभासद् २१ हों या जितने प्रतिनिधि सभा निश्चित करे। पहिली अन्तरंग सभा के सदस्य निम्न-लिखित १५ सज्जन निर्वाचित हुए :—

१. पं० शिवदत्तराम, अमृतसर
२. ला० नारायणदास, एम० ए०, गुजरांवाला
३. ला० मुरलीधर, होशियारपुर
४. ला० साईंदास, लाहौर
५. ला० जीवनदास, लाहौर
६. ला० लालचन्द, एम० ए०, लाहौर
७. ला० मदनसिंह, बी० ए०, लाहौर
८. बा० रूपसिंह, कोहाट
९. ला० ईश्वरदास, एम० ए०, रावलपिण्डी
१०. ला० गंगाराम, फ़ीरोज़पुर छावनी
११. ला० उमरावसिंह, देहली
१२. ला० मूलचन्द, पेशावर
१३. ला० तुलसीराम, लुधियाना
१४. मुलतान समाज—एक सभासद
१५. फ़ीरोज़पुर शहर—एक सभासद

यह सूची "आर्य पत्रिका" की २९ अक्तूबर १८८६ की संख्या से ली गई है। प्रतिनिधि सभा की १८९२,९३ की रिपोर्ट में इस से पूर्व के सभा के अधिवेशनों का वृत्तान्त दिया गया है। १८८९ के अधिवेशन के वृत्तान्त में अन्तरंग सभासदों की सूची देते हुए फ़ीरोज़ पुर छावनी के ला० गंगाराम की जगह ला० बिशन सहाय और मुलतान शहर के ला० काशीराम वकील और फ़ीरोज़पुर शहर के पं० मूलराज वकील लिखे गये हैं।

आरम्भ के दिनों में अधिकारियों का चुनाव अन्तरंग सभा पर छोड़ दिया जाता था। यही प्रथा समाजों की थी और यही प्रतिनिधि सभा की। इस लिए इस सूची में प्रधान तथा मन्त्री आदि का नाम नहीं दिया गया है। सभा के प्रथम प्रधान ला० साईं दास, मंत्री ला० मदन सिंह तथा कोषाध्यक्ष ला० जीवन दास निर्वाचित हुए।

प्रतिनिधि सभा के उद्देश्य कहीं लिखे नहीं गये हैं। नियम सं० १४ की, जो अमृतसर में स्वीकार हुआ था, भाषा इस प्रकार है :—

"प्रतिनिधि सभा के काम यह होंगे :—

१—जो सर्माया (संपत्ति) समाजों के चन्दे से जमा हो या किसी और तरह पर .खुद (स्वयं) प्रतिनिधि सभा जमा करे या किसी जायदाद मुतअल्लिक़ा या ज़ेर इह-तिमाम सभा (सभा से सम्बद्ध अथवा उस के प्रबन्धाधीन दायाद्य) से हासिल हो उस का सर्फ़ (व्यय) करना या बदलना या मुन्तक़िल (परिवर्तन) करना।

२—तमाम (संपूर्ण) ऐसी जायदाद का इहतिमाम (प्रबन्ध) करना जो बहैसियत प्रतिनिधि सभा उस से मुतअल्लिक़ (सम्बद्ध) हो या कोई आर्य समाज उस के नाम मुन्तक़िल करे या सभा किसी और निहज (प्रकार) से हासिल करे।

३—किसी ऐसे मामले में अपनी राय (सम्मति) ज़ाहिर करना जिस के मुतअल्लिक़ (विषय में) कोई आर्य समाज उस से राय तलब करे (सम्मति मांगे), मगर शर्त यह है कि प्रतिनिधि सभा की राय किसी मज़हबी मसइले (धार्मिक सिद्धान्त) की निस्बत (सम्बन्ध में) नातिक़ (अन्तिम) न होगी कि ऐसे अमूर (विषयों) में वेद और सत् शास्त्र ही सनद (प्रमाण) समझे जायँगे।"

नियम १५ के शब्द ये हैं:—

"प्रतिनिधि सभा एक कुतबख़ाना (पुस्तकालय) रखेगी।"

सभा के उद्देश्यों का निगमन इन दो नियमों से किया जा सकता है। सभा प्रबन्ध करने वाली संस्था है, व्यवस्थाएँ देने वाली नहीं। व्यवस्थाएँ वेद तथा शास्त्र के आधार पर ही दी जा सकती हैं। इन के लेने का प्रबन्ध किस तरह होगा?— इस पर नियम मूक हैं।

इन नियमोपनियमों के साथ सभा का कार्य आरम्भ हो गया। सभा का मुख्य स्थान लाहौर नियत हुआ। सभा का अभी जन्म ही हुआ था। इस के पास न बड़े साधन थे न कुछ अधिक सम्पत्ति ही। लाहौर आर्य समाज के मन्दिर में जो वच्छोवाली बाज़ार में अब तक समाज के अधिकार में है, सभा का भी कार्यालय स्थापित हो गया। १८९२-९३

की रिपोर्ट में इस वर्ष का आय-व्यय दिखाया गया है। उस में अन्तिम निधि "दसवंध का दसवाँ हिस्सा जो मुस्तक़िल सर्माये के तौर पर जमा होता है"—इन शब्दों में दिखाई गई है। "दसवंध" वर्तमान "दशांश" प्रतीत होता है जो समाजों से लिया जाता था और उस का दसवाँ भाग स्थिर कोष के रूप में सुरक्षित रखा जाता था। उस समय के वृद्ध हमें बताते हैं कि उस समय पहिले-पहिल एक उपदेशक पं० मणिराम जिन का नाम आगे जा कर (महामहोपाध्याय) आर्य मुनि हुआ नियत किये गये।

प्रचार का कार्य तो इस से पूर्व भी हो रहा था। सभा की स्थापना दूसरे शब्दों में उसे संघटित करने की कोशिश थी। जैसे हम अगले अध्याय में वर्णन करेंगे, प्रचारकों की उन दिनों भी कमी न थी। स्वतन्त्र प्रचारक बहुत थे। संन्यासियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी। पढ़े-लिखे सभी आर्य, प्रचारक बन जाते थे। इधर प्रचार का आरम्भ था, इस के लिए कुछ अधिक अध्ययन की आवश्यकता भी नहीं थी। उधर नया उत्साह अपने आप व्यग्र से व्यग्र पुरुष को भी घरेलू धंधों से समय निकालने को बाधित कर रहा था। नया-नया अंगीकार किया गया धर्म एक मधुर आत्म-प्रसाद था जिस को बाँट कर भोगने की भावना यत्र-तत्र प्रचारकों की बाढ़ ला रही थी। इस आत्म-त्याग तथा प्रसाद-प्रसार की कहानी अत्यन्त रोचक, अत्यन्त चित्ताकर्षक तथा अत्यन्त गौरव-गर्भित है। इस कहानी का वर्णन अगले अध्याय में होगा।

प्रचार-कार्य

जैसे हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं, प्रचार का कार्य उन दिनों बड़े ज़ोरों पर था। ऋषि के मुख्य शिष्य स्वामी आत्मानन्द जी उस समय के सब से अधिक सफल वक्ता तथा प्रचारक प्रतीत होते हैं। उन का प्रचार-क्षेत्र प्रायः पंजाब से बाहर रहता था। पश्चिमोत्तर (संयुक्त) प्रान्त, राजपूताना तथा ग्वालियर आदि रजवाड़ों में उन के व्याख्यानों की झड़ी लगी रहती थी। पंजाब के काँगड़ा आदि इलाकों में भी उन के उपदेश हो जाते थे। वे जहाँ जाते आर्य समाज स्थापित कर आते। स्वा० ईश्वरानन्द ऋषि के एक और शिष्य थे। उन्हों ने भी ऋषि के जीवन-काल में ही प्रचार का कार्य आरम्भ कर दिया था। उन की ऋषि-भक्ति की अवस्था यह थी कि उन्हों ने एक पत्र में स्वयं ऋषि को लिखा था :—

मेरे पर भवच्चरण-कमलों की धूरि स्वप्न में वर्षी है। सो मैं ने ख़ूब स्नान किया।

ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार पृ० २०

स्वामी ईश्वरानन्द जी पंजाब में .खूब घूम रहे थे और ऋषि के संदेश का डंका पंजाब में तथा इस प्रान्त के बाहर बड़े ज़ोर-शोर से बजा रहे थे। ब्र० रामानन्द की शिक्षा का प्रबन्ध भी ऋषि की कृपा का परिणाम था। एक चित्र में ब्रह्मचारी जी ऋषि की कुर्सी के पीछे खड़े दिखाई देते हैं। शिक्षा की प्राप्ति के पश्चात् इन्हों ने संन्यास ले लिया और इन का नया नाम स्वा० शंकरानन्द हुआ। यह मानो इन के प्रचार-कार्य की भूमिका थी। स्वामी आलाराम उस समय के प्रभावशाली उपदेशकों में से थे। चौधरी नवलसिंह रोहतक प्रान्त के सर्व-प्रिय कवि थे। वे अपनी लावनियों द्वारा, अन्य आर्य सिद्धान्तों के प्रचार के साथ-साथ गोरक्षिणी सभाओं की स्थापना भी कर रहे थे। नवलसिंह की लावनियाँ अब तक प्रसिद्ध चली आती हैं। गायक इन्हें मज़े ले-ले कर गाते हैं। गोरक्षा की धुन इन्हें हरिद्वार तक ले गई। अपनी प्रथा के अनुसार इन्हों ने वहाँ भी गोरक्षिणी सभा स्थापित कर दी। परन्तु अड़ोस-पड़ोस की धर्म-सभाओं ने इस में "दयानन्दियों" की विजय समझी और पंडे भाइयों को उकसा कर इन के इस शुभ प्रयत्न का सख़्त विरोध किया। चौधरी जी हटने वाले थोड़े थे। इन्हों ने अपने परिश्रम को और अधिक प्रबल कर दिया। जगह-जगह से उदार-हृदय यजमान अपने पुरोहितों पर दबाव डालने लगे कि गोरक्षा का विरोध छोड़ दो। चौधरी जी की अपील पर ११ मई १८८६ को आर्य समाजों के प्रतिनिधि भी हरिद्वार में एकत्रित हुए और उन के उद्योग से कनखल में

एक बड़ी सभा हो कर गोरक्षिणी सभा का उखाड़ा हुआ झण्डा फिर से स्थापित किया गया। चौधरी नवलसिंह की वह लावनी जिस की एक पंक्ति निम्न लिखित है, इसी अवसर पर लिखी और गाई गई थी :—

इधर धर्म का झंडा गाड़, उधर अधर्मी रहे उखाड़।

चौधरी जी के इस पद ने समाँ बाँध दिया और गोरक्षा का उखड़ा हुआ झंडा केवल पृथिवी पर ही नहीं, जनता के हृदयों तक में गड़ गया।

१८८८ के अन्त में चौधरी जी के विरुद्ध टिप्पणियाँ प्रकाशित होने लगती हैं। अक्तूबर १८८९ में मुलतान आर्य समाज द्वारा चौधरी जी को निमन्त्रण दिये जाने पर आक्षेप किया गया है। चौधरी जी से कोई नैतिक भूल हो गयी है। इस कारण उन्हों ने वेदि पर आना बंद कर दिया है। समय बीतने पर उन्हें फिर निमन्त्रण दिये गये परन्तु वे फिर वेदि पर नहीं आए, नहीं आए।

स्वयं कनखल में दो आर्य समाजी रहते थे—एक म० मूल चन्द जो स्थानीय स्कूल में अध्यापक थे, दूसरे म० उमरावसिंह जो पनसारी की दूकान करते थे। दोनों कट्टर आर्य थे। इन का विरोध वहाँ की पौराणिक प्रजा प्राण-पण से कर रही थी। अध्यापक महाशय को निकलवा अथवा बदलवा देने का भरसक प्रयत्न किया गया। परन्तु इन का काम सन्तोष-जनक था। शत्रु इस दिशा में इन का बाल तक बांका न कर सके। हाँ ! इन के दस रुपये मासिक वेतन पर १०) वार्षिक कर ज़रूर लगवा दिया गया।

बिरादरी से बहिष्कार, सामाजिक असहयोग, दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में तंगी—ये सब विपत्तियाँ थीं परन्तु अपने प्यारे धर्म के लिए यह वीर-युगल किसी विपत्ति को विपत्ति समझता ही नहीं था। यहाँ तक कि कनखल को छोड़ जाने का नाम भी ये वीर-बन्धु सुनने को तय्यार नहीं थे। यह आपत्ति स्थान स्थान पर थी। उस समय के धर्मामृत का घूँट मीठा—अत्यन्त मीठा—था पर उस मिठास का उपोद्घात कसैलेपन ही से होता था। कड़वाहट का अतिशय अपने परिणाम-स्वरूप एक अद्भुत मधुरता को जन्म देता था। वह रस दिव्य था।

साधु रमताराम का वर्णन हम डी० ए० वी० कालेज के आन्दोलन में करेंगे। ये महानुभाव ऋषि के इस पुण्य-स्मारक के लिए स्थान-स्थान पर धर्म-घट रखवा कर उन में प्रतिदिन आटे की एक-एक मुट्ठी इकट्ठी करवा रहे थे। पं० मणिराम [जिन का नाम पीछे जा कर (महामहोपाध्याय) आर्य मुनि हुआ] सभा के एक-मात्र उपदेशक थे। सनातन धर्म आदि विषयों पर इन के व्याख्यान ख़ूब पसंद किये जाते थे। ये उन दिनों भी नवीन वेदान्त का सख़्त खण्डन करते थे। और कहीं-कहीं इन के शास्त्रार्थों की आयोजना भी हो जाती थी। उस समय के शास्त्रार्थों की कुछेक युक्तियाँ बड़ी विचित्र होती थीं। वेद में "श्राद्ध" शब्द नहीं है, इस लिए मृतक श्राद्ध वेद-विहित नहीं। वर्ण-माला के वर्णों का परिवर्तन हो जाता है इस लिए वर्ण-व्यवस्था के वर्ण भी बदल सकते हैं, इत्यादि। कहने की

आवश्यकता नहीं कि शास्त्रार्थों की आधार-भूत ये युक्तियाँ नहीं, कुछ अन्य तर्कनाएँ होती थीं, परन्तु इन युक्तियों पर भी पक्षी-प्रतिपक्षी विचार करते थे और इन का उत्तर देने में भी अपने पुस्तक सम्बंधी पाण्डित्य का परिचय देना आवश्यक समझते थे।

संन्यासी प्रचार-कार्य के लिए विशेषतया उपयुक्त होते हैं। यों तो उपदेश देने का अधिकार ही चतुर्थ आश्रम वालों को है। उन का अनुभव तथा ज्ञान सर्व-साधारण के लिए एक ज्योतिःस्तम्भ का काम देता है। फिर परिवार के झंझटों से मुक्त होने के कारण इन्हें घूमने और प्रचार करने के लिए समय भी .खूब मिलता है। ऋषि के देहान्त के बाद उन का कार्य संन्यासियों ने मानो सँभाल-सा लिया।

स्वामी कृष्णानन्द, स्वा० भास्करानन्द, स्वा० मौजानन्द, स्वा० गोकुलानन्द, स्वा० सहजानन्द, स्वा० सदानन्द, स्वा० गिरानन्द, स्वा० अक्षयानन्द, स्वा० प्रकाशानन्द, स्वा० अमेरानन्द, स्वा० स्वात्मानन्द, ब्र० नित्यानन्द आदि साधुओं के नाम उन दिनों के प्रचारकों में मिलते हैं। आगे चल कर स्वा० अक्षयानन्द से लाहौर आर्य समाज ने अपना सम्बन्ध-विच्छेद उद्घोषित किया है। स्वा० सहजानन्द दो व्यक्तियों के नाम हैं। एक की आर्य-जगत् में .खूब कीर्ति है, दूसरे के विरुद्ध "पत्रिका" को नोट निकालना पड़ा है। कोई नास्तिक रामप्रताप हैं। उन्हों ने उपदेशक का वेष धारण किया है। उन से समाजों को सावधान किया जा रहा है।

१८८७ में एक स्थल पर "स्वामी" शब्द की विवे-

चना की गई है। क्या हर एक भगवा पहनने वाला "स्वामी" कहलाने का अधिकारी है? लेखक का कहना है कि स्वामी की पदवी वेद-भाष्यकार किसी विरले ही पुरुष को मिलनी चाहिए।

उपर्युक्त घटनाएँ तथा विचार-धाराएँ इस बात की द्योतक हैं कि आर्य समाज का प्रचार उन दिनों एक प्रबल प्रवाह के रूप में चल पड़ा था। धर्म-प्रचार की एक बाढ़-सी आ रही थी जिसे अपनी सीमाओं में रखने के लिए अयोग्य व्यक्तियों पर अंकुश रखने की भी आवश्यकता अनुभव हो रही थी। किसी भी आन्दोलन के सम्बन्ध में यह अवस्था तभी आती है जब वह जन-प्रिय हो जाय। जनता में वेद के उपदेश की माँग थी। उस की पूर्ति के लिए योग्य-अयोग्य सब प्रकार के लोग आगे बढ़ रहे थे। योग्य उपदेष्टा सफल हो जाते थे। अयोग्यों को सावधान और कभी-कभी पृथक् कर दिया जाता था।

इतना ही नहीं, स्वा० आलाराम जिन के प्रचार की इतनी धूम थी, कहीं कठोर भाषण कर बैठे। "पत्रिका" के सम्पादक जहाँ उन की वक्तृताओं का उत्तरदायित्व उन के अपने ऊपर डालते हैं, वहाँ आर्य उपदेशकों को परामर्श भी देते हैं कि उपदेश का सार मधुरता है। ये स्वामी आलाराम आर्य समाज में टिक न सके। सिद्धान्तों से इन के विचलित हो जाने की चर्चा समाचार पत्रों में मिलती है, अन्त को सनातन धर्मी हो कर ये महानुभाव आर्य समाज से शास्त्रार्थ करने लगे। इस में भी ये

मर्यादा से आगे बढ़ गये, जिस के परिणाम-स्वरूप सरकार ने इन पर अभियोग चलाया और इन्हें दण्ड दिया। स्वा० ईश्वरानन्द और स्वा० स्वात्मानन्द भी आगे जा कर आर्य सिद्धान्तों से विचलित हो गये। स्वा० स्वात्मानन्द के विषय में लिखा है कि पं० गुरुदत्त होते तो इन की शंकाओं का समाधान करते।

१८८५ में पं० लेखराम ने जो इस से पूर्व पेशावर आर्य समाज के प्रधान रहे थे, बटाला में डेरा जा लगाया। "धर्मोपदेश" नामक मासिक पत्र का सम्पादन तथा प्रकाशन वे पेशावर से ही कर रहे थे। पेशावर इस्लाम का गढ़ था, और पण्डित जी इसलाम के विरुद्ध मूर्त्त-प्रतिवाद। इसलामी सिद्धान्तों का खण्डन उन का विशेष उद्देश्य तथा कार्य था। मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद क़ादियानी के ग्रन्थों का निराकरण कर वे साहित्यक संसार में ख़ूब प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहे थे।

१८८७ में पं० लेखराम 'आर्य गज़ट" के जो १८८५ से फ़ीरोज़पुर से प्रकाशित हो रहा था, सम्पादक हो गये। यह उस पत्र का सौभाग्य समझना चाहिए। पण्डित जी की लेखनी में एक विशेष तेज था, जिस की छाया में आ कर "गज़ट" चमक उठा। पत्र के सम्पादन के साथ-साथ पण्डित जी प्रचार का कार्य भी कर रहे थे। शास्त्रार्थों के लिए इन्हें विशेष निमन्त्रण दिये जाते थे। ये जहाँ स्वयं लिखित प्रचार के धनी थे, वहाँ दूसरों को भी इस की प्रेरणा करते रहते थे। १८८९ में इन्हों ने अजमेर में

"वैदिक-विजय" नाम का उर्दू मासिक पत्र निकलवा दिया। पण्डित जी की निर्भीक तथा बेलाग तार्किकता की बड़ी धूम थी।

जालन्धर में आर्य समाज की स्थापना तो १८८२ में हो चुकी थी, परन्तु पीछे ला० देवराज जी तथा ला० मुन्शीराम जी के प्रचार के कार्य में अग्रेसर होने से यह समाज लाहौर आर्य समाज से टक्कर लेने लगा। ये दोनों सज्जन केवल स्थानीय आर्य समाज में ही नहीं, आस-पास के स्थानों में भी जाते हैं। जहाँ समाज नहीं होता था, वहाँ नया समाज स्थापित कर आते थे। परमेश्वर ने दोनों की ज़बान में एक अनूठा जादू भर रक्खा था। ला० देवराज अपने आप को स्वतः प्रकाश कहते थे। भक्ति, सदाचार, वैदिक कर्मण्य-वाद—ये इन दोनों उत्साही नव युवकों के भेरी-नाद थे। ये यहाँ जाते अपने सद्गुणों की मोहिनी द्वारा पक्षी-विपक्षी सब को मुग्ध कर लेते। ला० मुन्शी राम के अध्ययन तथा ला० देवराज की मस्तानी भक्ति का प्रभाव चमत्कारक होता था। जालन्धर समाज के वे सुवर्णीय दिन थे। साप्ताहिक सत्संग में ही तीन तीन सौ की उपस्थिति हो जाती थी। नगर-प्रचार इस के अतिरिक्त था। स्थान-स्थान पर सत्यार्थप्रकाश की कथा तथा हवन किये जाते थे। उत्साह का यह हाल था कि एक दिन हवन करते हुए वर्षा आ गई। आर्य समाजी हवन कुण्ड को छोड़ें कैसे, टपाल का एक चंदोआ बना कर हाथों में लिये खड़े रहे और हवन निर्विघ्न समाप्त

हो गया। हवन का उन दिनों ख़ूब प्रचार था। डेरा ग़ाज़ी खान तथा हमीरपुर में हैज़ा फैल गया। वहाँ आर्यों ने चन्दा एकत्रित कर यज्ञ किया। हैज़ा रुक गया और हवन का खूब प्रचार हुआ।

वैदिक संस्कार उन दिनों आरम्भ ही हुए थे। दूर-दूर के आर्य उन में पहुँचते थे और श्रद्धालुओं का उत्साह बढ़ाते थे। जालन्धर के प्रमुख आर्य होशियारपुर, कपूरथला, सुलतानपुर आदि स्थानों में इस निमित्त से जाते थे। देहली, मेरठ तथा लाहौर आदि समाजों में भी इन के व्याख्यान होने की सूचना मिलती है। एक संस्कार की कथा नीचे दी जाती है :—

गुजरांवाला के म० गोविन्द सहाय कपूरथला में रह रहे थे। वहाँ उन की माता का देहान्त हो गया और उन्हों ने उन का अन्त्येष्टि संस्कार वैदिक रीति से करने की ठानी। विरोध बड़े ज़ोर से हुआ परन्तु गोविन्द सहाय डटे रहे। जालन्धर से ला० मुन्शीराम और कुछेक और सभासद पहुँचे। हिन्दुओं की दूकानों से अर्थी बनाने तथा दाह करने तक की सामग्री मिलनी कठिन हो गई। अन्त को मुसलमानों के यहाँ से यह सामान क्रय किया गया और संस्कार यथा विधि हुआ। इस का जो प्रभाव पड़ना था, उस का अनुभव आसानी से हो सकता है।

ला० देवराज पर आर्य समाज की धुन ऐसी सवार हुई कि वे भजन बना बना कर गाने और समाज के कार्य में मस्त रहने लगे। यह बात उन के रईस पिता को असह्य हो

उठी। उन्हों ने छाती पर पत्थर रख पुत्र को घर से निकाल दिया। ला० देवराज अपने धर्मोत्साह को अपनी पैतृक सम्पत्ति पर न्यौछावर करने पर तय्यार न हुए। उन्हों ने स्वतन्त्र आजीविका की खोज में बर्मा की राह ली। असहिष्णु पिता पुत्र के वियोग को भी न सह सके। देव-राज अभी कलकत्ते ही पहुँचा था कि पिता के दूत वहाँ पहुँच गये और उसे जहाज़ पर से ही घर लौटा लाए। एक ला० देवराज क्या, जालन्धर के दो और सज्जनों—श्री दौलतराम तथा पं० श्रीपति पर इस प्रकार के पारिवारिक संकट आने का वर्णन स्वयं ला० देवराज द्वारा लिखित समाज के मासिक वृत्तान्त में मिलता है। ऐसे त्यागियों का प्रभाव संक्रामक था। इन के प्रचार में जादू होना अनि-वार्य था।

एक गाँव के लोग ला० देवराज को अपने यहाँ उपदेश के लिए ले गये। इन के भक्ति रस में भीजे वचनामृत का प्रभाव यह हुआ कि लोगों ने मांस मदीरा का सेवन छोड़ कर आर्य समाज स्थापित कर दिया। ला० देवराज के साथ म० कालीप्रसन्न चैटर्जी भी प्रचारार्थ जाया करते थे।

एप्रिल १८८६ के अन्त में ला० मुन्शीराम तथा ला० देव-राज के संयुक्त संपादकत्व में "सद्धर्म प्रचारक" नाम का उर्दू साप्ताहिक प्रकाशित होने लगा। इस के लिए फुटकर चन्दा किया गया। आगे जा कर यह अकेले ला० मुन्शीराम का पत्र बन गया। आर्य समाज के वृद्ध-शिरोमणि ला० साईंदास ने इस पत्र के निकलते ही कहा था कि यह पत्र समाज में

एक नया युग लायगा, यद्यपि यह कहना कठिन है कि वह युग हितकर होगा या अहितकर। आर्य समाज के इतिहास में इस पत्र का विशेष स्थान है। उस समय के सामाजिक जगत् में इस पत्र ने एक नई रूह फूंकी थी। इस के लेख साप्ताहिक सत्संगों में पढ़े जाते थे। उन पर मनन होता था। सिद्धान्तों की विवेचना, कुरीतियों का निर्भीक खण्डन, शास्त्रों की व्याख्या, वीरों की जीवनियां इत्यादि इस पत्र की विशेषताएँ थीं। महात्मा जी की लेख-शैली में एक ओज था जो उन आरंभ के दिनों में भी पाठक के हृदय को आकर्षित कर लेता था।

उन्हीं दिनों के "सद्धर्म प्रचारक" में कपूरथला के म० कृपाराम की कन्या के विवाह का वर्णन मिलता है। विवाह वैदिक रीति से होना था अतः जालन्धर के ला० मुन्शीराम आदि उस में सम्मिलित होने के लिए गये। वहाँ इन का व्याख्यान भी हुआ। लोगों के अज्ञान की यह हालत थी कि आर्य विवाह में कोई वेद-मन्त्र पढ़ा जाता है—इस का भी किसी को विश्वास नहीं होता था। समझा यह जाता था कि समाजियों का विवाह रोमाल बदलने मात्र से हो जाता है। पौराणिक पण्डित जी को ला० मुन्शीराम ने संस्कारविधि खोल कर दिखलाई, तब उन्हें सन्तोष हुआ कि सच मुच इन का विवाह संस्कार वैदिक है। यह हो आने पर भी विवाह के समय से ठीक पूर्व एक नशाई ब्राह्मण एक वेश्या तथा कुछ एक आवारा-गर्द लड़कों को साथ लिये म० कृपाराम के दर्वाज़े पर आ खड़ा हुआ और बड़ी देर

तक ऊधम मचाता रहा । पोलीस ने सहायता करने से इनकार कर दिया। म० कृपाराम इस महासंकट को अमृत का घूँट कर पी गए। वह ब्राह्मण देवता टला तो इन की माता ने विरोधियों को स्वयं बुला लिया। उधर वर-पक्ष ने नवग्रह-पूजा पर आग्रह किया। म० कृपाराम तो नहीं झुके परन्तु उन की माता को कोई क्या करे ? लड़की ने इस पौराणिक पूजा में शामिल होने से इनकार कर दिया और पण्डितों को उसे इस क्रिया से मुक्त ही करना पड़ा । शेष विधि तो सनातनियों तथा समाजियों की है ही समान । कृत्य हो गया परन्तु म० कृपाराम उस में अलग रहे। इसी प्रकरण में पश्चिमोत्तर (संयुक्त) प्रान्त की एक इसी प्रकार की घटना का उल्लेख कर देना भी अनुचित न होगा। नगीना आर्य समाज के उपप्रधान म० नत्थासिंह के अपने घर से निकाले जाने तथा उस के सात वर्ष के बालक को विष तक दिये जाने की सूचना "आर्य समाचार" में प्रकाशित हुई है। इन महाशय का अपराध यही था कि ये आर्य समाजी थे।

इन वृत्तान्तों के अध्ययन से जहाँ उस समय की सामाजिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है, वहाँ आर्यों की कट्टरता और धैर्य तथा पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति पर भी प्रकाश पड़ता है। जो धर्म हमें आज दाय-रूप में स्वभावतः प्राप्त हो गया है, वह हमारे इन पूर्वजों की जी-जान की कमाई है।

केवल कठिनाई के समय ही भिन्न-भिन्न स्थानों के आर्य समाजी मिल जाते हों – यह बात न थी। उन दिनों उत्सव

कम होते थे। विरले समाजों में यह शक्ति थी कि दूर-दूर से पण्डित महोदयों को बुला सकें और स्थान-स्थान से आए हुए आर्य भाइयों का आतिथ्य कर सकें। उत्सव देखने की उत्सुकता हर एक के हृदय में बनी रहती थी। एक तिथि को दो उत्सव न हों—यह भी प्रयत्न किया जाता था। और यह केवल निकटस्थ स्थानों ही में नहीं, सारे भारत वर्ष में। रावलपिंडी जैसे तटस्थ स्थान में अमृतसर, लाहौर, गुजरांवाला, गुजरात, जेहलम, पेशावर, कोहाट, भेरा इत्यादि के सभासद उत्सव की शोभा बढ़ाने तथा वहाँ वितीर्ण हो रहे उपदेशामृत से लाभ उठाने को सपरिवार जाते थे। अमृतसर तथा लाहौर में तो सहारनपुर, मीरठ, मुरादाबाद आदि के दर्शक भी सम्मिलित होते थे। इन दूरस्थ स्थानों के अभ्यागतों का पारस्परिक प्रेम देखने योग्य होता होगा।

उत्सवों में पं० गुरुदत्त का वेद-पाठ तथा डी० ए० वी० कालेज की सहायता के लिए अपील और उस में वेद-कथित वैज्ञानिक सचाइयों का मनो-मोहक वर्णन अपूर्व आनन्द देता था। हवन पर हरेक उत्सव में व्याख्यान दिये जाते थे। आर्य धर्म का यह एक विशेष चिह्न समझा जाता था। महामारी के निवारणार्थ हवन का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। महता अमीचन्द के भजनामृत का आस्वादन भी ख़ूब दत्तचित्त हो कर किया जाता था। महता जी के भक्ति भरे भजन और मीठा स्वर श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध-सा कर देते थे। इन का शृंगार-रस से भक्ति-रस

में परिवर्तन ऋषि की साक्षात् कृपा का फल था। महता जी ने ऋषि के दर्शन किये थे और उन्हीं से यह वर प्राप्त कर ये रिंद से भक्त बन गये थे। इन के भजनों में भक्ति-भाव की चाशनी ऋषि की देन है। म० जवाहरसिंह एक लब्ध-प्रसिद्ध वक्ता थे। हिसार समाज से ला० लाजपतराय उदीयमान सूर्य की तरह प्रकट हो रहे थे। जहाँ पं० गुरुदत्त न हों वहाँ कालेज के लिए अपील ला० लाजपतराय करते थे। वह मानो पंजाब-केसरी की गरज की पूर्व-ध्वनि थी। यह ध्वनि हमें कालेज के संबन्ध में बड़े ज़ोर से सुनाई देती है।

पंजाब-वासी साहस तथा उत्साह के लिए प्रसिद्ध हैं। ये जहाँ अपने प्रान्त में अपनी धुन के धनी रहते हैं, वहाँ बाहर जाने में भी इन को संकोच नहीं होता और जहाँ जाते हैं अपने प्रान्त का सन्देश साथ लेकर जाते थे। पंजाब का उन दिनों का सन्देश आर्य समाज था। पंजाबी आर्य समाजी प्रान्त-प्रान्त तथा देश-देशान्तर में आर्य समाज की गुंजार को ले जा रहे थे।

मुज़फ्फ़रगढ़ (ज़ि० डेरागाज़ी खाँ) के पं० गंगाराम के नाम, कट्टक से प्रवासी सज्जन म० धनपतराय का इस आशय का पत्र आता है कि उस की लड़कियाँ विवाह के योग्य होने वाली हैं। उन के लिए वर चाहिएँ। गोत्र तथा पिण्ड का ध्यान रखते हुए वर चाहे किसी जात के हों—वे उन्हें स्वीकार करेंगे। जन्म-मूलक जात-पात की उपेक्षा का यह प्रारंभिक सूत्र-पात प्रतीत होता है। उन दिनों अन्तर्जातीय विवाह का विचार आना बिरादरी के भयंकर भूतों को

चुनौती देना था। इस सज्जन के उसी पत्र से उड़िया लोगों में वैदिक धर्म के प्रचार की अभिलाषा रह-रह कर प्रकट हो रही है। आस-पास के भ्रान्ति-जाल को देखता है और अपनी विवशता पर आँसू बहाता है। चाहता है, कोई उपदेशक आए और वहाँ की जनता के भ्रम-पाश काट दे।

एक ओर यह बात है तो दूसरी ओर ६ तथा ११ वर्ष की कन्याओं के १६ वर्ष के वरों के साथ "वैदिक" विवाह के विज्ञापन भी निकल रहे हैं। जात-पात के पक्ष में भी लेख प्रकाशित हो जाते हैं। इस में युक्ति यह दी जाती है कि समाज के ढाँचे को एकाएक तोड़ देना उचित नहीं। सामाजिक सुधारणा धीरे धीरे हो रही थी। वीर लोग आदर्श पर छलाँग झट लगा देते थे। उन के शब्द-कोष में क्रमिकता का पाठ नहीं था। साधारण जन लुढ़क लुढ़क कर पीछे-पीछे आ रहे थे। पहिले पद्धति में काट-छाँट हुई। फिर आयु आदि को भी पूर्ण करने का यत्न किया गया। इस सुधार के साथ-साथ नियोग के नाम से विधवा-विवाह का प्रचार भी किया जा रहा था।

ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी लण्डन में लक्ष्मीनारायण पहुँचता है। वह सूचना देता है कि उस के तथा उस के साथियों के उद्योग से लण्डन में आर्य समाज की स्थापना हो गई है। म० बिशन नारायण दर, ला० रोशनलाल (जो पीछे बैरिस्टर हो कर भारतवर्ष आये और आर्य समाज के नेताओं में हो गये), म० वेंकटराव नेडू आदि सज्जन समाज के कार्य में भाग ले रहे हैं। मि० पोर्ट समाज के मन्त्री हैं।

इस समाज के ६ जून १८८६ के अधिवेशन में प्रो० मैक्समूलर को निमन्त्रण दिया गया है जिस के उत्तर में धन्यवाद कर प्रोफ़ेसर महानुभाव ने अपने जर्मन-प्रवास की समीपता के कारण उपस्थित होने में असमर्थता प्रकट की है। कूच विहार की रानी तथा दादा भाई नौरोजी समाज में उपस्थित हुए हैं।

उन्हीं दिनों में चंदनसिंह नाम के एक ग़रीब हिन्दोस्तानी का लंडन के किसी हस्पताल में देहान्त हो गया। चन्दन सिंह का वहाँ कोई सम्बन्धी न था। साधारण अवस्था में उस की लाश गाड़ ही दी जाती। परन्तु म० लक्ष्मी-नारायण को ज्यों ही यह समाचार मिला, ये हस्पताल पहुँचे और अपने भारतीय बन्धु के शव को हिंदोस्तानी ढंग से जलूस में ले जा कर उस का अन्त्येष्टि संस्कार किया। इस पर १५०) खर्च हुए। यह राशि इन्हों ने अपनी जब से दी। विलायत में एक लावारिस भारतीय का इस प्रकार का संस्कार पहिली बार हुआ। इस सहानुभूति का सेहरा आर्य समाज के सिर बँधा।

१८८७ के आरम्भ में महारानी विक्टोरिया की जूबिली थी। उस में लंडन आर्य समाज ने अभिनन्दन-पत्र पेश किया जो सम्मान-पूर्वक स्वीकृत हुआ। इसे प्रस्तुत करने के लिए देश-देशान्तर के दूतों की श्रेणी में म० लक्ष्मीनारायण आदि समाज के मुख्य-मुख्य पुरुष राजमहल में निमन्त्रित हुए। भारत के समाजों में भी जयन्ती के उपलक्ष्य में प्रार्थनाएँ हुईं। पत्रों के विशेषाङ्क निकले जिन के देखने से

पता लगता है कि अराजकता के एक दीर्घ काल के पश्चात् शान्ति की स्थापना और फिर उस में धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता—आंगल राज्य के उस समय के ये विशेष गुण समझे जाते थे। सदियों पीछे आर्यों को अपने धर्म के प्रचार का अवसर मिला था। इस के लिए वे विशेष कृतज्ञ थे। भारतीय स्वतन्त्रता का उपदेश ऋषि की पुस्तकों में तो था ही और उस स्वतन्त्रता के आदर्श में कुछ भी ननु-नच न था परन्तु इस स्वाधीनता के क्रियात्मक आन्दोलन का आरंभ अभी नहीं हुआ था। कांग्रेस को ही स्थापित हुए अभी दो वर्ष से अधिक नहीं हुए थे। फिर उस का आरंभिक रूप एक राज-भक्त सभा ही का था जिस के वार्षिक अधिवेशनों में राज-भक्ति के प्रस्ताव पास हुआ करते थे। ऋषि के स्वराज्य-सन्देश को समझ सकने का समय अभी नहीं आया था। विक्टोरिया के साम्राज्य के अन्तर्गत भारत की स्वाधीनता के लिए एक शब्द तक भी तो इन अभिनन्दन-पत्रों में नहीं कहा गया है। वेद की शिक्षा का इतना फल ज़रूर था कि प्रत्येक आर्य अपने आप को मनुष्यता के नाते प्रत्येक अन्य मनुष्य के समान समझता था। राजा-प्रजा सभी परमेश्वर पुत्र हैं। इस भावना का प्रकाश, जैसे हम आगे चल कर बतायेंगे, मण्डी-नरेश के सन्मुख जालन्धर के आर्य सज्जनों ने किया भी।

आर्य समाज का बीज किस प्रकार पंजाब की उर्वरा भूमि से प्रस्फुटित हो कर अन्य प्रान्तों तथा देश-देशान्तरों में फलीभूत हो रहा था—लण्डन का समाज इस का एक

रोचक उदाहरण है। स्वयं भारतवर्ष में समाजों की संख्या ४ जूलाई १८८५ की "पत्रिका" में २०० से अधिक बताई गई है। इस संख्या में १५ जून १८८६ तक ६५ की और वृद्धि हो जाती है। "पत्रिका" में इन सब नए समाजों के नाम दे दिये गये हैं। ६५ में से पंजाब के हिस्से १८ समाज आए हैं। साधनों की मात्रा को दृष्टि में रखते हुए यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि पंजाबियों का प्रचार-क्षेत्र उस समय केवल पंजाब नहीं था।

इन वर्षों में किये गये शुद्धि के कार्य का वर्णन हम किसी गत अध्याय में कर आए हैं। सब संप्रदायों के अनुयायियों पर आर्य समाज के प्रचार का प्रभाव पड़ रहा था। साधारण जनों के अतिरिक्त कई मठाधीश तथा नरेश भी समाज में आ रहे थे। स्वामी अच्युतानन्द जी एक ऐसे ही मानित तथा प्रतिष्ठित साधु हैं। इन की मण्डली भी थी, मठ भी। ऋषि दयानन्द से इन का शास्त्रार्थ भी हुआ था। इस शास्त्रार्थ के संबन्ध में एक वार इस लेखक का स्वामी जी से वार्तालाप हुआ। स्वामी जी चित्ताकर्षक गर्व से कह रहे थे—मैं मण्डली-सहित मण्डप में आया। मैं ने पूछा:—और ऋषि? स्वामी जी की आँखों में आँसू आ गये। भर्राई हुई आवाज़ में बोले:—ऋषि अपने प्रभु के साथ पधारे। स्वामी जी को आर्य समाज में पं० गुरुदत्त जी लाए। उन से उपनिषद् पढ़ते पढ़ते पण्डित जी ने उन्हें अपने विचारों का कर लिया। धर्म की यह विजय १८८८ के अन्त में हुई।

सिद्धान्तों की शिक्षा में गुरु शिष्य बन गया और शिष्य गुरु। यह शिष्य के पूर्ण शिष्टाचार तथा पराकाष्ठा को प्राप्त हुए विनय का फल था। स्वामी जी इस से पूर्व नवीन-वेदान्ती थे। ऋषि से ये इसी विषय पर भिड़े थे। आचार्य की विद्वत्ता के सामने नहीं झुके थे, परन्तु शिष्य की नम्रता के सामने झुक गये। बस फिर क्या था? विद्वान् तो थे ही। संपूर्ण आर्य जगत् में इन की धूम मच गई। इन के उपदेश तथा शास्त्रार्थ सब मार्के के हुए। इन्हों ने अपनी साधु-मण्डली छोड़ दी और आर्य संसार के शिरोमणि साधु हो गये। १८८६ के जालन्धर आर्य समाज के उत्सव में एक जैन पूज्य (गुरु) ने वैदिक धर्म स्वीकार किया। उन के साथ एक जैन पण्डित भी आए।

यह हुई साधुओं की कथा। अब नरेन्द्र मण्डल की सुनिये। जोधपुर नरेश महाराणा प्रतापसिंह अजमेर पधारे। आर्यों ने उन का स्टेशन पर स्वागत किया। महाराणा ने आर्यों से पूर्ण समानता का व्यवहार किया और भ्रातृ-भाव से पेश आये। एक हज़ार रुपया आर्य समाज को दान भी दे गये।

मण्डी-नरेश दिसम्बर १८८६ में जालन्धर पधारे। उन्हों ने इच्छा प्रगट की कि उन्हें वैदिक धर्म का सन्देश सुनाया जाय। एक सभा में आर्य समाज तथा सनातन धर्म सभा के सदस्य इकट्ठे हुए। जहाँ सभा के सदस्यों ने उन्हें "वेद-मूर्ति" कह कर चाटुकारी की, वहाँ आर्य समाजियों के मुखिया ला० देवराज ने ऋषि के ग्रन्थ प्रस्तुत कर कहा—महाराणा

को "वेद-मूर्ति" कहना उपहास है। इस स्पष्टवादिता से राजा खूब प्रभावित हुए। वे झट कहने लगे—वेद-मूर्ति तो परमेश्वर है, मैं उस का रचा एक तुच्छ प्राणी हूँ।

कांगड़ा ज़िला में स्थित कंकेर राज्य के महाराजा रामपालसिंह ऊना आर्य समाज के सदस्य हो गये। महाराज एक सुपठित, उदार विचार के, नरेश थे। अपनी प्रजा के सुधार तथा उत्कर्ष में वे विशेषतया प्रयत्नवान् रहते थे। इन तीन चार उदाहरणों से ही स्पष्ट है कि आर्य समाज का सन्देश मानव समाज की सभी श्रेणियों में अपना प्रभाव पैदा करता जा रहा था। राजा-प्रजा, साधु-गृहस्थ सभी एक साथ आर्य सभासद बन समानता के उच्च सिंहासन पर सुशोभित हो रहे थे। ऋषि की कचहरी में राजा तथा रंक का भेद मिट रहा था। मनुष्य मनुष्य का बाँधव बन समान भाव से संपूर्ण मानव परिवार से प्यार कर रहा था।

जन-बल के अतिरिक्त धन-बल भी संस्थाओं का स्तंभ-रूप होता है। जब धनी मानी पुरुष स्वयं समाज में सम्मिलित हो रहे थे, तो फिर उस में धन की भी कमी कैसे रह सकती थी? बड़े-बड़े दानों के एक दो उदाहरण दे देने से समाज की उस समय की सर्व-प्रियता का एक और प्रमाण मिल जायगा।

१८८५ में फरुखाबाद के सेठ रामनारायण द्वारा शिमला आर्य समाज को साठ हज़ार रुपये का एक विशाल वन दिये जाने का समाचार मिलता है यह दान मिलते-मिलते रह गया। १८८९ में महाराज रणजीतसिंह के पोते सरदार जंगजोध-

सिंह ने सियालकोट आर्य समाज को पांच-छः हज़ार की भूमि समाज मन्दिर बनाने के लिए दी। जैसे हम ऊपर कह चुके हैं, उन दिनों चार-चार आने का दान कर लोग अपना नाम समाचार पत्रों में अंकित देखने के उत्सुक रहते थे। जब दान का मान-दण्ड इतना निकृष्ट था, उस समय छः हज़ार की राशि भी सच-मुच आश्चर्य-कारक थी। आर्य समाज की विशेष संस्था उस समय तक डी० ए० वी० कालेज थी। अधिक दान उसी के लिए माँगा जाता था। समाजों के उत्सवों पर अपील कालेज ही के लिए होती थी। वेद-प्रचार की विशेष निधि बहुत पीछे बनी। ऐसी स्थिति में प्रचार-कार्य के लिए छः हज़ार का दान असाधारण प्रचार-प्रेम ही का परिणाम हो सकता है।

आर्य समाज के प्रचार का सीधा परिणाम तो स्वयं आर्य समाजों का संघटन था। इन की देखा-देखी तथा इन के कार्य के विरोध के लिए पौराणिक भाई भी संघटित होने लगे थे। गोरक्षिणी सभाओं का वर्णन करते हुए हम रुड़की आदि स्थानों की धर्म सभाओं की ओर संकेत कर चुके हैं। ये धर्म सभाएँ सब जगह बनाई जा रही थीं। इन का एक केन्द्रीय संघटन धर्ममहामण्डल के नाम से बनाया गया और उस के प्रचारक घूम-घूम कर मूर्ति-पूजा, श्राद्ध, विधवा-विवाह-निषेध, जात-पात आदि विषयों पर पौराणिक पक्ष का मण्डन तथा आर्य समाज का खण्डन करने लगे। पंजाब में भी इस मण्डल की एक शाखा खुली जिस के मुख्य कार्यकर्त्ता पं० दीनदयालु शर्मा थे। उस समय

इन्हें मुन्शी दीनदयाल कहते थे। मुन्शी जी की वक्तृत्व-शक्ति बड़ी प्रभावशालिनी थी। इन की मधुर स्वर-भंगी, प्रांजल भाषा, हिन्दी और उर्दू दोनों का मीठा उच्चारण, फिर बीच-बीच में तुलसी के दोहों और चौपाइयों का स्वर-सहित गान और कहीं-कहीं फ़ारसी और उर्दू के शेर अलापने लग जाना जनता पर जादू का सा असर छोड़ जाता था। मुन्शी जी के व्याख्यानों में अभिनय भी रहता था। इन का जवाब स्वा० अच्युतानन्द, स्वा० स्वात्मानन्द तथा पं० गुरुदत्त ने दिया। एक दिन पण्डित जी के व्याख्यान के पश्चात् जब लोगों को आर्य समाज में सम्मिलित होने की प्रेरणा की गई तो ५० सभासद नए बन गये।

सनातन धर्म के एक प्रचारक स्वा० केशवानन्द ने भी मण्डली-सहित पंजाब का दौरा किया। ये महानुभाव स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थ की चुनौती देते थे। आर्य पण्डित बुलाये जाने पर नियमों का ही निश्चय करते-करते समय टल जाता था। इस दौरे के परिणाम-स्वरूप इन स्वामी जी ने ख़ूब धनोपार्जन किया। कनखल में इन महात्मा का विशाल भवन उन धर्म-यात्राओं की करामात है। मा० दुर्गा-प्रसाद, ला० मुरलीधर, पं० गुरुदत्त और स्वा० अच्युता-नन्द आदि आर्य समाज की ओर से इन के आन्दोलन का उत्तर देते रहे।

केवल कट्टरता के बल पर कोई धर्म स्थिर नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष बेहूदगियों को आख़िर हटाना ही पड़ता है। संघर्ष का परिणाम पूरा संशोधन न भी हो तो भी आंशिक

परिवर्तन के बिना काम नहीं चल सकता। अपने सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करने के लिए सनातन धर्मी हिन्दी तथा संस्कृत का अध्ययन करने लगे। उन की पुष्टि में हेतु ढूँढते-ढूँढते उन का रूप तर्क-संगत अर्थात् अर्ध-आर्यसमाजिक बना लिया। इस प्रकार समाजी-सनातनी लड़ते-लड़ते भी एक-दूसरे के निकट आ रहे थे।

देव-मन्दिरों में आये दिन देवताओं के निरादर, चोरी, अप्रतिष्ठा आदि की घटनाएं हो ही जाती थीं। आर्य पत्र उन पर बग़लें बजाते और कहते—लो! तुम्हारे देवी देवताओं के सामर्थ्य का यह हाल है। ये अपनी रक्षा तो कर नहीं सकते। तुम्हारी सहायता क्या करेंगे? फिर देवताओं का तिरस्कार जाति का भी तो तिरस्कार है। मूर्ति-पूजा न करो तो यह रोज़ का तिरस्कार काहे को सहना पड़े? हिन्दुओं को अपनी मान-रक्षा कठिन हो रही है। इस पर देवता भी अपनी मान-रक्षा आप न कर उस का भार भक्तों पर डाल दें तो इस दुर्बल जाति का क्या बने?

त्यौहारों और संस्कारों का रूप धीरे-धीरे बदल रहा था। शुद्ध होली, वैदिक प्रकार का ऋषि-तर्पण, यज्ञ रूप में माघी—इस प्रकार की पर्व-प्रक्रिया का वर्णन जगह-जगह मिलता है। विवाहों से वेश्याओं का नाच उड़ रहा था। ग़ज़लों और ठुमरियों का स्थान भजन ले रहे थे। अश्लीलता हट रही थी। सद्धर्म के साथ-साथ सदाचार की विजय हो रही थी।

इन सब सुधारों का रास्ता कँटीला था। स्वार्थ कट्टरता

का साथ दे रहा था। जो प्रथाएँ पुराने काल से प्रचलित चली आईं उन का एकाएक छोड़ देना एक अचंभा-सा प्रतीत होता था। प्रथा बुरी भी हो परन्तु पूर्वजों द्वारा प्रचलित की गई है, इस लिए पवित्र है। तार्किकों को यह युक्ति विचित्र प्रतीत होगी, परन्तु सामाजिक मनोविज्ञान का यह आधार-भूत सिद्धान्त है। इसी के आधार पर पौराणिकता का प्राचीन दुर्ग स्थिर है। इस भ्रम-जाल के साथ-साथ यदि जाति के एक भाग की आजीविका का निर्भर भी पुरानी रूढ़ियों के क़ायम रहने पर ही तो सुधार का धर्म कितना दुर्गम होगा? पौराणिकता का दुर्ग कैसा अजेय होगा? आर्य प्रचारकों ने इसे किन कठिनाइयों से हिलाया—इस का अनुमान हम आज आसानी से नहीं कर सकते। हमारे पण्डितों की युक्तियाँ कैसी ही रही हों, उन्हें मधुरता छोड़ कठोरता का अवलंबन करना पड़ा हो, परन्तु वे वास्तविक अर्थों में सुधारक थे। सुधारक को कटु भी हो जाना ही पड़ता है। उन्हों ने जाति के फोड़ों को देखा और झट चीर दिया। जाति चीखी-चिल्लाई। परन्तु उस का उस समय का हित उसे रुलाने, उस की चीख़-पुकार को न सुनने ही में था। फिर गुरुदत्त, मुन्शीराम, देवराज आदि मर्हम रखने वाले भी तो विद्यमान थे। इन की वाणी में कठोरता नहीं, अत्यन्त मृदुता, अत्यन्त मधुरता थी। आर्य समाज खण्डन तथा मण्डन—इन दोनों अस्त्रों से भ्रान्तियों के अभेद्य दुर्ग हिला-हिला तथा गिरा-गिरा कर सद्धर्म के गगन-चुम्बी भवनों का निर्माण साथ-साथ किये जा रहा था।

डी० ए० वी० कालेज

डी० ए० वी० कालेज की स्थापना ऋषि के स्मारक के रूप में हुई। इस का प्रस्ताव ऋषि के निर्वाण के एक सप्ताह पश्चात् ही हो गया था। ९ नवम्बर १८८३ को लाहौर में एक विराट् सभा कर उस के लिए आठ हज़ार की प्रतिज्ञाएँ भी करा ली गईं। "आर्य पत्रिका" का संपादक अत्यन्त प्रसन्नता-पूर्वक लिखता है कि इस दान में देवियों, बच्चों तथा लघु कर्मचारियों का भी नाम था। इस प्रस्ताव के होने से ऋषि के देहावासन के शोक का स्थान उन के स्मारक की स्थापना के उत्साह ने ले लिया। अन्यत्र अन्य प्रस्ताव भी हुए। परोपकारिणी सभा की ओर से दयानन्द-आश्रम के अंग-रूप ऐंग्लो-वैदिक कालेज का निर्माण पास हुआ था, परन्तु लाहौर के आर्यों की साहस-पूर्ण कर्मण्यता में अन्य सभी आयोजनाएँ विलीन हो गईं। पहिले-पहिल इस कालेज के आन्दोलन के समाचार ट्रिब्यून आदि समाचार पत्रों में प्रकाशित हो जाते थे परन्तु बहुत जल्दी यह अनु-

भव होने लगा कि आन्दोलन के ये साधन पर्याप्त नहीं हैं। एक व्यापक आन्दोलन बिना अपने पत्र के नहीं हो सकता। "आर्य पत्रिका" का प्रकाशन इसी अनुभूति का परिणाम था। १८८७ के कालेज के वृत्तान्त में ला० लालचन्द, जो डी० ए० वी० कालेज सोसाइटी के प्रधान थे, "आर्य पत्रिका" की सेवाओं का मुक्त-कण्ठ से धन्यवाद करते हैं।

कालेज के लिए पहिली "इलतिमास" (अपील) २३ दिसंबर १८८३ को निकाली गई। इस अपील के चौथे पैरे में लिखा है:—

> आर्य समाज ने बहुत विचार तथा विमर्श के पश्चात् यह तजवीज़ सोची है कि उस महात्मा तथा ब्रह्मर्षि के स्मारक-रूप में एक महाविद्यालय अर्थात् कालेज ऐसा बनाया जाय जिस में संस्कृत भाषा का, उच्च कक्षा तक अध्ययन हो और वेद और वेद-विद्या के ग्रन्थ भी पढ़ाए जायँ। और इस लिए कि जीविकोपार्जन तथा पाश्चात्य विद्याओं की प्राप्ति के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा का होना भी आवश्यक है, उस में अंग्रेज़ी शिक्षा भी उच्च कक्षा तक हुआ करे।

पाँचवें पैरे में लिखा है :—

> इस प्रकार के कालेज को दृढ़ आधार पर स्थिर करने के लिए एक बृहत् राशि की आवश्यकता है जिस के व्याज अथवा लाभ से उस का संपूर्ण ख़र्च हमेशा के लिए निकलता रहे। इस राशि का अनुमान दस लाख रुपया दिया गया है।

इस अपील के साथ दान माँगना आरंभ किया गया। हम ऊपर कह चुके हैं कि उन दिनों दान का मान-दण्ड अत्यन्त निकृष्ट था। शिक्षा के लिए दान देने की प्रथा ही न थी। १८८७ की रिपोर्ट में ला० लालचन्द इस बात को देख कर दुःखी हैं कि किसी राजा महाराजा ने कालेज की आयोजना को नहीं अपनाया। कालेज के सहायक मध्यम श्रेणी के लोग थे। समाज के प्रायः सभासद इसी श्रेणी के थे। उन्हें जहाँ ऋषि से प्रेम था, वहाँ संस्कृत भाषा और वेद-वेदांग की शिक्षा से मानव समाज में सतयुग के आ जाने की आशा भी थी। ऋषि के संकल्पों को उन के स्मारक द्वारा पूर्ण होते देखने की अभिलाषा उन्हें सर्वस्व स्वाहा कर देने पर उत्साहित कर रही थी। ऋषि के भक्त केवल पंजाब तक ही परिमित न थे। आगरे का एक विद्यार्थी थियेटर जाने लगा। उसे १) का फर्स्ट क्लास का टिकट लेना था। उसने ॥) का सेकंड क्लास का टिकट खरीद किया और ॥) बचा कर डी० ए० वी० कालेज को भेज दिये। समाजों के उत्सवों पर पं० गुरुदत्त एम० ए० अपील किया करते थे। वे कहीं ब्रह्मचर्य, कहीं वेद-वेदांग, कहीं आर्य संस्कृति, कहीं प्राचीन शिल्प तथा विद्या—इत्यादि-इत्यादि के पुनरुद्धार के नाम पर कालेज के उज्ज्वल भविष्य की रोचक तसवीरें खेंच-खेंच कर लोगों की थैलियों के मुँह खुलवा लेते थे। देवियाँ अपने भुजाओं से अनन्त तथा चूड़ियाँ उतार-उतार कर दे रही थीं। हिन्दू तो हिन्दू, गक्खड़ (मुलतान) के रईस राजा जहाँ-

दादखाँ ई० ए० सी० ने अपना एक मास का वेतन प्रदान किया। अपीलों में ही लिखा गया था कि इस संस्था का लाभ केवल हिन्दुओं तक ही परिमित न रहेगा। भारत वर्ष की संपूर्ण जातियाँ इस के शुभ परिणामों से लाभ उठा-यँगी। अमृतसर आर्य समाज के १८८५ के उत्सव पर प्रतिनिधि सभा की आयोजना हो रही है परन्तु अपील फिर भी कालेज के लिए होती है। होशियारपुर समाज के मन्त्री ला० मुरलीधर व्याख्यान देने खड़े होते हैं। कालेज की लग्न में बह कर कह बैठते हैं:—अपना एक मास का वेतन १५०) कालेज को देने का वचन तो मैं दे ही चुका हूँ पर इस से सन्तोष नहीं होता। अब इस राशि की मात्रा १५०) के स्थान में १०००) किये देता हूँ। ३१ जनवरी १८८६ को डी० ए० वी० कालेज सोसाइटी का पहिला अधिवेशन हुआ। उस के द्वारा स्वीकृत किये गये नियमों के अनुसार प्रत्येक उस समाज को जो १०००) दान एकत्रित करे अपनी संपूर्ण अन्तरंग सभा को सोसाइटी में और उस समाज की अन्तरंग सभा को अपना प्रतिनिधि प्रबन्ध-समिति में भेजने का अधिकार दिया गया। एक से अधिक प्रतिनिधि प्रत्येक ५०००) के पीछे एक के हिसाब से भेजा जा सकता था।

१८८७ के वृत्तान्त में उन समाजों के नाम दिए गए हैं जिन्हों ने कालेज के लिए धन भेजा। अधिकांश समाज पंजाब के हैं। बड़ी-बड़ी राशियाँ भी उन्हीं से प्राप्त हुई हैं। परन्तु इस सूची में मंगलोर तथा रुड़की आदि अन्य प्रान्तों

के समाजों का नाम भी है। वैयक्तिक दानों में लून मियानी के ला० ज्वालासहाय की ८०००) की राशि सब से बड़ी है। रायबहादुर मेलाराम ने २०००) दान दिया है। साधु रमताराम के उद्योग से धर्म-घटों की स्थापना हुई जिन में कालेज के प्रेमियों ने प्रतिदिन एक मुट्ठी आटा डालने का संकल्प किया। इस आटा फ़राड की वार्षिक आय किसी-किसी समाज की अवस्था में आठ-आठ सौ रुपये तक जा पहुँची। संस्कारों और पर्वों के अवसर पर कालेज के लिए दान दिया जाने लगा। किसी ने मदिरा या तम्बाकू का त्याग किया और उस की बचत कालेज के अर्पण कर दी। कथन का सार यह कि उस समय डी० ए० वी० कालेज समाज की लाडली संस्था थी। ऋषि का स्मारक—इस पुराय विचार ने इस भावी संस्था को एक अत्यन्त पवित्र संस्था बना दिया था। दुर्गुण-त्याग, सद्गुण-ग्रहण, उत्सव, पर्व, संस्कार—कोई भी शुभ अवसर हो, कालेज के लिए आत्म-त्याग का शुभ संकल्प उस का एक आवश्यक अंश हो गया।

इन सब स्रोतों से १८८५ तक ५१,०००) की प्रतिज्ञाएँ हो चुकी थीं। इस राशि में से २०,०००) प्राप्त भी हो गया था। जून १८८६ में फ़ंडिड कैपिटल अर्थात् स्थिर कोष की मात्रा ६४६६४६॥।-)॥। बताई गई है। इस राशि में से ६१,९८५॥≥)। समाजों के द्वारा आया है और शेष अर्थात् तीन हज़ार से भी कम प्रबन्ध-समिति ने स्वयं प्राप्त किया है। अन्यत्र स्थिर कोष की मात्रा ३६,०००) बताई गई है। संभवतः

यह प्राप्त राशि होगी और शेष प्रतिज्ञात। उपर्युक्त राशियाँ ही बता रही है कि कालज का आन्दोलन वास्तव में एक सर्वजनीन आन्दोलन था। यह किसी श्रेणि-विशेष की कृपा अथवा श्रम का परिणाम नहीं, किन्तु सर्व साधारण के साझे उद्योग का फल था। ऋषि के प्यारे धनी भी थे, निर्धन भी, नागरिक भी थे, ग्रामीण भी, वृद्ध भी थे, युवक और बालक भी, पुरुष भी थे, स्त्रियाँ भी। ये भक्त केवल लाहौर ही में नहीं, संपूर्ण देश में फैले हुए थे। प्यारे ऋषि के प्यारे स्मारक के लिए संपूर्ण आर्य जनता त्याग-पूर्वक आहुति दे रही थी। आर्य समाजों के अधिकारी ये आहुतियाँ एकत्रित कर लाहौर में पहुँचा देते थे।

जैसे हम ऊपर कह आये हैं, १८८५ में ला० हंसराज नाम के एक युवक ने बी० ए० परीक्षा पास की। उत्तीर्ण विद्यार्थियों में इस का स्थान दूसरा था। जहाँ और लोग अपनी गाढ़ी कमाई ऋषि के स्मारक के अर्पण कर रहे थे, वहाँ इस ने अपने आप को इस यज्ञ का हव्य बना दिया। मरणान्त अवैतानिक सेवा का व्रत ले कर यह नवयुवक कालेज के सेवकों में भर्ती हो गया। प्रबन्ध-समिति को और क्या चाहिए था? चौंसठ हज़ार रुपया और हंसराज की आजन्म सेवा—इन दो अमूल्य सम्पत्तियों को शाकल्य बना १ जून १८८६ को डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना का यज्ञ किया गया। एक सप्ताह के अंदर-अंदर दस श्रेणियाँ खोल दी गईं। १८८७ की रिपोर्ट में छात्रों की संख्या ५०५ बताई गई है। एंट्रेंस (अधिकारी) परीक्षा पंजाब तथा कलकत्ता दोनों यूनिव-

सिटियों की दिलाई जाने लगी। कलकत्ता यूनिवर्सिटी में ४ विद्यार्थी भेज गये और चारों पास हुए। पंजाब में २१ में से ७ उत्तीर्ण हुए परन्तु कुछेक शोक-जनक नियम-भंग हो जाने के कारण यह परीक्षा रद्द कर दी गई। इन सात विद्यार्थियों के पास हो जाने पर भी सन्तोष प्रकट किया गया है और कहा गया है कि अन्य संस्थाओं के परिणाम इस से अच्छे नहीं थे।

रजिस्ट्री कराए गये स्मरण-पत्र में डी० ए० वी० कालेज के निम्न-लिखित उद्देश्य बताये गये हैं :—

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती के स्मारक-रूप में पंजाब में एक ऐंग्लो-वैदिक कालेज संस्था स्थापित करना जिस में एक विद्यालय, एक महाविद्यालय और एक आश्रम सम्मिलित होंगे और जिस के उद्देश्य ये होंगे :—
   (क) हिन्दी साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहित, उन्नत तथा प्रचलित करना।
   (ख) प्राचीन संस्कृत साहित्य और वेदों के अध्ययन को प्रोत्साहित तथा प्रचलित करना।
   (ग) आँगल भाषा के साहित्य तथा विचारात्मक और क्रियात्मक विज्ञानों के अध्ययन को प्रोत्साहित तथा प्रचलित करना।

२. जहाँ तक प्रथम उद्देश्य की उचित पूर्ति के साथ ऐसा करना असंगत न हो दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालेज संस्था से सम्बद्ध शिल्प की शिक्षा के साधन जुटाना।

स्मारक की स्थापना से पूर्व इस की आयोजना का मसविदा समाजों में भेजा गया था। उस मसविदे के आरम्भ ही में इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है कि आजकल का शिक्षित समुदाय विदेशी शिक्षा के कारण सर्वसाधारण से अलग होता जा रहा है। इस अवाञ्छनीय अवस्था का उपाय करने के लिए ऐसी शिक्षा-संस्था का उद्घाटन आवश्यक समझा गया है जो राष्ट्रिय भाषा के अध्ययन को प्रोत्साहित कर शिक्षितों तथा अशिक्षितों को एक कर दे। यह दूसरे शब्दों में कालेज के प्रथम उद्देश्य की प्रथम धारा की व्याख्या है। संस्कृत साहित्य के अध्ययन पर बल दे कर नैतिक तथा आध्यात्मिक तथ्यों के ज्ञान का प्रचार इस संस्था की दूसरी विशेषता बताई गई है। यह प्रथम उद्देश्य की दूसरी धारा का सहेतुक प्रतिपादन है। तीसरी विशेषता नियमित जीवन द्वारा स्वस्थ और शक्ति-सम्पन्न स्वभाव का निर्माण करना है। चौथी विशेषता अँग्रेज़ी साहित्य से पर्याप्त परिचय को प्रोत्साहित करना है। यह प्रथम उद्देश्य की तीसरी धारा का अनुवाद है। पाँचवीं विशेषता भौतिक तथा क्रियान्वित विज्ञानों के प्रचार द्वारा देश की आर्थिक उन्नति को प्रेरित करना है। यह दूसरे उद्देश्य का सकारण प्रतिपादन है। अन्य सब विशेषताएँ तो अध्ययन से सम्बन्ध रखती हैं परन्तु तीसरी विशेषता का लक्ष्य विद्यार्थियों के क्रियात्मक जीवन को उन्नत करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आश्रम (बोर्डिंग हौस) की स्थापना हुई।

इन उद्देश्यों को क्रियान्वित करने के लिए प्रस्ताव

किया गया कि प्रारंभिक शिक्षा जो प्रथम तीन श्रेणियों तक चले, हिन्दी ही में हो। उर्दू चौथी श्रेणी से पढ़ाया जाय और वह भी केवल काम-चलाऊ। शिक्षा का माध्यम इस विभाग में भी हिन्दी हो। हाँ! संस्कृत, अंग्रेज़ी तथा उर्दू की शिक्षा स्वयं इन भाषाओं में दी जाय।

उन दिनों मैट्रिक्यूलेशन (अधिकारी) परीक्षा के लिए पुस्तकें नियत नहीं होती थीं। कालेज समिति को अपनी पुस्तकें अपने आप तय्यार करानी थीं। अन्य विद्यालयों की शिक्षा के साथ-साथ डी० ए० वी० स्कूल में संस्कृत का उत्कृष्ट अध्ययन भी किया जाना था। फिर कुछ व्यवसाय की शिक्षा भी मिलनी थी। कालेज के संस्थापक अपनी संस्था को सर्वांग-पूर्ण बनाना चाहते थे। उन का विचार यह था कि उन के महाविद्यालय से पास हो चुके छात्र जहाँ रोटी कमा सकें वहाँ आत्मा की भूख भी मिटा सकें। व्यवसाय की शिक्षा पाने वालों के लिए न तो मैट्रिक्यूलेट होना आवश्यक था और न आगे जा कर यूनिवर्सिटी की उपाधि लेना।

कालेज विभाग में फिर मुख्य स्थान संस्कृत ही को देने का विचार था। ख़याल यह था कि अन्य विषयों की संख्या तथा पाठ-क्रम को परिमित कर संस्कृत पर अधिक बल दिया जाय। यूनिवर्सिटी की पाठ-विधि का अनुकरण न करते हुए अपनी तय्यार कराई पुस्तकों द्वारा छात्रों की योग्यता को इतना उत्कृष्ट कर देना था कि "संस्कृत साहित्य का उच्च ज्ञान भी अच्छी तरह प्राप्त हो जाय और यूनिवर्सिटी

की उपाधियों की उपलब्धि में भी कठिनता न हो ताकि उन (छात्रों) का सांसारिक भविष्य भी आपत्ति-रहित रहे।" स्नातकोत्तर परीक्षा हो ही केवल संस्कृत में।

व्यवसाय की शिक्षा की पद्धति निर्धारित करने के लिए भारत तथा उस से बाहर रहने वाले इस शिक्षा के प्रेमियों को पत्र लिख दिये गये।

आश्रम जीवन के सम्बन्ध में प्रचलित शिक्षणालयों के वातावरण की निन्दा कर प्राचीन ब्रह्मचर्य के पुनरुद्धार पर बल दिया गया।

आगे चल कर हम देखेंगे कि गुरुकुल के संस्थापक भी थोड़े से हेर-फेर के साथ यही आदर्श और यही उद्देश्य जनता के सम्मुख रखते थे। आर्य समाज अपने आरम्भ-दिवस से ही प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से असन्तुष्ट था। वह उस में सुधार कर प्राचीन और अर्वाचीन—दोनों प्रकार की शिक्षाओं का संमिश्रण कर देना चाहता था।

कुछ हो, इन मसविदों और प्रस्तावनाओं के साथ डी० ए० वी० स्कूल खोल दिया गया। आरम्भ में प्रारम्भिक श्रेणियों से भी उर्दू का बहिष्कार न हो सका। कारण यह कि विद्यार्थी अन्य संस्थाओं से लिये गये थे और वहाँ हिन्दी पढ़ाने का प्रबन्ध नहीं था। इस कठिनता का उल्लेख भी किया गया है कि ओरियेंटल कालेज के ग्रेजुएट संस्कृत तो जानते हैं परन्तु इन्हें कोई विज्ञान नहीं आता। इस लिए उपयुक्त अध्यापकों का अभाव है। इस त्रुटि की पूर्ति की आशा अपने ही कालेज के भावी स्नातकों से की गई है।

विद्यालय की स्थापना का वर्णन ऊपर हो चुका है। आश्रम की आवश्यकता भी शीघ्र ही अनुभव होने लगी। उस के लिए विस्तृत नियम बनाये गये। हम ऊपर कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य के नियमों का पुनरुद्धार आर्य शिक्षा का आधार-भूत उद्देश्य था। पहिले तो आश्रम के नियमों में यह बन्धन लगाया गया कि यद्यपि विवाहित लड़के भी आश्रम में प्रविष्ट हो सकेंगे परन्तु यदि कोई छात्र प्रवेश के पश्चात् विवाह करेगा तो उसे पृथक् कर दिया जायेगा। फिर धीरे-धीरे विवाहितों का प्रवेश केवल आश्रम में ही नहीं किन्तु विद्यालय में भी निषिद्ध हो गया। आजकल महाविद्यालय की उपस्नातक कक्षा तक यह बन्धन लागू होता है। परन्तु अब तो आर्य-भिन्न सभाएँ भी इस बन्धन का आदर कर रही हैं।

१८८९ में एफ़० ए० और १८९४ में बी० ए० विभाग खोल दिया गया। १८९५ में एम० ए० श्रेणी की वृद्धि भी हो गई।

इस के पश्चात् डी० ए० वी० कालेज में अन्य विभाग भी बढ़े हैं परन्तु वे हमारे इतिहास के गुरुदत्त-काल के क्षेत्र में नहीं आते। डी० ए० वी० कालेज अपने आप में एक विशाल संस्थान है। यह खूब फला फूला है। परन्तु इस विचार से इस के संस्थापकों के अपने हृदय भी व्याकुल रहे हैं कि इस सफलता की चमक-दमक में कालेज के प्रारंभिक उद्देश्य दृष्टि से ओझल हो गये हैं।

१८९१-१८९२ की रिपोर्ट में लिखा है कि "सोसाइटी के

प्रधान ने एक ऐसी पाठ-विधि का प्रस्ताव किया है जिस में संस्कृत तथा वैदिक साहित्य की शिक्षा को पर्याप्त स्थान दिया जाय। इस पाठ-विधि के प्रचलित हो जाने से संस्था के मुख्य उद्देश्य की एक बड़े अंश में पूर्ति हो जायगी। विद्यालय विभाग में अर्थ-सहित अष्टाध्यायी को समाप्त कर, मनु तथा दयानन्द की और तथा धर्म का आंशिक अध्ययन कर, भारत के दो महाकाव्यों—रामायण तथा महाभारत—की नैतिक भावना को ग्रहण कर—इस प्रकार संस्कृत व्याकरण, संस्कृत साहित्य और वैदिक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर, वे छात्र अधिकारी परीक्षा पास करने के पश्चात् इस पाठ-विधि में समाविष्ट की गई दर्शन की शिक्षा के लिए पर्याप्त योग्यता-संपन्न होंगे।"

परन्तु यह पाठ विधि क्रियान्वित नहीं हो सकी। सोसाइटी के प्रधान श्री ला० लालचन्द १९११ में कालेज का पचीस वर्षों का वृत्तान्त संकलन कर लिखते हैं:—

"एक कठिन समस्या यह है कि इस प्रान्त में जो इस विश्वास के आधार पर कि संस्कृत का पढ़ना कठिन है इस विषय की ओर शुरू से ही अरुचि पाई जाती है, इसे किस प्रकार दूर किया जाय? इस अरुचि का दूर करना आवश्यक है। इस उद्देश्य से एक विशेष संस्था का उद्घाटन कर हमें अन्य संस्थाओं की अपेक्षा अधिक अच्छे परिणाम दिखा सकने चाहिएँ। परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि हम दूसरे प्रान्तों के पैमाने तक भी नहीं पहुँचे हैं। यदि बंगाल तथा महाराष्ट्र के विद्यार्थी

यूनिवर्सिटी की उपाधियों के साथ-साथ संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान भी प्राप्त कर लेते हैं तो कोई कारण नहीं कि पंजाब का छात्र कम से कम इतना भी न कर सके। कुछ हो उस की मानसिक रचना में किसी ऐसी त्रुटि के होने का मुझे ज्ञान नहीं है जो संस्कृत के अध्ययन में विशेषतया बाधक हो। यदि पारम्परिक जन श्रुति पर विश्वास किया जाय तो संस्कृत साहित्य की कुछ उत्कृष्टतम कृतियों की रचना जिन में से एक रामायण भी है, पंजाब के ही मैदानों में हुई थी।"

इस से पूर्व यही महानुभाव कह आए हैं कि "मसविदे में वर्णन किये गये आदर्श की पूर्ति—और मैं विश्वास से कह सकता हूँ कि समिति के प्रत्येक सदस्य के हृदय में संस्था का वही आदर्श है—अभी बहुत दूर है। और मेरे विचार में जनता के तथा संस्था के सहायकों और दानियों के प्रति हमारा कर्तव्य है कि हम उसे आदर्श की दिशा में प्रगति करने के लिए स्थिर पग उठाएँ।"

ये उद्धरण १९११ के हैं। इस से पूर्व हम १८९१–९२ की रिपोर्ट से भी कुछ वाक्य उद्धृत कर चुके हैं। जिस काल का हम इतिहास लिख रहे हैं, वह १८९० में समाप्त हो जाता है। जब १८९१ तो क्या १९११ में भी वेद तथा संस्कृत को उचित स्थान न दिये जाने की शिकायत है और यह विरोधियों को नहीं, किन्तु कालेज के स्वयं संचालकों को, तब १८९० में इस शिकायत का रूप कितना उग्र होगा, इस का अनुमान आसानी से किया जा सकता है।

१८९१-९२ की रिपोर्ट में ला० लाजपतराय कहते हैं:—"यह (प्रधान द्वारा प्रस्तावित) पाठ विधि उन लोगों के लिए भी सन्तोष का कारण होनी चाहिए जो इस संस्था में संस्कृत के अधिक व्यापक अध्ययन के लिए आग्रह करते हैं और उन के लिए भी जो यह कह कर इस व्यापक अध्ययन का विरोध करते रहे हैं कि ऐसा करना सोसाइटी के नियमों में बनाए गये उद्देश्यों के विरुद्ध और (अन्यथा) अवाञ्छनीय होगा।"

यह उद्धरण बतला रहा है कि १८९१ से पूर्व कालेज के सहायकों में एक ऐसा दल पैदा हो गया था जो कालेज की पाठ-पद्धति में संस्कृत की शिक्षा के प्रबन्ध को अपर्याप्त समझ असन्तुष्ट था। १८९१ में इस त्रुटि को पूर्ण करने के लिए स्वयं सोसाइटी के प्रधान महोदय ने एक पाठ-पद्धति बनाई थी। इस असन्तोष के औचित्य का इस से अधिक प्रबल प्रमाण क्या हो सकता है कि यही प्रधान महोदय १९११ में स्वयं विद्रोहियों की लय में लय मिला रहे हैं?

हम ऊपर कह आये हैं कि समाजों के उत्सवों पर कालेज के लिए अपील प्रायः पं० गुरुदत्त किया करते थे। उन की अपील का आधार वेद के मन्त्र होते थे। इन से वे विविध विज्ञानों, नीति के विविध सूत्रों, दर्शन की विविध धारणाओं का प्रतिपादन करते थे। प्राचीन संस्कृत साहित्य के उद्धरणों से हमारे पूर्वजों की विशाल विद्या तथा उदार विचार को प्रमाणित कर श्रोताओं को उस विद्या की प्राप्ति की प्रेरणा देते थे और ब्रह्मचर्य आदि व्रतों पर आश्रित शिक्षा

को ही प्राचीन ऋषियों की शिक्षा-पद्धति बताते थे। कालेज उन की दृष्टि में इन आदर्शों की प्राप्ति का मूर्त प्रयत्न था। वे कालेज की प्रबन्ध-समिति में तो आरम्भ से थे ही। १८८७-८८ में संयुक्त मन्त्री और १८८८-८९ में मन्त्री भी रहे।

उन्हों ने एक बार प्रबन्ध-समिति से ५०००) इस लिए मांगा कि इस से एक संस्कृत पुस्तकालय की स्थापना की जाय। अधिकारी सहमत न हो सके। पण्डित जी पाश्चात्य विज्ञान के तो गवर्नमेंट कालेज में अध्यापक ही थे परन्तु इन्हें विशेष उन्माद प्राचीन संस्कृत का था। इन्हों ने स्वयं निजू रूप में एक अष्टाध्यायी-श्रेणी खोल रखी थी जिस में उस समय के बड़े-बूढ़े पढ़ने के लिए आते थे।

डी० ए० वी० कालेज में जब महाविद्यालय विभाग खोला गया तो पण्डित जी के भक्तों ने प्रस्ताव किया कि कालेज का प्रिंसिपल इन्हें बनाया जाय। वृद्धों ने कुछ तो इस कारण कि वे ला० हंसराज को प्रिंसिपल बनाने के लिए उन के जीवन-दान के दिन से वचन बद्ध थे और कुछ इस लिए कि पण्डित जी का अपना जीवन अन्य प्रतिभा-शाली व्यक्तियों के सदृश सर्वथा अनियमित था, इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। ये सब बातें इस बात की द्योतक हैं कि कालेज के प्रेमियों ही में एक ऐसा समुदाय पैदा हो रहा था जो कालेज में संस्कृत की प्रधानता चाहता था। उस की दृष्टि में आदर्श विद्वान् गुरुदत्त था। वह उसी को कालेज के आचार्य की कुर्सी पर सुशोभित देखना चाहता था। प्रश्न व्यक्तियों का नहीं, आदर्शों का था। गुरुदत्त एक

आदर्श की मूर्ति थे, हंसराज दूसरे आदर्श की। कालेज में प्रतिष्ठा हंसराज के आदर्श की थी। एक बात इन दोनों नवयुवकों के श्रेय को हमेशा चमत्कृत किये रखेगी कि इन्हों ने अपने आप को वैयक्तिक रूप से इस मान के लिए एक दूसरे का प्रतिस्पर्धी नहीं बनाया। गुरुदत्त ने आचार्य पद का कभी ध्यान ही नहीं किया। वे अपने घर पर ही अष्टाध्यायी की श्रेणी लगा कर सन्तुष्ट रहे।

संस्कृत के प्रेमियों का यह असन्तोष आखिर उपदेशक क्लास के आन्दोलन के रूप में परिणत हुआ। उन के उत्साह को इस दिशा में प्रवृत्त कर देने के लिए १८८६ के अन्त में स्वयं ला० लालचन्द ने प्रतिनिधि सभा में प्रस्ताव किया कि उपदेशक क्लास की स्थापना कर दी जाय। इस आन्दोलन के नेताओं में स्वा० रामानन्द तथा पं० गुरुदत्त आदि मुख्य थे। कुछ समय यह भी समस्या रही कि यह क्लास डी० ए० वी० कालेज सोसाइटी के अधीन हो या प्रतिनिधि सभा के? परन्तु इस उलझन को तो स्वयं ला० लालचन्द ने ही सुलझा दिया। स्वयं उन के प्रस्ताव से शिक्षा का मार्ग उपदेश के मार्ग से अलग हो गया। इस के पश्चात् क्रमशः अलग हो जाने तथा एक ही सभा द्वारा दोनों कार्य चलाए जाने की प्रवृत्तियाँ फिर-फिर प्रकट होती रही हैं। यह अभी समय को सिद्ध करना है कि कौनसी नीति अधिक फल-दायिनी है? क्या प्रचारक सभाएँ उदार शिक्षा का प्रबन्ध कर सकती हैं या नहीं? या क्या उदार शिक्षा का प्रबन्ध करने वाली सभाएँ धर्म प्रचार अथवा उपदेशकों की शिक्षा का प्रबन्ध कर

सकता है या नहीं? इस का समाधान अन्यत्र तो हो ही चुका है। हमारे लिए अभी कुछ और समय बीतने की अपेक्षा है।

१८८८ में पं० गुरुदत्त ने लाहौर आर्य समाज के उत्सव पर कालेज के लिए अपील इन शब्दों में की थी:—

आधुनिक विज्ञान के कुछ भी गुण हों, जीवन की समस्या पर इस से ज़रा भी प्रकाश नहीं पड़ता। मनुष्य के आरंभ तथा अन्तिम उद्देश्य की समस्या उन सब समस्याओं से अधिक गौरवान्वित तथा कठिन है जो मनुष्य के हृदय को व्याकुल किये रहती हैं। और इस समस्या के समाधान का कुछ भी पता आधुनिक विज्ञान को नहीं है।.........इस समस्या का समाधान वेदों की सहायता के बिना नहीं हो सकता।......... वेदों को प्राचीन ऋषियों ने संपूर्ण विद्या का स्रोत समझा था और उन का यह विचार सहेतुक था।....... वही वेद का शाश्वत सूर्य फिर उदित हुआ है।......... यह सौभाग्य की स्थिति स्वामी दयानन्द के प्रयत्न का परिणाम है।.........जिन की आत्माएँ अब भ्रान्तियों के अन्धकार में विलुप्त होने से बच गई हैं, उन का कर्तव्य है—परमावश्यक कर्तव्य है—कि संदेहवादी के संदेह का उपाय करें और हठी और धर्मान्ध को उस के हठ और धर्मान्धता से बचाएँ। इस की विधि यही है कि वे उन संस्थाओं की सहायता करें जिन में आने वाली पीढ़ियाँ धीरे-धीरे बिना इस बात को अनुभव किये इस स्थिति पर पहुँच जाने के लिए तय्यार की जा रही हैं।"

व्याख्याता ने संस्था का नाम नहीं लिया परन्तु श्रोताओं ने यही समझा कि उन का संकेत डी० ए० वी० कालेज की ओर है। गुरुदत्त की दृष्टि में डी० ए० वी० कालेज का क्या स्वरूप था?—यह इस भाषण से ही स्पष्ट है। कालेज में पश्चिम की प्रधानता पण्डित जी को सन्तुष्ट नहीं कर सकती थी। उन्हें केन्द्र बना कर पूर्व के पुजारियों का एक समुदाय कालेज की वर्तमान स्थिति के विरुद्ध विद्रोह के लिए एकत्रित हो रहा था। संभव है, पण्डित जी को इस विद्रोह का ज्ञान ही न हो या अपनी शान्ति-प्रियता के कारण वे इसे संयत रख रहे हों। यह सच है कि उन के जीते-जी यह ज्वालामुखी दबा रहा। परन्तु समय आया जब उन के दबाव से विमुक्त हो गये विद्यार्थी क़ाबू से बाहर हो गये और पंजाब के आर्य समाजों को दो विभागों में विभक्त कर देने में पूर्व और पश्चिम की इस प्रतिस्पर्धा ने मुख्य कारण का काम किया। यह कथा गुरुदत्त-काल की नहीं, उस के पीछे आने वाले लेखराम-काल की है। गुरुदत्त के समय जिस ज्वालामुखी का अन्दर-अन्दर से परिपाक हो रहा था, वह उन के देहान्त के पश्चात् अवसर पाते ही फूट पड़ा।

दलितोद्धार का सूत्रपात

आर्य जाति के दुर्भाग्य से इस जाति का एक भाग अछूत या अस्पृश्य कहलाता है। द्विज जातों के लोग इन से छू जाने तक में अपवित्रता मानते हैं। इस छूत-छात के कई भेद हैं। स्वयं इन अस्पृश्य जातियों में परस्पर अस्पृश्यता चलती है। और तो और, आर्य-भिन्न जातियों से इतना घृणा-युक्त व्यवहार नहीं होता जितना अछूतों से। यह जहाँ आर्य जाति के लिए निर्बलता का कारण है, वहाँ इस के पवित्र धर्म पर भी एक कलङ्क है। वह धर्म धर्म ही नहीं जो मनुष्यों से अमानुष व्यवहार की अनुमति दे।

ऋषि दयानन्द ने जात-पात का खण्डन कर इस कुप्रथा के मूल पर ही कुठाराघात कर दिया। जब मानव जाति के सभी व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार किसी भी वर्ण का काम कर सकते हैं तो फिर अस्पृश्यता के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है? अस्पृश्यता तो है ही जन्म-मूलक। जब समाज का विभाग चार वर्णों में किया जायगा

और प्रत्येक व्यक्ति अपने गुण-कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बन सकेगा, तब कोई मनुष्य अछूत काहे को रहने लगा? ऋषि ने तो शूद्रों द्वारा भोजन पकाये जाने का विधान किया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य शूद्रों का पका हुआ भोजन खाएँ। जब यह बात है तो स्वयं द्विजों को शूद्रों ही का बनाया हुआ अन्न खाना होगा। शूद्रों की यह तो रोज़ की "शुद्धि" है। अलग "शुद्धि" की आवश्यकता ही नहीं।

ऋषि के जीवन में एक नाई के प्रस्तुत किये भोजन का वर्णन पाया जाता है जिसे ऋषि ने भरी सभा में अंगीकार किया। यह दूसरे शब्दों में अछूत-उद्धार का पहिला सूत्र-पात था।

ऋषि के अनुयायियों में इस कार्य को सब से पूर्व सामूहिक रूप देने का श्रेय मुजफ़्फ़रगढ़ में काम कर मुज-फ़्फ़रगढ़ी कहलाने वाले पं० गंगाराम को है। पं० गंगाराम रहने वाले तो बजवाड़े के थे परन्तु इन के जीवन का बहुत सा भाग मुज़फ़्फ़रगढ़ ज़िले में व्यतीत हुआ था। इस इलाके में आर्य समाज के अनथक कार्यकर्ता जिन की हड्डियाँ तक इसी इलाके के अर्पण हो गईं, पण्डित जी थे। हम इन के शेष जीवन पर आगे चलकर दृष्टि डालेंगे। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि सामूहिक अछूत-उद्धार का, जिसे आगे जाकर दलितोद्धार तथा पतितोद्धार कहा जाने लगा, सूत्रपात इन्हीं के परिश्रम से हुआ था।

पण्डित जी अभी सात वर्ष के थे कि एक दिन इन के

गाँव के बाहर एक तालाब में, जिस से अछूत लोग पानी ले लिया करते थे, एक लड़के ने पेशाब कर दिया। पण्डित जी

श्री पं० गंगाराम जी

उस लड़के से लड़ पड़े और जब तक उस ने क्षमा न माँग ली उसे इन्हों ने छोड़ा नहीं। इन के जीवन की यह घटना

आगे आने वाले, इन के द्वारा किये गये अछूत-उद्धार के कार्य की मानो पूर्व-छाया थी।

तीस वर्ष की आयु में जब ये मुज़फ्फ़रगढ़ में ओवरसियर थे, इन की दृष्टि में एक जाति ऐसी आई जो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच बीच में थी। ये अपने मृतकों को तो दबा देते, शेष देव-पूजन, तीर्थ-यात्रा, पर्वों तथा मोटे-मोटे संस्कारों यथा विवाह इत्यादि में पुरोहितों की सहायता लेते तथा हिन्दुओं का सा व्यवहार करते थे। परन्तु थे ये अस्पृश्य। सर्व-साधारण इन्हें "ओड" कहते थे, परन्तु इन का अपना नाम भगीरथ था।

भगीरथ लोग अपने उद्भव का स्रोत सगर राजा को बताते थे। उन का कहना था कि सगर की सन्तान जिसकी संख्या साठ हज़ार थी, एक ऋषि की आज्ञानुसार प्रतिदिन नया कुआँ खोद कर उस के पानी से यज्ञ किया करती थी। इस से पृथिवी माता को कष्ट होता था। एक बार पृथिवी ने इन्हें पानी नहीं दिया। इस से ये अत्यन्त व्याकुल हुए। गहरी खुदाई के पश्चात् जब इन्हें पानी दिखाई दिया तो प्यास के मारे ये कुएँ में कूद पड़े। ऊपर से कुआँ बन्द हो गया और श्राद्ध आदि द्वारा इन की सद्गति न हो सकी। इस प्रकार पुरुष तो मर गए परन्तु स्त्रियाँ रह गईं। एक गर्भवती स्त्री की कोख में भगीरथ नाम का बालक पैदा हुआ। बड़े हो कर उस ने कैलाश-पर्वत पर तप किया और शिवजी के वर से गंगा को स्वर्ग से उतार लाया। आगे आगे भगीरथ था और पीछे-पीछे गंगा नदी बह रही थी। जब

अपने ग्राम के बाहर पहुँचा तो गंगा को वहीं छोड़ कर अपनी माता से उस ढक गये कुएँ का स्थान पूछने गया। इतने में एक ब्राह्मण ने गुम हो गई गंगा नाम की अपनी गाय को पुकारा। गंगा-नदी उसे भगीरथ समझ उस के पीछे हो ली और कुएँ के स्थान से आगे निकल आई। भगीरथ पीछे से पहुँचा तो उस ने उसे लौटा ले जाना चाहा। परन्तु नदी ने कहा—गंगा उलटी नहीं बहती। इस प्रकार भगीरथ का भगीरथ-परिश्रम व्यर्थ गया। भगीरथ और उस की सन्तति अपने पूर्वजों की अपगति के कारण तभी से भ्रष्ट हो गई हैं। ये तभी से अस्पृश्य हैं और शोक के रूप में सारा पहरावा खुद्दर कम्बल का ही पहनते हैं। इन के उद्धार का समय तब होगा जब इन के पितरों का उद्धार होगा।

पं० गंगाराम जी ओवरसियर होने के कारण उन ओडों से भी काम लेते थे। इन का हृदय उन की दीन अवस्था देख कर बार-बार द्रवित होता था। उन की पैदायश की उपर्युक्त कहानी सुन कर इन्हों ने उस पर विचार किया। एक दिन ओड जाति के मुख्य पुरुषों को बुला कर कहा:—भाई! तुम्हारे पितरों का उद्धार हो गया है। उन्हों ने चकित हो कर पूछा:—कैसे? इन्हों ने उत्तर दिया:—भगीरथ के गंगा उतार लाने मात्र से। जिस गंगा के स्पर्श से करोड़ों और मनुष्य सद्गति को प्राप्त हो चुके हैं, क्या उसे स्वर्ग से नीचे ले आने वाला स्वयं उस के पुण्य-प्रताप से वञ्चित रह सकता है? उस की तो अगली पिछली सभी पीढ़ियाँ मुक्ति-धाम को पहुँच चुकी हैं।

भोले-भाले ओडों ने पण्डित जी के ये वचन सुने और वे चकित रहे। पण्डित जी गम्भीर बने रहे। उन्हें और विश्वास दिलाने को कहा :—पानी का एक लोटा भर लाओ। वे पानी ले आए। पण्डित जी ने गायत्री का पाठ कर उसे पान किया। इस से ओडों को निश्चय हो गया कि वास्तव में अब वे अस्पृश्य नहीं रहे।

पण्डित जी ने ओडों की शुद्धि का प्रश्न मुज़फ़्फ़रगढ़ समाज में रखा और मुज़फ़्फ़रगढ़ से एक मील की दूरी पर मौज़ा भूटापुर में चाह कटवाल वाला पर उन्हें यज्ञोपवीत दे कर एक बड़े समूह की शुद्धि की। इस के पश्चात् यह शुद्धि कई अन्य स्थानों पर भी हुई।

कठिनता तब हुई जब मुलतान शहर में इस शुद्धि का प्रबन्ध किया गया। पण्डित जी ने आस-पास की सारी बस्तियों के ओडों को शुद्धि का निमन्त्रण दे दिया और नियत दिन स्वयं मुलतान जा पधारे। पण्डित जी का विचार था कि मुलतान के आर्य अधिक उदार होंगे। परन्तु वहाँ जा कर इन्हें ज्ञात हुआ कि बड़े स्थानों में बिरादरी का भय अधिक है। डर यह था कि इस प्रकार के क्रान्तिमय आन्दोलन से हिन्दुओं का विरोध, जो पहिले ही कम तीव्र न था, और अधिक बढ़ जायगा। परन्तु पण्डित जी अपनी धुन के धनी थे। इन्हों ने हटने का पाठ पढ़ा ही न था। पहिले तो शुद्ध होने वाला कोई था ही नहीं परन्तु जब वे धीरे-धीरे आने लगे और सत्तर ओड इकट्ठे हो गए तो समाज के प्रधान ला० चेतनानन्द ने अन्त को यह स्वीकार

कर लिया कि समाज मन्दिर में नहीं, कहीं अन्यत्र शुद्धि कर ली जाय। इस निर्णय के अनुसार बोहड़ दर्वाज़े के बाहर नहर के किनारे सिविल सर्जन ला० जसवन्तराए के मकान में शुद्धि संस्कार हुआ।

यह दृश्य देखने योग्य था। सदियों के बिछुड़े भाई आपस में गले मिल रहे थे। समाज का एक गलित अंग स्वस्थ हो कर शरीर का जीता-जागता भाग बन गया। ये आर्य जाति के सौभाग्य के चिह्न थे। इस के पश्चात् दलितों की शुद्धि सैकड़ों अन्य स्थानों पर हुई परन्तु इस पुण्य कार्य में अग्रणी होने का श्रेय स्वनाम-धन्य पं० गंगाराम को है। भगीरथ जाति के लिए वे उन के पूर्वज की खोई हुई गंगा थे। उसी गंगा के दर्शन से उन का हमेशा के लिए उद्धार हो गया।

पण्डित जी ने केवल संस्कार ही नहीं करा दिया। मुज़फ़्फ़रगढ़ में इन की शिक्षा के लिए पाठशाला भी खोली परन्तु यह अधिक समय चली नहीं। पहिला काम था। उस के सफल होने में देर लगनी ही थी। आज इस शुद्धि को हुए सैंतालीस वर्ष हो गये। इस समय में अनेक ओड पण्डित, अनेक बाबू, अनेक बनिये बन चुके हैं और आर्य जाति से उन का कोई भेद-भाव नहीं है। ओड जाति के लिए गंगाराम के दर्शन वास्तव में "पतित-पावनी गंगा" के दर्शन थे—उस गंगा के जिस की प्रतीक्षा वे कई पीढ़ियों से करते चले आते थे।

१८८८ ही में हम बदायूँ ज़िले में गँवर नाम के

ग्राम में एक जाति-भ्रष्ट परिवार के पुनः प्रवेश का समाचार पाते हैं। यह संस्कार हिन्दू सभा द्वारा कराया गया है। इस से प्रतीत होता है कि आर्य जाति जो आज तक अपने व्यक्तियों तथा समूहों के पृथक्करण की ही अभ्यस्त चली आती थी, अब उस के विशाल भवन में प्रवेश तथा पुनः प्रवेश का द्वार भी खुल गया। यह इस जाति के इतिहास में एक नए युग का आरम्भ था जिस के लाने का सेहरा आर्य समाज के सिर है।

पं० गुरुदत्त

नवीन-वेदान्त का सिद्धान्त दृष्टि-सृष्टि वाद के नाम से प्रसिद्ध है। पं० गुरुदत्त—नये गुरुदत्त की—सृष्टि सच-मुच ऋषि की दृष्टि-मात्र से ही हुई थी। यह सृष्टि असत् नहीं, सत् थी। परलोक सिधार रहे ऋषि ने इन्हें एक दृष्टि देख लिया और ये कुछ के कुछ बन गये। अनेक साधु महात्मा ऋषि के शिष्य बने थे परन्तु जो शिक्षा आचार्य के अन्तिम कृपा-कटाक्ष द्वारा इस सरल "विद्यार्थी" को मिली वह किसी और के हिस्से नहीं आई। गुरुदत्त ने ऋषि का सन्देश अपने हृदय-पटल पर अंकित कर लिया और समझा इस के प्रचार का उत्तरदायित्व मुझ ही पर है। ऋषि की दृष्टि में भ्रान्तियों का खण्डन था और वैदिक सच्चाइयों का मण्डन। धन पर धर्म का राज्य था, शक्ति पर भक्ति का आधिपत्य था। गुरुदत्त ने इस खण्डन का, मण्डन का, राज्य का, आधिपत्य का मानो चार्ज-सा ले लिया। गुरुदत्त आनु-वंशिक सैनिक था। झट दयानन्द की सेना में भर्ती हो गया

और दयानन्द की विजयार्थ अपने तन की, मन की, धन की बलि दे दी। गुरुदत्त का देहान्त छब्बीस वर्ष की चढ़ती जवानी ही में हो गया। यदि इन की आयु कुछ लंबी होती तो इन के द्वारा जाने क्या-क्या पाण्डित्य के, विद्या के, तर्क के, आध्यात्मिक अनुभूति के अमूल्य रत्न केवल आर्य समाज ही को नहीं, किन्तु संपूर्ण मानव-संसार को हस्तगत होते। इस अपरिपक्व अवस्था में इन के लिखे हुए लघु लेख तथा पुस्तिकाएँ ही इन के असीम पाण्डित्य के बीच ही में रुक गये प्रवाह के अकाट्य प्रमाण हैं। गुरुदत्त केवल पण्डित ही न था, वह सच्चा ऋषि-पुत्र था। उसे न धन की पर्वाह थी, न जन की। सच की वेदि पर उस ने अपना सुख, संपत्ति, नाम और धाम सब स्वाहा कर दिया।

गुरुदत्त मुलतान निवासी ला० राधाकृष्ण सर्दाना के सुपुत्रों में सब से छोटे थे। इन का जन्म २६ एप्रिल १८६४ को हुआ। इन के वंशज विद्या तथा युद्ध—दोनों में ख्याति प्राप्त कर चुके थे।

इन के दादा वहावलपुर रियासत की ओर से अमीर काबुल के दर्बार में दूत रहे थे। वे फ़ारसी के पण्डित थे। फ़ारसी की योग्यता इन्हें अपने पूर्वजों से दाय में मिली थी। प्रारंभिक श्रेणियों में कुछेक वर्ष शिक्षा पाने के पश्चात् ही इन्हें यह भाषा इतनी आ गई थी कि जिस से ये इस के बड़े-बड़े काव्यों का रसास्वादन कर सकें। संस्कृत का चस्का भी इन्हें छोटी आयु ही में लग गया था। यह एक विचित्र संयोग था कि संस्कृत की प्रवेशिका पढ़ चुकने के पश्चात्

ही इन के हाथ ऋषि दयानन्द द्वारा लिखी गई ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका पड़ गई और इन्हों ने उसी से संस्कृत साहित्य का अध्ययन करना आरंभ किया। बस, फिर क्या था? ये मुलतान आर्य समाज के अधिकारियों के पास पहुँचे और उन्हें इस बात की चुनौती दे दी कि या तो मेरी अष्टाध्यायी तथा वेदों की शिक्षा का प्रबन्ध कर दो, अन्यथा यह स्वीकार करो कि तुम्हारे वेदादि धर्म-ग्रन्थ निस्सार हैं। इसी एक घटना से गुरुदत्त की चपल प्रकृति पर .खूब प्रकाश पड़ जाता है। वेद उन की दृष्टि में वस्तुतः निस्सार होते तो वे उन के अध्ययन के लिए इतना आग्रह ही क्यों करते? ऋषि की भूमिका ने एक आग-सी लगा दी थी जो शान्त होने में नहीं आती थी। मुलतान समाज ने एक पण्डित की नियुक्ति कर दी पर उस बाल-जिज्ञासु की, किसी सामान्य पण्डित के द्वारा सन्तुष्टि कहाँ हो सकती थी? वेद तथा व्याकरण की समस्याएँ उस ने अपने आप सुलझा लीं और वेद की निस्सारता का सपना अपने उदीयमान ज्ञान की छबीली छटा में भुला दिया।

१८८१ में गुरुदत्त ने मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा पास की। इसी वर्ष ये समाज के सभासद् भी हो गये। १८८३ में वे एफ़० ए० पास हुए। एफ़० ए० के विद्यार्थी रहते हुए इन्हों ने एक स्वतन्त्र-विवाद-सभा (Free Debating Club) स्थापित की। इस में गंभीर दार्शनिक विषयों पर विचार हुआ करता था।

गुरुदत्त के जीवन का यह वह भाग था जब कि मनुष्य

का मन द्रव-सी अवस्था में होता है। कालेज की शिक्षा के दिन मानसिक उच्छृंखलता के दिन होते हैं। एक कालेज के विद्यार्थी के लिए परम प्रमाण वेद नहीं, अपनी स्वतन्त्र तर्कना की श्रुति होती है। स्वतन्त्र विचार के आधिपत्य का यदि कोई समय हो सकता है तो यही। इन्हीं दिनों में मनुष्य का हृदय अत्यन्त ग्रहणशील होता है परन्तु इस ग्रहणशीलता के साथ-साथ उच्छृंखलता का भी पूरा राज्य रहता है। प्रति क्षण नये विचार आते हैं और प्रत्येक विचार का राज्य अपने आधिपत्य के समय में अबाधित तथा एक-तन्त्र होता है। गुरुदत्त विचित्र शीघ्रता से नये-नये विचारों को उपलब्ध कर उन्हें अपने ज्ञान कोष का अंग बनाते जा रहे थे। स्वतन्त्र बहस इन की घुट्टी में थी। अधिक वाद-विवाद के कारण इन्हें नास्तिक समझा जाने लगा। जिन्हें इन के समीप रहने का सौभाग्य प्राप्त था, वे तो अब भी कहते हैं कि इन की प्रकृति में संदेहशीलता का अतिशय-सा प्रतीत होता था जो वास्तव में उन के जिज्ञासु स्वभाव ही का बाह्य चिह्न था।

इस नास्तिकता की ख्याति के रहते भी गुरुदत्त आर्य समाज के सभासद बने रहे। और जब ऋषि दयानन्द के, अजमेर में रोगी होने का समाचार मिला तो लाहौर आर्य समाज ने ऋषि की सेवा के लिए लाला जीवनदास को और इन्हें अजमेर भेजा। उस समय आर्य समाज के पास साधनों की कमी थी या गुरुदत्त विश्वास-पात्र विशेष थे कि इस महान् उत्तरदायित्व के लिए १९ वर्ष का यह नव-

युवक उपयुक्त समझा गया? गुरुदत्त को इस मिष से ऋषि के दर्शन करने का अवसर प्राप्त हो गया। गुरुदत्त ने ऋषि का निर्वाण अपनी आँखों से देख लिया। बात-चीत का अवसर ही कहाँ था? बस, दृष्टि-दृष्टि में ही एक नये गुरुदत्त की सृष्टि हो गई। आध्यात्मिक परिभाषा में इसे काया-कल्प कहते हैं। गुरुदत्त लाहौर लौटे तो इन का रहन-सहन, चाल-ढाल—सभी कुछ बदल चुका था। इन की वह पुरानी उपहास्य-प्रियता, वह अधीर उथलापन, वह संशयशील अविश्वासी स्वभाव कहाँ था? उत्साह वही था पर अब उस का गम्भीरता से मानो पाणि-ग्रहण-सा हो चुका था। गुरुदत्त यह समझते प्रतीत होते थे कि ऋषि ने अपना उत्तराधिकारी इन्हें नियत किया है। ऋषि के दायाद्य के अधिकारी और हों, वेद-प्रचार का दायित्व इन्हें दिया गया था।

१८८५ में ये बी० ए० हुए, १८८६ में एम० ए०। एम० ए० में इन का विषय भौतिक विज्ञान था। एम० ए० की परीक्षा में इन के बराबर अंक इन से पूर्व किसी ने प्राप्त नहीं किये थे। इन अध्ययन के दिनों में ये समाजों के उत्सवों पर भी जाते रहे थे। विज्ञान का पाठ तो परीक्षा के लिए करना ही था। उस के अतिरिक्त वेद और पौरस्त्य तथा पाश्चात्य दर्शन का अनुशीलन भी चल रहा था। एम० ए० होने के पश्चात् ये दो वर्ष गवर्नमेंट कालेज में स्थानापन्न प्रोफ़ेसर भी रहे। गवर्नमेण्ट कालेज के ये पहिले भारतीय प्रोफ़ेसर थे। वहाँ इन की योग्यता तथा शिक्षण-शैली की धाक जम गई।

ऋषि के स्मारक-रूप में एक कालेज खोलने का आन्दोलन ऋषि दयानन्द के निर्वाण के समय से ही चल रहा था। गुरुदत्त की दृष्टि में ऋषि का स्मारक एक पुण्य संस्था थी। वे जी-जान से उस के उपासक से हो गये और जगह जगह से उस के लिए धन तथा जन की अपील करने लगे। इस निमित्त से दी गई इन की वक्तृताएँ विद्वत्ता तथा भाषण-पटुता के उत्तम कोटि के उदाहरण समझी जाती थीं। इस प्रकार की एक वक्तृता का उद्धरण हम पिछले अध्याय में दे चुके हैं। गुरुदत्त के संकल्पों का डी० ए० वी० कालेज ब्रह्मचर्य तथा पुराने शास्त्रों की शिक्षा का विशेष केन्द्र बनना था। १८८७ से १८८६ तक वे कालेज के अधिकारियों में भी रहे। उन के देखते-देखते यूनिवर्सिटी के प्रभाव के कारण कालेज का रूप एक पाश्चात्य शिक्षा-संस्था का सा होता गया। वे स्वयं पूर्वीय शास्त्रों के मतवाले थे। लोगों ने कालेज के प्रिंसिपल-पद के लिए उन का प्रस्ताव किया पर जैसे हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं, वह स्वीकृत नहीं हुआ। इन की हालत तो एक फ़कीर की सी थी। सर्दी में सर्द कपड़े पहन लिये, गर्मी में गर्म। यूनिवर्सिटी के गौन में ही समाज की अन्तरंग सभा में पहुँच गये। वृद्धों ने बुरा माना। ये हँस दिये। रुपया आया और किसी विद्यार्थी ने माँग लिया। इन्हों ने निस्संकोच दे दिया। प्रोफ़ेसर-पद से हटे तो तजवीज़ हुई कि इन्हें समाज के कोष से निर्वाहार्थ कुछ दे दिया जाया करे पर ये अपने उपदेश को बेच थोड़ा सकते थे।

ऋषि के निर्वाण के बाद ये छः ही वर्ष जिये। इस समय में इन्हों ने संस्कृत के ग्रन्थों पर वह आधिपत्य प्राप्त किया कि पक्षी-विपक्षी सभी देख कर दंग रह गये। "वेद का शब्द-कोष" नाम से इन के द्वारा लिखी गई लघु पुस्तिका आक्सफ़ोर्ड में पाठ्य-पुस्तक बन गई। कुछ उपनिषदों का भी इन्हों ने अनुवाद किया था। इन के देहान्त के पश्चात् पार्ल्यामेंट ऑफ़ रेलिजन्ज़ के अवसर पर वह अनुवाद अमेरिका भेजा गया। किसी अमेरिकन प्रकाशक ने अपने आप उस का अमेरिकन संस्करण प्रकाशित कर दिया।

गुरुदत्त केवल अँग्रेज़ी और हिन्दी के ही वक्ता न थे। संस्कृत में भी ये धारावाही भाषण कर सकते थे। इस से इन का नाम पण्डित गुरुदत्त पड़ गया। लोग इन्हें पण्डित कहते थे पर ये अपने आप को "विद्यार्थी" ही कहे जाते थे। यह नम्रता की पराकाष्ठा थी। ब्राह्मण-भिन्न कुल में पैदा हुआ कोई पण्डित कहलाए—यह नई बात थी। पर वह पण्डित योग्य था। उस का यह नाम चल गया। अब तक गुरुदत्त के नाम के साथ यह उपाधि चली आती है।

इन के शिष्य इन्हें डी० ए० वी० कालेज का प्रिंसिपल बनाना चाहते थे पर कालेज में व्याकरण तथा वेद कहाँ थे? इन्हों ने अपनी अष्टाध्यायी श्रेणी खोल दी। उस में छोटे बड़े सभी आयुओं के विद्यार्थी उपस्थित हो जाते थे। उन में एक ई० ए० सी० भी थे। वृद्ध विद्यार्थी एक युवक गुरु के चरणों में बैठें—यह स्थिति अंगिरा के पुत्र की मनु कथित कथा की पुनरावृत्ति थी।

डी० ए० वी० कालेज से असन्तुष्ट हो कर पण्डित जी तथा स्वा० रामानन्द जी ने उपदेशक क्लास का आन्दोलन आरम्भ किया। प्रश्न यह था कि यह श्रेणी प्रतिनिधि सभा के अधीन हो या कालेज सोसाइटी के ? जैसे हम ऊपर बता चुके हैं, सोसाइटी के प्रधान श्रीयुत लालचन्द ने स्वयं प्रतिनिधि सभा में इस श्रेणी की स्थापना का प्रस्ताव कर दिया। आगे चल कर गुरुकुल के प्रकरण में इस प्रस्ताव के क्रियान्वित किये जाने का वर्णन आयेगा।

गुरुदत्त के शरीर पर इस पाण्डित्य के परिश्रम का भार बहुत अधिक पड़ा। इन्हों ने दो-चार वर्षों में वह करना चाहा जिस में साधारणतया सारी आयु लगा देनी चाहिए थी। इन की विद्या अगाध थी। शास्त्रों के विषय में ये एक-मात्र प्रमाण थे। पर इस विद्या की प्राप्ति यों ही मुफ़्त में नहीं हो गयी थी। इस का इन्हें बहुत अधिक मूल्य देना पड़ा था। वह मूल्य था इन का अपना स्वास्थ्य। अपने विद्यार्थी-जीवन में गुरुदत्त ख़ूब व्यायाम किया करते थे। उन का शरीर बलवान् था परन्तु मानसिक परिश्रम के सम्मुख वह हार गया। इन्हें क्षय रोग हो गया। तब भी विश्राम न ये स्वयं करते थे न इन के शिष्य इन्हें करने ही देते थे। अनियमित जीवन के स्वभाव ने भोजन के, छादन के, निद्रा के—सभी नियम तुड़वा दिये। अन्त को मार्च १८९० में मृत्यु ने अपना नियम मनवा ही कर छोड़ा। शरीर थक गया था। वह इन की आध्यात्मिक यात्रा का साथ न दे सका। चिकित्सकों ने मांसाहार का परामर्श दिया परन्तु व्यग्र "विद्यार्थी" ने

हँसते हुए उत्तर दिया :—"क्या मांस खा कर मैं अमर हो जाऊँगा? इस के पश्चात् फिर मृत्यु तो नहीं आने की? यदि ऐसा न हो तो केवल अपने शरीर की रक्षा की सम्भावना-मात्र के लिए एक और प्राणी का निश्चित घात कर देने के क्या अर्थ?" जिस रात पण्डित जी का देहान्त हुआ इन्हें ईशोपनिषद् बार-बार सुनाई गई। इन की वक्तृताओं में ऋषि दयानन्द की ओर प्रायः संकेत हुआ करते थे। इस से इन के भाषण ख़ूब प्रभावशाली हो जाते थे। लोग इन से प्रार्थना किया करते थे कि ये ऋषि की जीवनी का संकलन कर दें। पण्डित जी ने इस प्रार्थना को स्वीकार भी कर लिया था। जब पण्डित जी की अवस्था मरणासन्न होने लगी तो किसी ने पूछा—"वह जो ऋषि की जीवनी का संग्रह हो रहा था, वह कहाँ है?" पण्डित जी अपने विशेष अंदाज़ से बोले :—ऋषि की जीवनी का उल्लेख काग़ज़ पर नहीं, सियाही से नहीं, क़लम से नहीं, किन्तु अपने चरित्र के पट पर लिखने का यत्न कर रहा हूँ। दयानन्द का सा जीवन व्यतीत करने की मेरी अभिलाषा इस जन्म में पूरी न हुई, न हुई। शरीर ने साथ न दिया। अब इसे इस आशा से छोड़ता हूँ कि दूसरा शरीर आत्मा की इन आकांक्षाओं के लिए अधिक उपयुक्त होगा।

गुरुदत्त की जीवनी ने कई रंग बदले परन्तु उन के चरित्र का मूल-सूत्र—प्रधान रंग—आरंभ से अन्त तक एक रहा। स्वभाव से वे वीर थे। उन का उत्साह अदम्य था, जिज्ञासा अनन्त थी, सत्य-प्रियता, सरलता, सत्यवादिता

की सीमा ही न थी। वेद में उन का विश्वास अटूट था परन्तु अधिक अध्ययन की उत्कट इच्छा में वे कह ही तो गये कि इसे निस्सार पुस्तक स्वीकार करो। परमेश्वर में उन का पूरा विश्वास था परन्तु उस के स्वरूप का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हों ने और तो और, अपने से भी विवाद किये जिन से प्रतीत ऐसा होता था कि वे नास्तिक हैं। उन का जन्म किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ था। जब ऋषि के अन्तिम कृपा-कटाक्ष ने उस उद्देश्य का पथ-प्रदर्शन कर दिया, तो उन्हों ने अपनी आयु मानो दुगनी कर ली और एक-दम किसी पचास वर्ष के वृद्ध की तरह धीर तथा गंभीर हो गये। गुरुदत्त के लिए यह वात असह्य थी कि वे एक-दम ऋषि का स्थान नहीं ले सकते। उन की इच्छा थी कि तुरन्त अपनी शारीरिक तथा मानसिक न्यूनताओं को दूर कर बिना विलम्ब के ऋषि बन जायँ। आकांक्षा बहुत ऊँची थी परन्तु इस में अभिमान का लव-लेष तक न था। वे दिन-प्रतिदिन दयानन्द बन जाने का यत्न कर रहे थे। इस उद्देश्य से उन्हों ने योगाभ्यास की भी शिक्षा प्राप्त की परन्तु जब इस से भी उन के तथा उन के उद्देश्य के बीच की खाड़ी पाटी न जा सकी तो उन्हों ने अपना जीवन बिना ननु-नच के यम के दूतों के अर्पण कर दिया। गुरुदत्त की मृत्यु एक धर्म-वीर की मृत्यु थी। उन्हों ने अपने शरीर को अपने उद्देश्य की वेदि पर बलिदान कर दिया। इतना परिश्रम उस दुर्बल हो रहे देह पर सच-मुच अत्याचार था।

गुरुदत्त के देहान्त के दिन स्थानीय कालेजों तथा कचहरियों में छुट्टी की गई। साहित्यक संसार एक चमत्कारी साहित्य-सेवी के प्राणान्त के कारण शोक-निमग्न था। पंजाब यूनिवर्सिटी अपने उस छात्र का मातम मना रही थी जिस की प्रारम्भिक रचनाओं तक का मान देश-विदेश की विद्वन्मण्डली ने किया था। गुरुदत्त आर्य समाज की आशाओं का एक-मात्र केन्द्र था। समाज का आशा-प्रदीप बुझ गया पर उस की लौ अब तक शेष है। गुरुदत्त का जीवन आर्य युवकों के लिए एक अमर ज्योतिः स्तम्भ है। शोक है तो बस इतना कि उन्हों ने अपने शरीर की पूरी पर्वाह नहीं की।

पण्डित गुरुदत्त के सुपुत्र प्रो० सदानन्द एम० एस० सी० भी विज्ञान ही के उपाध्याय बने। आजकल मुलतान के गवर्नमेंट कालेज के ये वाइस प्रिंसिपल हैं। इन्हें भी योगाभ्यास की लगन है और ये भी आर्ष ग्रन्थों से प्रेम रखते हैं।

आर्य समाज में फूट के बीज तो पड़ ही चुके थे। उन्हें वृद्धों में ला० साईंदास का और युवकों में पं० गुरुदत्त का प्रभाव रोके चला आ रहा था। १८९० ही में इन दोनों महानुभावों की मृत्यु हो गई। मार्च में पण्डित जी का देहान्त हुआ, जून में लाला जी का। बस, फिर क्या था ? संयत ज्वाला-मुखी आवरणों के हट जाने से बे-क़ाबू-सा हो गया। समाज में विद्रोह तथा क्रान्ति का दौर-दौरा हो गया। इस अवस्था को आते कुछ समय अवश्य लगा परन्तु

अशान्ति तथा अराजकता के चिह्न शीघ्र प्रतीत होने लग गये। लेखराम-काल का आरम्भ अंकुरित हो रही इसी अशान्ति से होता है।

ला० साईंदास

पंजाब प्रतिनिधि सभा के पहिले अधिवेशन का वर्णन करते हुए हम ने ला० साईंदास का नाम सभा के प्रथम प्रधान के रूप में लिया है। सभा के आरंभ-दिन से ले कर अपने देहान्त-पर्यन्त ये महानुभाव सभा के प्रधान रहे। हम यह भी कह आये हैं कि सभा का वर्तमान रूप जिस का लाहौर आर्य समाज अन्य समाजों के सदृश एक अंग ही बनाया गया, इन्हीं महानुभाव के परामर्श का फल था। सच तो यह है कि जिन दिनों ला० साईंदास जीते थे, समाज के नेता दो ही व्यक्ति समझे जाते थे। समाज के आध्यात्मिक पक्ष के प्रतिनिधि उन दिनों गुरुदत्त थे तो नैतिक कर्णधार ला० साईंदास। इन जैसा नीति-निपुण उस समय समाज के क्षेत्र में और कोई नहीं था।

ला० साईंदास का जन्म १८४१ में जलन्धर ज़िले के अन्तर्गत फिल्लौर तहसील के लस्साड़ा नामक ग्राम में हुआ।

अमृतसर के किसी स्कूल से उन्हों ने मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा पास की और सरकार की नौकरी में भर्ती हो गये। १८६३ में वे लाट सहाब के दफ़्तर में मीर मुन्शी के पद पर थे। दिन-भर दफ़्तर का कार्य कर जब घर आते तो देश-सेवा और लोकोपकार के कार्यों में व्यग्र हो जाते। आर्य जाति से उन्हें गहरा अनुराग था। उस के वर्तमान पतन पर कई-कई बार वे ठंडी साँसें लेते और इस अधोगति का मर्म-वेधी शब्दों में वर्णन कर श्रोताओं के हृदय में भी एक विचित्र वेदना-सी पैदा कर देते थे।

आर्य समाज की स्थापना से पूर्व लाहौर में ब्राह्म समाज ही लोकोन्नति की आयोजनाएं कर रहा था। ला० साईंदास उस समाज के सभासद हो गये परन्तु बहुत शीघ्र उन्हें प्रतीत होने लगा कि ब्राह्म समाज उन की आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सकता। अन्य बातों के अतिरिक्त उस में बंगालीपना इतना अधिक था कि इस पंजाबी युवक को उस में काम करना कठिन हो गया।

ला० साईंदास

ला० साईंदास ने कुछेक अन्य सज्जनों के सहयोग से

सत्य सभा स्थापित की। वह ठेठ पंजाबी संस्था थी। ऋषि दयानन्द के कुछ व्याख्यान इस सभा में भी हुए थे।

ऋषि दयानन्द के आगमन के उपरान्त जब लाहौर में आर्य समाज की स्थापना हुई तो ये उस में सम्मिलित हो गए। इन की शिक्षा कुछ बहुत ऊँची न थी परन्तु नैसर्गिक बुद्धि के बल से ये शिक्षित समुदाय के नेता हो गए। उन दिनों पढ़े लिखे सभी पंजाबी आर्य समाज के सभासद होते थे। वे सब ला० साईंदास की नीति-निपुणता का सिक्का मानते थे। नवयुवकों से इन्हें विशेष प्रेम था। ये उन से मिलते-जुलते और बिना आडंबर की, जाति-हित की बात-चीत से उन्हें शीघ्र मन्त्र-मुग्ध-सा कर लेते थे। ला० हंसराज को आर्य समाज का मतवाला इन्हों ने बनाया। ला० हंसराज के बड़े भाई ला० मुलखराज से इन का मेल-जोल था। उस से लाभ उठा कर इन्हों ने अपना जाल युवक हंसराज पर डाल दिया और डी० ए० वी० कालेज की आजीवन सेवा के लिए एक अनथक कार्यकर्त्ता उपलब्ध कर लिया। पं० गुरुदत्त भी पहिले-पहल इन के श्रद्धालुओं में थे। पंजाब के उस चमत्कारी छात्र को अपने भक्त-मण्डल में भर्ती कर लेना अपने आप में एक चमत्कार था।

गुरुदत्त का आत्मा उन्नतिशील था। उस पर जातीयता का प्रभाव संभवतः पड़ा ही नहीं और यदि पड़ा भी तो शीघ्र उस का स्थान विश्व-प्रेम ने ले लिया। गुरुदत्त के लेखों में राष्ट्रीयता अथवा देश-विदेश के भेद का कहीं चिह्न-मात्र भी नहीं पाया जाता। वह विशुद्ध धार्मिक पुरुष था।

उस की विशाल दृष्टि संपूर्ण विश्व को अपना परिवार समझती थी। वह विशुद्ध आध्यात्मिक रंग में रँगा हुआ मानवीयता का पुजारी था। ✓

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में आर्य समाज के ये दो नेता समाज को अपनी-अपनी दिशा में ले जा रहे थे। गुरुदत्त वेद का उपासक था, साईंदास हिन्दुत्व का। गुरुदत्त दयानन्द कालेज में प्राचीनता की प्रतिष्ठा चाहता था, साईंदास वर्तमानता की। साईंदास देश का हित विज्ञान की शिक्षा में समझता था, गुरुदत्त को वेद के पुनरुद्धार के बिना विश्व की भलाई की सम्भावना ही प्रतीत नहीं होती थी। वह जो व्याख्यानों में कहता था उसी को क्रिया में लाना चाहता था। गुरुदत्त आदर्श-वादी था, साईंदास वास्तविकता-वादी। गुरुदत्त धर्म की मूर्ति था, साईंदास जाति की। गुरुदत्त का धर्म आध्यात्मिक था, साईंदास की जाति आधिभौतिक। ये दो लहरें समाज के समुद्र को एक-साथ विक्षुब्ध कर रही थीं। परन्तु खेवट सयाने थे। अपनी-अपनी लहर की नौका में सवार थे। परस्पर शान्ति-भंग की अवस्था आने ही नहीं देते थे।

गुरुदत्त के विश्व-प्रेम में अहिंसा का स्थान मुख्य होना अनिवार्य था। हम ऊपर कह चुके हैं कि चिकित्सकों का परामर्श रहते भी गुरुदत्त ने मांस-भक्षण द्वारा अपने प्राणों की रक्षा करने से इनकार कर दिया था। वह यह क्योंकर पसन्द कर सकता था कि आर्य समाज का नेतृत्व किसी मांसाहारी के हाथ में रहे? लाला साईंदास की इस त्रुटि

पर उस का ध्यान नहीं गया, नहीं गया। पर जब समाज में मांस-भक्षण के विरुद्ध आवाज़ उठने लगी तो गुरुदत्त की सहानुभूति स्वभावतः इस प्रतिवाद के साथ हो गई।

यदि मांस-भक्षण ला० साईंदास को अपने जाति-प्रेम के रास्ते में बाधक प्रतीत होता तो वे उसे तुरन्त त्याग देते। मांस का निषेध था वेद में, शास्त्र में। मांस त्याज्य था अध्यात्म की दृष्टि से। ला० साईंदास के लिए ये दृष्टियाँ गौण थीं। इन दृष्टियों का प्रतिनिधि गुरुदत्त था। वह लाला जी की सम्मति में दीवाना था—अक्रियात्मक पागल। उन्हें जाति-हित में मांसाहार बाधक प्रतीत नहीं होता था।

पं० गुरुदत्त की बीमारी ने जाति-सेवकों तथा धर्म के दीवानों—इन दोनों दलों को उन की सेवा-शुश्रूषा के लिए एकत्रित कर दिया। लाला जी ने भी अपने पुराने अनुरक्त की सुध ली। पर यह सुध सहानुभूति की भावना से प्रेरित थी, सहकारिता के भाव से नहीं। आर्य समाज के ये दो अग्रणी वास्तव में हमेशा के लिए अलग हो चुके थे। मार्च १८९० में गुरुदत्त का देहान्त हुआ और जून १८९० में लाला जी का। नेता नहीं रहे परन्तु इन की चलाई हुई लहरें विद्यमान रहीं। एक दिव्य संयोग ने कुछ समय के लिए इन दो लहरों का संमिश्रण-सा कर दिया था। मृत्यु से पूर्व ये दोनों यात्री अपने-अपने पृथक् मार्ग पर पड़ चुके थे। इन के बाद का आर्य समाज का इतिहास उन्हीं दो प्रवृत्तियों का इतिहास है, जिन्हें पण्डित जी तथा लाला जी की भिन्न भिन्न प्रकृतियों ने जन्म दिया था।

सच तो यह है कि दोनों प्रवृत्तियाँ ऋषि के अपने

जीवन में विद्यमान थीं। ऋषि विश्व-प्रेमी भी थे, देश-भक्त भी। देश-भक्ति उन के विश्व-प्रेम का एक अंश थी। वे मुख्य-तया वेद ही के प्रचारक थे। आधुनिक विज्ञान उन की वेद-विद्या का एक अंग था। यही अवस्था गुरुदत्त की थी। लाला जी का दल वेद को यह व्यापक स्थान नहीं देता था। उस की देश-सेवा का मुख्य साधन वर्तमान विज्ञान का साक्षात् अध्ययन था और वह उसी पर बल देता था। ऋषि ने इस के लिए जर्मनी के विद्वानों से पत्र-व्यवहार भी किया था। परन्तु ऋषि तो आर्य समाज के संस्थापक के अतिरिक्त कुछ और भी थे। आर्य समाज के द्वारा उन्हों ने वेद ही का प्रचार किया। गुरुदत्त ने ऋषि के वेद को ले लिया, साईंदास के दल ने आधुनिक विज्ञान को। गुरुदत्त ने विश्व-प्रेम का विर्सा अपना लिया, साईंदास ने जाति-प्रेम का। अनुयायी दोनों ऋषि के थे।

लाला जी का देश-प्रेम अनुकरणीय था। वे वास्तव में एक आदरणीय पुरुष थे। आर्य समाज के संघटित रूप के निर्माताओं में उन का स्थान बहुत ऊँचा है। उन की कार्य-कुशलता, तत्परता, नीति-निपुणता, सादा जीवन, जाति-सेवा की सच्ची लगन—यह गुणावली संक्रामक थी। अपने समय के नवयुवकों के लिए वे मानो अयस्कान्त थे।

ला० साईंदास के तीन लड़के थे और दो लड़कियाँ। उन के ज्येष्ठ पुत्र ला० सुन्दरदास जलन्धर के ऐंग्लो-संस्कृत हाई स्कूल के हैडमास्टर थे। उन का देहान्त १९०० में हुआ।

लेखराम-काल

१९४८—१९५४ वि०

१८९१—१८९७ ई०

कन्या-महाविद्यालय

(जलंधर)

ऋषि दयानन्द द्वारा किये गये सुधारों में स्त्री जाति के उद्धार का स्थान अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। ऋषि के जीवन-काल का तो कहना ही क्या है, जिस काल का हम इतिहास लिखने लगे हैं, उस के संबन्ध में जलन्धर महाविद्यालय के संचालक अपने महाविद्यालय ही के इतिहास का आरम्भ इस कुप्रथा के वर्णन से करते हैं कि उन के इलाक़े के जाट लड़की के जन्म को एक अशुभ शाप मानते थे और बस लगे तो जन्म होते ही उस का प्राणान्त कर देने में संकोच नहीं करते थे। बाल-विवाह की प्रथा सर्वत्र प्रचलित थी। लड़की को घर पर रजस्वला होने देना अपने संपूर्ण कुल को नरक में ले जाना समझा जाता था। "अष्टवर्षा भवेद् गौरी" और "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्"— पौराणिक धर्म के ये दो सूत्र संपूर्ण आर्य जाति को घुन की तरह खा रहे थे। ऋषि दयानन्द ने लड़कियों के विवाह

की छोटी-से-छोटी आयु १६ वर्ष नियत कर दी। परन्तु जैसे हम ऊपर कह आये हैं, उन दिनों के "वैदिक" विवाह छः और ग्यारह वर्ष की आयु में भी रचा दिये जाते थे। सदियों का रिवाज एक-दम बदल देना कठिन था। ऋषि की दृष्टि में स्त्रियों का, नागरिक जीवन में उतना ही महत्व-पूर्ण स्थान है जितना पुरुषों का। स्त्री माता तो है ही, परन्तु इस के अतिरिक्त वह अपने वर्ण के अनुसार उपदेशिका, अध्यापिका, न्यायाधीशा, सेनाध्यक्षा, सैनिका, व्यापारिणी, व्यवसायिनी—सब कुछ हो सकती है। वैदिक राष्ट्र में स्त्रियों के सबन्ध का सभी कार्य व्यवहार स्त्रियों के हाथ में रहना चाहिए। ऋषि दयानन्द के भाष्य के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि कोई योग्यता ऐसी नहीं जो स्त्रियाँ प्राप्त न कर सकती हों, कोई अधिकार ऐसा नहीं जिस का रास्ता स्त्रियों के लिए रोक दिया गया हो।

ऋषि का यह सपना तो उन के अनुयायियों तक की समझ में अब भी आ सकना कठिन है। सुधारकों की अवस्था क्रान्तिकारियों की सी होती है। वे एक नये युग के निर्माता होते हैं। साधारण मनुष्यों को यह दीर्घ दृष्टि प्राप्त नहीं होती। सैकड़ों साल में आने वाली दशा का अनुमान वे आज नहीं कर सकते। ऋषि अपनी दृष्टि से सदियों बाद की स्थिति को वर्तमान अवस्थाओं की तरह मानो प्रत्यक्ष रूप से देखता है।

स्त्रियों को शिक्षा देना आर्य समाज का सिद्धान्त था। सनातन धर्म सभा और आर्य समाज में जहाँ मूर्तिपूजा

आदि विषयों पर शास्त्रार्थ होते थे, वहाँ कन्या-पाठशालाओं के विषय में भी वाद-विवाद रहता था। सनातनी कहते थे—लड़कियों को मत पढ़ाओ। समाजी कन्या-पाठशालाएं खोल रहे थे। ऋषि के उदार आदर्श का तो स्वयं समाजियों को भी पता न था। परन्तु घर का लेखा-जोखा, पुत्रों का पालन, रसोई की कला आदि के लिए जितनी शिक्षा चाहिए, उस का पक्ष आर्य समाजी हर स्थान पर ले रहे थे।

फ़ीरोज़पुर के अनाथालय के साथ वहाँ की कन्या-पाठशाला की स्थापना भी ऋषि के अपने आदेश से हुई थी। उस का तथा मेरठ की पाठशाला का वर्णन "पत्रिका" के पन्नों में स्थान-स्थान पर पाया जाता है। माई भगवती तथा रमाबाई ऋषि की अपनी शिष्याएँ थीं। ऋषि स्त्रियों को साक्षात् मिलने से हमेशा बचते रहे परन्तु इन देवियों को उन्हों ने विशेष प्रबन्ध द्वारा शिक्षा प्रदान कर ही दी। भारतवर्ष के इतिहास में देवियों का अध्यापन एक अपूर्व घटना थी। ऋषि ने जहाँ उन्हें अन्य सब ग्रन्थों के अध्ययन का अधिकार दिया, वहाँ वेद से भी वञ्चित नहीं रखा। एक बुढ़िया को गायत्री का उपदेश स्वयं दे कर संपूर्ण अबला-समुदाय को उन की पूर्वज, वेद की ऋषिकाओं तक पहुँचा ही दिया। सनातन धर्मी सज्जन आज मुश्किल से देवियों को अक्षर सिखाना तो स्वीकार कर ही चुके हैं परन्तु उन्हें वेद का अधिकार देना शास्त्र-विरुद्ध मानते हैं। ऋषि ने स्त्री शिक्षा के रास्ते में कोई बाधा नहीं रखी। स्त्री वह सब कुछ पढ़ सकती है जो पुरुष।

इन उदात्त आदर्शों को सम्मुख रखते हुए आर्य समाजों में स्त्री-शिक्षा का आन्दोलन आरंभ हुआ। अन्य समाजों की तरह १८८६ में जलन्धर समाज ने भी एक "ज़नाना स्कूल" खोला और उस के लिए "एक रुपया मासिक" व्यय करना स्वीकार किया। इस व्यय से क्या होना था? १८८६ की रिपोर्ट में इस स्कूल में छः छात्राएँ होने का वर्णन मिलता है। परन्तु "कोई अध्यापिका नहीं मिल सकी। इस लिए पढ़ाई की अवस्था अच्छी नहीं।" आगे जा कर आर्य समाज ने वह एक रुपये की सहायता देना भी बंद कर दिया। इस भार को ला० देवराज की पूज्या माता जी ने अपने कन्धों पर ले लिया। माई लाडी नाम की अध्यापिका इन माता जी से एक रुपया मासिक तथा भोजन ले लेती थीं और दो-तीन कन्याओं को पढ़ा छोड़ती थीं।

आर्य समाज के संचालकों को स्वयं अपनी पुत्रियों को शिक्षा देने की आवश्यकता थी। लाडी देवी एक ईसाई स्कूल में अध्यापिका हो गई। उस ने आर्य कन्याओं को भी उस स्कूल में भर्ती करा दिया। आर्य परिवारों की लड़कियाँ "ईसा मेरा राम-रमैया; ईसा मेरा कृष्णकन्हैया" गाने लगीं। इस स्थिति ने पाठशाला की आवश्यकता को अनिवार्य-सा बना दिया।

ला० देवराज द्वारा लिखित "मासिक वृत्तान्त" में हम अगस्त १८९० में कन्या-पाठशाला खोले जाने के प्रस्ताव का उल्लेख पाते हैं। नियमादि के निर्माण के लिए समिति भी बनाई गई है परन्तु वर्ष-भर कोई क्रियात्मक कार्य हुआ प्रतीत

नहीं होता। जुलाई १८६१ में आर्य समाज के कर्णधार इस पाठशाला का महाविद्यालय नाम से "उद्घाटन" करते हैं और उस के लिए उत्साह से काम करने लगते हैं। ला० देवराज जी ने लिखा है :—

> "इस मास में नियम-पूर्वक कन्या-पाठशाला खोली गई। हवनादि हुआ। ला० मुन्शीराम ने प्रार्थना की और अपील किया। बहुत चन्दा जमा हुआ। शाला उन्नति पर है।"

१८६३ में छात्राओं की संख्या ५५ पाई जाती है। यह भी लिखा है कि बहुत-सी छात्राओं ने आभूषणों का प्रयोग छोड़ दिया है। छात्राएँ और आभूषण? आज ये दो वस्तुएँ विरोधिनी प्रतीत होती हैं परन्तु आज से चालीस वर्ष पूर्व लड़की नाम ही भूषणों के एक ढेर का था। इस अवस्था में शिक्षा क्या होनी थी?

१२ एप्रिल १८६५ को आश्रम की स्थापना की गई। परन्तु कन्याओं को घर से बाहर रहने के लिए कौन भेजे? सञ्चालकों ने एक मकान ले कर अपनी लड़कियाँ वहां रख दीं। धीरे-धीरे और कुमारियाँ भी भर्ती होने लगीं। पहिला स्थान तंग प्रतीत हुआ। विशाल जगह ली गई। उस से भी काम न चला तो और आगे सरके। आखिर नगर के बाहर ३५ एकड़ भूमि ले कर विद्यालय को एक शान्त और सुरक्षित स्थान पर ले जाया गया। वर्तमान स्थान एक उद्यान-सा प्रतीत होता है जिस में सब ओर हरियावल के कुंज ही कुंज दिखाई देते हैं। कन्याओं की क्रीड़ा स्थली, हरे-हरे वृक्ष

जिन के नीचे श्रेणियाँ लग जाती हैं और छोटी-छोटी वाटिकाएँ और रविशें सच-मुच मन को आकर्षित कर लेती हैं। इस स्थान में आने से पूर्व कन्याओं के आश्रम ने पाँच भवनों की यात्रा कर ली थी। पहिले की लम्बाई-चौड़ाई १०'×१०' थी। दूसरे की १०'×१५'। तीसरे में तीन कमरे थे। चौथे में बरामदा भी था। पांचवें में पांच कमरे और एक बरामदा था। कहते हैं, बालक गर्भ में कई प्राणियों की आकृति में आता है। गर्भस्थ विद्यालय अपनी विकास-यात्रा की प्रक्रिया पूरी कर रहा था। आज इस के उत्तर की ओर हिमालय के दर्शन होते हैं। शिवालिक पर्वत जलन्धर से कुछ अधिक दूर नहीं। दो घंटे की तांगे की यात्रा हमें पर्वत पर पहुँचा देती है। खुले मैदान से पर्वत के दृश्य अत्यन्त मनोहर प्रतीत होते हैं। विद्यालय के यहाँ आने से पूर्व इस स्थान का नाम "भूत-भूमि" था। जनता को भ्रम था कि यहाँ भूत बसते हैं। भूमि ऊजड़ थी। उस में भूतों का भ्रम होना स्वाभाविक था। आज मनुष्यों के निरन्तर परिश्रम के परिणाम-स्वरूप वह "भूत-भूमि" "देव-भूमि" में परिवर्तित हो चुकी है। यह नया नाम ला० देवराज का स्मारक है जो विद्यालय के मान्य संस्थापक थे। लाला जी सच-मुच मनुष्यों में देव थे।

१८६१ में जलन्धर की सिसक रही पाठशाला को नया जीवन मिला और यह एक स्थानीय स्कूल के स्थान में सम्पूर्ण देश का एक बृहद् महाविद्यालय होने के सपने लेने लगी। यह ला० देवराज तथा ला० मुन्शीराम

के अनथक उत्साह का फल था। इन दो युवकों ने जलन्धर आर्य समाज को एक विशेष महत्व का पात्र बना दिया था। अब जलन्धर का समाज लाहौर समाज से टक्कर लेने की ठान रहा था। लाहौर वालों ने लड़कों की शिक्षा के लिए डी० ए० वी० कालेज खोला तो जलन्धर के समाजी कन्याओं की शिक्षा के लिए एक महाविद्यालय की स्थापना की आयोजनाएँ करने लगे। कालेज ही अभी आरम्भिक अवस्था में था। उस के संचालकों को डर हुआ कि विद्यालय कहीं प्रतिस्पर्धी संस्था बन कर कालेज के लिए एकत्रित किए जा रहे धन की दिशा अपनी ओर न बदल ले। वे इस का विरोध करने लगे। स्त्री-शिक्षा का सीधा खण्डन तो कोई भी पढ़ा-लिखा किस तरह करता? उन की तर्कना का प्रकार यह हो गया कि अभी देश की स्त्रियों की उच्च शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। ला० लाजपतराय की सम्पादकता में "दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज समाचार" नाम का मासिक निकलता था। उस की जनवरी-मार्च १८९४ की संख्याओं में लाला जी ने कन्या-महाविद्यालय पर एक लेखमाला निकाली। जनवरी के पर्चे में लाला जी लिखते हैं:—

ला० लाजपतराय

साधारण शिक्षा प्राप्त कर चुकी लड़की क़ ख़ुशी

से ज़िन्दगी बिता सकने के लिए शिक्षित वर का होना आवश्यक है। हम को अत्यन्त शोक से इस परिणाम पर पहुंचना पड़ता है कि पुरुषों की शिक्षा में अभी इतनी उन्नति नहीं हुई कि शिक्षित लड़कियों के लिए, देश की अवस्थाओं को दृष्टि में रखते हुए, शिक्षित वर मिल सकें। पृ० ६

फ़रवरी १८९४ की संख्या में फिर लिखते हैं :—

हम जनता से (इस बात का) निश्चय करने की प्रार्थना करते हैं कि क्या पंजाब में कन्याओं की शिक्षा इस अवस्था तक पहुँच गई है कि हम प्राइमरी शिक्षा से बे-पर्वा हो कर और उस के साधनों को हानि पहुँचा कर उच्च शिक्षा के लिए जटिल आयोजना प्रस्तुत करें जिस से लड़कों के लिए जो एक ही देसी कालेज है, उस की आमदनी में हानि पहुँचने का भय हो। पृ० ५

मुख्य पुरुषों की समालोचना तो कुछ ऐसे ही रंग में रँगी रहती थी। वे प्रारंभिक शिक्षा पर बल देते थे और कहते थे कि इस के लिए स्थानीय चंदे से ही काम चलाना चाहिए। प्रान्तीय चंदा कालेज के लिए सुरक्षित रहे। छोटे दर्जे के लोग सिरे से स्त्री-शिक्षा ही का विरोध करने लगते थे। उच्च शिक्षा से घर बर्बाद हो जायँगे। स्त्रियाँ भी अपना कर्म क्षेत्र गृह को नहीं, दफ़्तर और दूकान को बना लेंगी— इस तरह की विनोद-जनक युक्तियों का प्रयोग किया जाता था। आज इन युक्तियों पर हँसी आती है पर उन दिनों इन के द्वारा विचारकों के सम्मुख एक गंभीर समस्या आ जाती थी।

कन्याओं में पर्दे का रिवाज तो पहिले ही न था। कन्या-महाविद्यालय की छात्राएँ झुक कर नहीं, सीधी चलती थीं। उन्हें बताया गया था कि झुक कर चलना स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। लोग इसे लज्जा की कमी का द्योतक समझते थे। उधर पौराणिकों का विरोध था, इधर आर्य समाज का एक भाग भी अपनी संस्था की सुरक्षा के ख़याल से, महाविद्यालय का महाविरोध कर रहा था।

जलन्धर और लाहौर के विरोध की यह एक दिशा थी। अन्य दिशाओं में भी विरोध की प्रवृत्ति प्रकट हो रही थी। इस का वर्णन अगले अध्यायों में आयगा। महाविद्यालय के संचालक वीर थे। वे अपनी कर्मण्यता का मार्ग निकाल लेने में सिद्ध-हस्त थे। उन के प्रयत्न विरोध से रुके नहीं, उलटा द्विगुणित हो गये। महाविद्यालय दिन दुगनी रात चौगुनि तरक्क़ी करने लगा।

जलन्धर समाज की ३ एप्रिल १८९५ की अन्तरंग सभा में विधवाओं के लिए कन्याओं से भिन्न मकान बनवाने का प्रस्ताव स्वीकार हुआ। इस का परिणाम ५०,०००) की लागत का वह "सावित्री भवन" है जो महाविद्यालय की प्रथम अवैतनिक आचार्या सावित्री देवी के स्मारक रूप में निर्मित हुआ है। कन्याओं की अपेक्षा विधवाओं की शिक्षा का प्रश्न और भी जटिल था। हम ऊपर विधवा-विवाहों का वर्णन कर आये हैं। आर्य जाति में यह भी एक नई चीज़ थी। इधर बाल-विवाह की कुप्रथा, उधर विधवाओं के

पुनर्विवाह का सर्वथा निषेध—इस से बाल-विधवाओं की दशा अत्यन्त शोकापन्न थी। मानवीय चोले में यदि कोई दुःख की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था तो वह आर्य जाति की बाल-विधवाएँ। एक तो उन का विवाह ही दूसरे की इच्छा का परिणाम, फिर वैधव्य एक दैवी आपत्ति। इस पर बिरादरी का यह नियम कि विलास तो विलास, साधारण सुख का जीवन भी सधवाओं ही के लिए है। विधवा को बाधित वैराग्य ही में दिन काट देने चाहिएँ। भला वैराग्य बिना विद्या के कैसे पैदा हो? यह एक समस्या थी जिस का समाधान पाठशालाओं ने किया। महाविद्यालय वालों का यह प्रस्ताव युक्ति संगत था कि विधवाओं का आश्रम कन्याओं से अलग हो। शिक्षित विधवाएँ जहाँ आर्थिक संकट से मुक्त हो सकेंगी, वहाँ जाति के लिए भी एक उपयोगी अंग बन जायँगी।

इस समय तक महाविद्यालय, जलन्धर आर्य समाज ही की एक संस्था थी। १७ जनवरी १८६६ की अन्तरंग सभा ने इसे एक "मुख्य सभा" के अर्पण कर दिया जिस में अन्य समाजों के सदृश इस समाज को भी प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। इस परिवर्तन का उद्देश्य इस संस्था को स्थानीय के स्थान में प्रान्तीय बनाना था। मुख्य सभा की रचना इस प्रकार हुई कि प्रत्येक ऐसे समाज को जिस ने विद्यालय के लिए ५००) एकत्रित किया हो, एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। एक से अधिक प्रत्येक प्रतिनिधि के लिए २०००) की राशि नियत की गई। औ

व्यक्ति ५००) दान करे, वह नियमानुसार मुख्य सभा का जीवन सदस्य समझा जाता था। इन के अतिरिक्त जलन्धर समाज का प्रधान तथा मन्त्री, फ़ीरोज़पुर अनाथालय का मैनेजर, पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त की प्रतिनिधि सभा के प्रधान, डी० ए० वी० कालेज का प्रिंसिपल और प्रबन्ध समिति का प्रधान पदाधिकार से मुख्य-सभा के सदस्य बनाए गये। मुख्य सभा के $\frac{1}{3}$ प्रतिष्ठित सदस्य होते थे। इन का निर्वाचन शेष सदस्यों की $\frac{3}{4}$ सम्मतियों से हो सकता था।

आगे जा कर एक अनाथालय भी महाविद्यालय का अंग बन गया। वह पहिले एक स्वतन्त्र सभा के अधीन चल रहा था। सन् १८९८ में वह जलन्धर समाज की संस्था बना और बाद में महाविद्यालय का भाग बना दिया गया।

महाविद्यालय के पाठ्य विषय संस्कृत, हिन्दी, गणित, आलेख, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, आंगल भाषा, संगीत, चित्र-कला, सीना, बुनना, कातना, गृह-प्रबन्ध, पाक-विद्या, बाग़बानी, धर्म-शिक्षा और क्षत-त्राण की प्रारंभिक शिक्षा इत्यादि हैं। महाविद्यालय का कोर्स १२ साल का है।

२४ दिसंबर १८९६ की "पत्रिका" में लाहौर आर्य समाज के उत्सव के अवसर पर ला० देवराज और ला० मुन्शीराम के भाषणों का संक्षेप प्रकाशित हुआ है। भाषण कन्या महाविद्यालय के संबन्ध में हैं। वक्ता परीक्षाओं द्वारा विद्यार्थियों की योग्यता का मान करने की प्रथा को हानि-कारक समझते हैं और विश्वास दिलाते हैं कि कन्याओं को इस भार से मुक्त रखा जायगा।

शिक्षा का माध्यम हिन्दी को बनाया गया । शिक्षा के लिए कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। व्यय सारे का सारा छात्राओं के भरण पोषण ही का होता था।

ला० देवराज

सन् १८९६ में जब ला० देवराज तथा ला० मुन्शीराम लाहौर समाज की वेदि मे विद्यालय का पक्ष पोषण करते

हैं, आर्य समाज का विभाग दो भागों में हो चुका है। १८९४ में जब ला० लाजपतराय विद्यालय का विरोध कर रहे थे, इस विभाग की तय्यारियाँ हो रही थीं। लाला जी का कन्या-महाविद्यालय के सम्बन्ध में एक आक्षेप यह भी था कि :—

> जहाँ दयानन्द कालेज (फ़ंड) में १०००) देने पर जलन्धर समाज को अपनी संपूर्ण अन्तरंग सभा के भेजने का अधिकार हो गया था जिन की संख्या उपनियमों के अनुसार सभासदों की संख्या पर निर्भर है और सामान्यतया दस से अधिक होते हैं, वहाँ लाहौर समाज को कन्या-महाविद्यालय फ़ंड में ५००) देने पर केवल एक सभासद और १५००) [२५००)] देने पर केवल दो सभासद भेजने का अधिकार होगा।

आर्य समाज द्वारा किये गए स्त्री-सुधार का संक्षेप कन्या-महाविद्यालय था। कन्या-गुरुकुल का उद्घाटन इस के पश्चात् हुआ। उस का वर्णन अपने स्थान पर आ जायगा। लेखराम काल की यह संस्था जहाँ कन्याओं को उन की उपयोगी शिक्षा दे कर जीवन-युद्ध के लिए तैयार कर रही थी, वहाँ उन की विवाह की आयु को पीछे हटा कर जाति की आने वाली पीढ़ियों को शक्तिसंपन्न बनाने का सब से बड़ा साधन जुटा रही थी। जात पात तथा पर्दे के बन्धन इस के द्वारा अपने आप हट रहे थे। स्त्री-समाज में एक विशेष प्रकार की स्वतन्त्रता का विकास हो रहा था। पुराने ढर्रे के लोग बिरादरियों के बन्धनों को ढीला होता

देख आश्चर्य-चकित थे। भ्रांतियाँ हट रही थीं। नये ज्ञान का उदय हो रहा था। ज्ञान-संपन्न गृहिणियाँ नये युग के लाने का साधन होनी ही थीं। जिन्हें नूतनता अखरती थी, उन्हें तो इस आन्दोलन का विरोध करना ही था। स्वयं आर्य समाज में इस संस्था के विरोध का कारण लाहौर और जलन्धर की होड़ हो गई।

हम ऊपर इशारों-इशारों में कह ही आये हैं कि जलन्धर सामाजिक जगत् में एक विशेष प्रवृत्ति लाया। पंजाब के आर्य समाज के इस समय तक के नेता लाहौर के बड़े बूढ़े थे। वे उन विचारों तथा आयोजनाओं के प्रतिनिधि थे जिन का केन्द्र आगे जा कर डी० ए० वी० कालेज हो गया। जलन्धर के युवकों की प्रवृत्ति समाज में क्रान्ति लाने की ओर थी। ये लोग यदि लाहौर में होते तो पं० गुरुदत्त के झंडे तले एकत्रित हो जाते। गुरुदत्त के अनजाने में एक सेना संघटित हो रही थी। उन के अष्टाध्यायी के शिष्य केवल लाहौर तक ही परिमित न थे। अन्य स्थानों में भी वेद के अक्षरों तक पहुँचने और उस के अनुकूल आचरण करने की धुन प्रादुर्भूत हो रही थी। ऋषि ने शिक्षा के विषय में लड़के और लड़की में कोई भेद न रखा। लाहौर के आर्य लड़कों की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध कर रहे थे। जलन्धर के आर्यों ने उन की कन्याओं विषयक कमी को पूरा करने की ठान ली। डी० ए० वी० कालेज की स्थापना ही कोई बहुत सुगम चीज़ न थी। कन्या-महाविद्यालय का संचालन उस से सैकड़ों गुणा कठिन था। परन्तु वह आर्य क्या जो कठिनाई

से घबड़ाए? जलन्धर के समाजियों ने कमरें कस लीं। डी० ए० वी० कालेज के लिए चंदा हो रहा था। अब महाविद्यालय के लिए भी होने लगा। यह बात कालेज के संचालकों को अखरनी ही थी। उन्हों ने स्त्रियों की उच्च शिक्षा का आन्दोलन असामयिक समझा। जलन्धर के भाई आर्य बन्धुओं के इस विरोध पर अधिक रुष्ट हुए। उन्हों ने सिद्ध भी किया कि महाविद्यालय की भिक्षा कालेज के चंदे को नहीं रोकती। पर अब भाई-भाई में अविश्वास-सा पैदा हो गया। जो आग कालेज के प्रति असन्तोष ने पहिले ही प्रदीप्त कर रखी थी, महाविद्यालय के दृष्टि-भेद ने उसे और तेज़ कर दिया। दोनों समुदायों का उद्देश्य भारत को शिक्षित करना था परन्तु शिक्षा की दिशाएँ भिन्न-भिन्न थीं। एक पूर्व को जा रहा था, एक पश्चिम को। पश्चिम का पुजारी अपने को सुसंस्कृत (Cultured) कहता था परन्तु स्थिति ऐसी थी कि स्वयं पाश्चात्य संस्कृति का ही शत्रु हो रहा था। स्त्रियों की उच्च शिक्षा के पक्षपाती पूर्व-प्रिय लोग थे—वे लोग जिन्हें आगे जा कर जनता "धर्मात्मा" तथा "महात्मा" कहने लगी। आरंभ में "महात्मा" एक कटाक्ष था—बाँधवों का कटाक्ष। इस कटाक्ष को सिर-माथे लिया गया। आज यह पद दोनों दलों का शिरोभूषण है। कालेज-दल अपने शिरोमणि नेता को महात्मा कहता है। स्त्री-जाति अपने उद्धार के लिए महात्मा विभाग की ऋणी है। जहाँ कालेज विभाग ने डी० ए० वी० कालेज के अनुकरण में स्कूल अधिक खोले हैं, महात्मा विभाग ने कन्या-महाविद्यालय

के अनुकरण में कन्या-पाठशालाएँ अधिक स्थापित की हैं। यह जलन्धर और लाहौर के प्रवृत्ति-भेद का परिणाम है। अगले अध्यायों में इस प्रवृत्ति-भेद पर और अधिक प्रकाश पड़ेगा।

मांसाहार की समस्या

ऋषि दयानन्द के पत्रों में एक पत्र ब्र० रामानन्द का मिलता है जो स० रूपसिंह के नाम लिखा गया है। स० रूपसिंह ने ऋषि से कुछ प्रश्न किये हैं। ३ फ़रवरी १८८२ को ब्रह्मचारी जी उन्हें उत्तर देते हैं :—

> "अब आप के प्रश्नों का उत्तर श्री स्वामी जी की आज्ञानुसार लिखता हूँ...........।"

इस से पूर्व १३ दिसंबर १८८१ को ब्रह्मचारी जी ने लिखा था :—

> "मांस खाना बहुत बुरा है और वेदादि सत्य शास्त्रों में कहीं विधान नहीं है।"

यह भी स० रूपसिंह जी के प्रश्नों का ऋषि की ओर से उत्तर है।

ऋषि दयानन्द मांसाहार के विरोधी थे। उन का जन्म ही कट्टर शाकाहारियों के वंश में हुआ था। टिहरी के मन्दिर में मांसाहारी पुजारी के न्योता देने पर उन के मन की जो अवस्था हुई थी उस का वर्णन उन्हों ने स्व·

लिखित जीवन चरित्र में किया ही है। सामिष भोजन से उन्हें स्वाभाविक घृणा थी। गोकरुणानिधि में उन का हृदय पशुओं के प्रति दया का मूर्त-रूप धारण कर द्रवित हो उठा है। उन्हों ने प्रभु से शिकायत की है कि उस के राज्य में पशुओं पर यह अत्याचार क्यों किया जाता है?

इस दयालु महात्मा द्वारा स्थापित किये गये आर्य समाज का, विशुद्ध शाकाहार का समर्थक तथा प्रचारक होना, स्वाभाविक था। फलतः हम आर्य समाज के पत्रों में आरंभ-काल से मांसाहार का निषेध ही निषेध पाते हैं। "पत्रिका", "प्रचारक", "गज़ट", "समाचार"—सभी पत्रों में मांसाहार की हानियाँ और शाकाहार के लाभ प्रतिपादित किये गये हैं। व्यक्तियों तथा समूहों के मांस-मदिरा-त्याग के समाचार बड़ी प्रसन्नता से प्रकाशित किये जाते रहे हैं। ८ मई १८८८ के आर्य गज़ट में निम्न-लिखित समाचार प्रकाशित हुआ है :—

> ला० रामचन्द्र साहब क़ानूनगो तहसील बल्लभगढ़ ने गोश्त व शराब से इजतिनाब (परहेज़) फ़रमा कर और मख़लूक़-परस्ती (सृष्ट-पूजा) व बुत-परस्ती वग़ैरा ज़माइम (बुराइयों) से ताइब हो कर वेद-धर्म को क़बूल किया। मुबारिक!

२४ मई १८८८ के "गज़ट" में फिर लिखा है :—

> सरदार बिशनसिंह साहब मेम्बर आर्य समाज मुज़फ़्फ़रगढ़ ने समाज में दाख़िल होते ही गोश्त व

शराब क़तअन यकलख़्त तर्क कर दिया। आफ़रीन आप की हिम्मत पर !

इसी तिथि को एक और समाचार इन शब्दों में छपा है :—

सिर्सा ज़िला अल्लहाबाद में स्वा० प्रकाशानन्द सरस्वती महाराज ने गोरक्षा के बारा में निहायत मुअस्सिर व्याख्यान दिया जिस से लोगों के दिल में बहुत कुछ रहम पैदा हो गया। यहाँ तक कि मौलवी मनसब अली साहब जो व्याख्यान सुनने की ग़रज़ से तशरीफ़ लाये थे, उन के दिल में इस क़दर रहम पैदा हुआ कि कुल हाज़िरीन के रूबरू इक़रार किया कि आज से मैं ने हरेक किस्म का गोश्त खाना तर्क कर दिया। अब ता ब ज़िन्दगी नहीं खाऊँगा। नीज़ ता ब-ज़ीस्त दो रुपया साल ब-इमदाद गोरक्षा सभा हरिद्वार देना क़बूल फ़रमाया। परमेश्वर मौलवी साहब के इरादे में इस्तिक़लाल बख़्शे।

ये उदाहरण आर्य सभासद बनने से पूर्व मांसाहार के छोड़ने के हैं। आर्य सभासद बन चुकने के पीछे किये गये मांस-भक्षण के त्याग के भी कई उदाहरण मिलते हैं। बाग़बान पुरा समाज के उपप्रधान सरदार आशासिंह के मांस मदिरा के त्याग पर उन्हें शाबाशी दी गई है और कहा गया है कि अपने जीवन को आदर्श बनाने से ही दूसरों पर प्रभाव डाला जा सकता है। ये घटनाएँ १८८८, ८६ की हैं। इस से पूर्व १८८६ में ला० मुन्शीराम (जो पीछे महात्मा मुन्शीराम कहलाये)

आर्य समाज में भर्ती होने के पश्चात् ही शाकाहारी बने थे—यह घटना उन के स्व-लिखित जीवन-चरित्र में मिलती है।

प्रतीत यह होता है कि शुरू शुरू में लोग बिना मांसाहार छोड़े भी आर्य समाज के सभासद् बन जाते थे। समाज के उपदेश तथा सत्संग द्वारा अन्य दोषों के साथ-साथ यह व्यसन भी अपने आप छूट जाता था और समाज की वेदि तथा पत्रों द्वारा मांसाहार का खण्डन ही किया जाता था।

ला० लाजपतराय की आत्म-कथा से ज्ञात होता है कि डी० ए० वी० कालेज की शिक्षा-पद्धति से असन्तुष्ट हो कर जो समुदाय इस संस्था के संचालकों के विरुद्ध खड़ा हुआ था, उस का एक आक्षेप उन नेताओं के मांसाहार पर भी था। उस समय लाहौर आर्य समाज की बागडोर उन्हीं महानुभावों के हाथ में थी। ला० लाजपतराय लिखते हैं:—

> पं० गुरुदत्त और मास्टर दुर्गाप्रसाद के हृदय में ला० साईंदास और ला० हंसराज का मांस-भक्षण खटकने लगा। लाहौर आर्य समाज में एक ऐसा दल बन गया जिस ने मांस-भक्षण के कारण ला० साईंदास पर आक्रमण करना आरंभ किया और उन को प्रधान पद से अलग करने की नींव डाली।
>
> (स्व० ला० लाजपतराय जी की आत्म-कथा पृ० ६३)

ला० मुल्कराज भल्ला ला० हंसराज के बड़े भाई थे। ला० हंसराज के सपूर्ण व्यय का भार उन्हीं पर था। वे आर्य समाज के सभासद् कभी नहीं हुए। परन्तु ला० हंसराज के कारण उन का भी समाज से संबन्ध समझा

जाता था। उन का विचार था कि हिन्दू जाति की आधुनिक निर्बलता का कारण जैन-धर्म का अहिंसा-प्रचार है। वे मांसाहार के पक्के पक्षपाती थे। उन्हों ने हिन्दुओं को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ उर्दू कविताओं की रचना भी की थी। वे कविताएँ बहुत प्रसिद्ध हुईं। वे मधुर गीतियाँ बच्चे-बच्चे की ज़बान पर चढ़ गईं और गली-गली में उन का गान होने लगा। मांसाहार की पुष्टि में उन्हों ने पुस्तिकाएँ प्रकाशित कराईं जिन में युक्तियों तथा प्रमाणों से सिद्ध किया गया कि मांस-भक्षण स्वास्थ्यकर और वेद-विहित है। लोगों ने इन पुस्तिकाओं का संबन्ध ला० हंसराज तथा उन के साथियों से भी जोड़ लिया। समझा यह जाने लगा कि लाहौर आर्य समाज का यह नेतृ-मण्डल ही उन विचारों का है जो ला० मुल्कराज के ट्रैक्टों में प्रकाशित हुए हैं।

ला० मुल्कराज एक प्रान्तीय प्रभाव के पुरुष थे और हैं। उन का मीठा मिलनसार स्वभाव उन के विचारों को आग की तरह फैलाता जा रहा था। उन के द्वारा रचे गये जाति-हित के गीत उन के मांसाहार के आन्दोलन के लिए रास्ता साफ़ कर रहे थे। आर्य सभासद न होने के कारण वे स्वयं तो शाकाहारी आर्य समाजियों के कोप से बचे हुए थे परन्तु उन के भाई ला० हंसराज तथा कालेज का अधिकांश संचालक-मण्डल जो दुर्भाग्य-वश इस दुर्व्यसन का शिकार था विद्रोही युवकों की तीव्र बाण-वर्षा से न बच सका। जो समुदाय डी० ए० वी० कालेज में प्रचलित इन महानुभावों की पाठ-पद्धति से पहिले ही असन्तुष्ट था, उसे

इन पर अँगुली उठाने का एक और कारण मिल गया। ला० मुल्कराज के ट्रैक्टों को उस समुदाय ने इन नीतिज्ञों की कुटिल नीति का स्पष्ट स्वरूप समझा और वह दल-बल सहित इन को पदच्युत करने पर उतारू हो गया।

३ अक्तूबर १८६१ के "सद्धर्म-प्रचारक" में "फलाहारी" का "ला० मुल्कराज को शास्त्रार्थ के लिए चैलेंज" प्रकाशित हुआ है। उस में लिखा है कि लाला जी स्वयं शाकाहारियों को स्थान-स्थान पर चैलेंज देते फिरते हैं।

२६ नवंबर १८६१ को लाहौर आर्य समाज के वार्षिक उत्सव में धर्म-चर्चा के समय दयानन्द कालेज के किसी बोर्डर ने प्रश्न उठाया कि क्या "मांस-भक्षण कर के कोई व्यक्ति आत्मिक उन्नति कर सकता है?" उत्तर गंभीरता से न दे कर उलटा उस में शाकाहारियों का उपहास उड़ा दिया गया। किसी ने मांसाहार के पक्ष में एक अँग्रेज़ी ट्रैक्ट प्रकाशित करा कर इस उत्सव के अवसर पर बाँटा। इस से पूर्व धर्मशाला के उत्सव पर भी यही शंका उठाई गई थी और ला० मुन्शीराम ने विपक्षियों को निरुत्तर तो कर दिया था परन्तु फिर भी, जैसे वे "सद्धर्म-प्रचारक" में लिखते हैं, उन लोगों का हठ दूर नहीं हुआ था। उन के विचार में आर्य समाज की स्थिति यह स्थिर हुई थी कि धर्म के साथ भोजन का कुछ सबन्ध नहीं है।

इन बातों को दृष्टि में रख कर "प्रचारक" ने अपनी १२ दिसंबर १८६१ की संख्या में इस विषय को उठा ही दिया। इस पर अनेक लेखकों ने लेख लिखे। गुजरखाँ के

ला० रलाराम ने ६ फ़रवरी १८६२ के "प्रचारक" में सत्यार्थ-प्रकाश के वे स्थल एकत्रित कर प्रकाशित करा दिये जिन में मांसाहार का निषेध किया गया है।

१८६२ के लाहौर आर्य समाज के उत्सव में फिर यह प्रश्न उठा। जलन्धर आर्य समाज ने अपने एक सभासद म० शंकरदास को कुछ दिन पूर्व पृथक् किया था। उस ने ला० मुल्कराज भल्ला द्वारा प्रकाशित ट्रैक्टों की सहायता से अथर्ववेद के कुछ मन्त्र पेश किये और कहा—इन में मांस-भक्षण का विधान प्रतीत होता है। गुजराँवाला आर्य समाज के प्रधान ला० केवलकृष्ण ने इस का उत्तर दिया जिस में ला० शंकरदास के अर्थों का निराकरण किया गया।

परोपकारिणी सभा के उपप्रधान ला० मूलराज इस उत्सव में विद्यमान थे। उन्हों ने कहा—यह सम्मति संपूर्ण आर्य समाज की नहीं, उस के कुछ सभासदों ही की हो सकती है। लाला जी ने अपना उदाहरण दे कर कहा कि मांस-भक्षण को पाप न समझने वाले भी आर्य समाज के सभासद हो सकते हैं।

ला० जीवनदास और भ० रैमल ने इस विचार का खण्डन किया। इस बीच में ऋषि दयानन्द की सम्मति तथा उस के प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक होने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। म० शंकरदास के मुख से ऋषि के संबन्ध में कुछ अनुचित भाषण हो गया और उस पर शर्म! शर्म!! की ध्वनि उठी। इस वाद-विवाद ने उत्सव के वातावरण को विक्षुब्ध कर दिया। लाहौर आर्य समाज का यह

अन्तिम सम्मिलित उत्सव था। इस के पश्चात् शाकाहारियों का पक्ष प्रबल हो गया और उन्हों ने प्रधानादि पदों से पूर्व अधिकारियों को हटा दिया।

मांसाहार के साथ-साथ एक और प्रश्न भी आर्य समाज के वाद-विवाद का कारण बन रहा था। वह प्रश्न मांस के प्रश्न से कहीं अधिक व्यापक था। यदि आर्य समाज के मांस-भक्षण-सबन्धी सिद्धान्त के विषय में प्रत्येक आर्य सभासद स्वतन्त्र सम्मति रखने का अधिकारी है तो अन्य मन्तव्यों के विषय में क्या स्थिति है? ईश्वर, वेद, मूर्ति-पूजा, श्राद्ध, वर्ण-व्यवस्था इत्यादि विषयों पर सम्पूर्ण आर्य समाज का कोई मन्तव्य-विशेष है या नहीं? वह मन्तव्य सब सभासदों को मानना आवश्यक है या नहीं? संक्षेप में वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक बन्धन का आर्य समाज में क्या स्थान है? २ जनवरी १८६२ के "प्रचारक" में ला० रलाराम का एक पत्र प्रकाशित हुआ है जिस में इस समस्या पर विचार किया गया है। लाहौर आर्य समाज के नवीन अधिकारी ऋषि दयानन्द के लेख को पूर्णतया प्रामाणिक मानते हैं। उन के मत में ऋषि का भाष्य ही वेद के रहस्य का उद्घाटन करता है। कुछ विचारक तो ऋषि को सीधा निर्भ्रान्त कह देते हैं। विशुद्ध स्वतन्त्रता-वादी अपनी बुद्धि को ऋषि के कथन से ज़रा-भी नीचा स्थान देने को तय्यार नहीं हैं। बीच-बीच का दल ऋषि के लेख को तब तक प्रामाणिक मानता है जब तक उस में स्पष्ट अशुद्धि न दिखाई जाय। ऋषि-भक्त, पं० गुरुदत्त की परम्परा के ही रक्षक प्रतीत होते हैं। विशुद्ध स्वतन्त्रता-

वादियों के मुक़ाबिले में पं० गुरुदत्त ने एक वार स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि ऋषि का शब्द-शब्द सत्य है। उन्हों ने इस विषय पर विपक्षियों को शास्त्रार्थ का खुला चैलेंज भी दे दिया था।

ला० मूलराज का मत अब तक यही चला आया है कि आर्य-सभासद होने के लिए समाज के दस नियमों को ही मानना पर्याप्त है। इन नियमों में और तो और, चार वेदों का भी स्पष्ट नाम नहीं आया। एक आर्य-सभासद को उन के कथनानुसार विचार तथा आचरण की खुली स्वतन्त्रता दी गई है। ला० मूलराज के मांसाहार-संबन्धी विचारों की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। वे केवल स्वयं ही मांसाहारी न थे किन्तु इस का प्रचार भी करते थे। इस से आर्य समाज के सम्मुख समस्या यह उपस्थित हो गई कि क्या ऋषि दयानन्द के विचारों के विरुद्ध आन्दोलन करने वाला भी आर्य-सभासद रह सकता है? लाहौर आर्य समाज की अन्तरङ्ग सभा में राय बहादुर मूलराज को सभासदी से अलग कर देने का प्रस्ताव भी किया गया परन्तु वह शाकाहारी दल के एक प्रबल सदस्य राय पैड़ाराम की असहमति के कारण अस्वीकार हुआ।

जो लोग मांसाहार को दुराचार समझते थे उन के लिए उस का प्रचार एक स्पष्ट दुर्व्यसन का प्रचार था। वह यह कैसे सहन कर सकते थे कि इस अपराध के अपराधी आर्य सभासद बने रहें? दूसरी तरफ़ विधि-व्यवस्थाओं के उपासक थे। उन्हें समाज के नियमों में कहीं इस बात का विधान

ही नहीं मिलता था कि कोई व्यक्ति समाज में प्रविष्ट होने के पश्चात् किसी दुर्व्यसन के कारण उस से पृथक् किया जा सकता है। जिन लोगों की भावना मांसाहार के विषय में शिथिल-सी थी, वे तो नियमावली के इस दोष का लाभ उठाते ही थे; परन्तु शाकाहारियों में से कुछेक विधि-विधानों के पुजारी भी इस बहिष्कार की नीति को न्याय-विरुद्ध समझते थे। राय पैड़ाराम इस समुदाय में से प्रतीत होते हैं। कुछ हो, उन्हों ने राय बहादुर मूलराज को आर्य समाज से पृथक किये जाने से बचा दिया।

१८६२ से १८६४ तक के वर्ष लाहौर आर्य समाज में अत्यन्त कलह के वर्ष थे। १८६३ में ला० लालचन्द तथा ला० हंसराज आदि ने अपना चुनाव अलग कर अपने समाज के सत्संग अलग लगाने आरम्भ कर दिये। १८९३ का उत्सव भी दो स्थानों पर हुआ। १८९४ में डी० ए० वी० कालेज के द्वार पर दोनों दलों में डंडा भी चल गया। इस से पूर्व ला० लाजपतराय ने "डी० ए० वी० कालेज समाचार" के १५ सितम्बर १८६३ के अंक में लिखा था:—

> हाँ! हमारी आत्मा पुकारती है कि काश! ला० हंसराज मांस खाना छोड़ सकते या छोड़ देते तो आर्य समाज के चेहरे से वह मुसीबत जो इस वक्त नाज़िल हो रही है मिस्ल बाद-इ-रवां के सर-सर उड़ जाती।
>
> पृ० ३४

पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि १८६३ का पृथक्-पृथक् उत्सव नवम्बर मास में हुआ अर्थात् ला० लाजपतराय

के उपर्युक्त लेख के दो मास पश्चात् और डी० ए० वी कालेज-संबन्धी दंगा उस के भी ६ मास बाद। लाला लाजपतराय कालेज के विषय में कालेज विभाग के साथ थे। यही नहीं, कालेज-समाज के वे प्रधान ही थे। परन्तु उन्हें भी समाज के नेताओं का मांस-भक्षण उस घोर आपत्ति का कारण प्रतीत होता था जो आर्य समाज के सिर पर मँडला रही थी। उस आपत्ति के अर्पण हम सम्पूर्ण आगामी अध्याय ही करने वाले हैं। यहाँ प्रसंग-वश उस की ओर संकेत कर दिया गया है।

लाहोर के घटना-चक्र का वर्णन करते हुए हम ने जोधपुर की एक महत्व-पूर्ण घटना को बीच में से छोड़ दिया है जिस का प्रभाव लाहोर की वस्तु-स्थिति पर कुछ कम गहरा नहीं पड़ा। कर्नल सर प्रतापसिंह ऋषि दयानन्द के शिष्यों में से थे। उन्हें ऋषि की शिक्षाओं ने ही एक दुर्बल शक्ति-हीन पुरुष से पूर्ण पराक्रमी योद्धा बना दिया था। वे राजपूत तो थे ही। उन का मत था कि राजपूतों के लिए मांस-भक्षण आवश्यक है। उन्हों ने इस विषय में आर्य विद्वानों की सम्मति लेनी चाही। स्वा० अच्युतानन्द जी, स्वा० प्रकाशानन्द जी, पं० गंगाप्रसाद एम० ए०, पं० भीमसेन, पं० लेखराम इत्यादि पण्डित जोधपुर पहुँचे। पं० भीमसेन जी की सम्मति का, ऋषि दयानन्द के शिष्य होने के कारण, विशेष मान था। पण्डित जी उन दिनों "आर्य सिद्धान्त" के सम्पादक थे। उस में उन्हों ने इस घटना का वृत्तान्त सविस्तर लिखा है। पण्डित लेखराम

ने मांस का घोर विरोध किया। पं० भीमसेन ने यों तो मांस-भक्षण को वेद-विरुद्ध बताया परन्तु हिंसक पशुओं का मांस किसी मांसाहारी को दे दिया जाय तो इस में हिंसा का दोष नहीं होता—ऋषि दयानन्द की इस सम्मति से राजपूतों के लिए हिंसक पशुओं के मांस का भोजन कर लेना आपत्ति-रहित प्रतिपादित कर दिया। यह सम्मति मानो एक प्रकार का समझौता थी परन्तु सर प्रतापसिंह के किस काम की? पण्डित जी को ५००) भेंट में मिला और वे लौट आये।

स्वा० प्रकाशानन्द इस के पश्चात् मांसाहार का खुला प्रचार करने लगे। उन्हों ने इस की पुष्टि में चार ट्रैक्ट भी प्रकाशित किये। पंजाब के झगड़े में ये ट्रैक्ट बड़े विवाद का कारण बने। उन में मांसाहार के विधान को इतना दूर ले जाया गया कि पंजाब का मांसाहारी समुदाय भी उस का समर्थन न कर सका।

२८ दिसम्बर १८९३ के अधिवेशन में परोपकारिणी सभा के सम्मुख यह विषय आया। इस सभा ने निर्णय करने से पूर्व समाजों की सम्मतियाँ एकत्रित की थीं। मांसाहार के पक्ष में जोधपुर समाज के सिवाय कोई और आर्य समाज न था। समाजों के इस बहु-मत के साथ परोपकारिणी सभा ने भी अपनी सहमति प्रकट कर दी कि मांसाहार वेद-विरुद्ध है।

मई १८९४ के दंगे के पश्चात् दोनों दल एक दूसरे से अलग रहे। मांस के विषय में अखबारी बहस तो बड़े ज़ोर-

शोर पर रही परन्तु कोई विशेष घटना नहीं हुई। मार्च १८९७ में धर्मवीर पं० लेखराम का बलिदान हुआ। इस अवसर पर दोनों दलों ने फिर से मिल कर काम करने का निश्चय किया। ला० हंसराज सम्मिलित समाज के प्रधान बनाए गये और इन के सभापतित्व में वच्छोवाली मन्दिर में सम्मिलित सत्संग हुआ। उस में पण्डित आर्यमुनि का भाषण हुआ जिस में उन्हों ने मांसाहार का खुला खण्डन किया। मांसाहारी प्रधान के सभापतित्व में मांसाहार का खण्डन हो रहा था—इस से उस समय की समाज की स्थिति पर खूब प्रकाश पड़ता है। वेद का प्रयोग तो यथा-पूर्व मांसाहार के निषेध के लिए ही किया गया परन्तु कोई मांसाहारी सभासदी से हटाया जाय अथवा किसी अधिकार से वञ्चित किया जाय—यह कलह से पूर्व की समाज की नीति के विपरीत था। पं० लेखराम के बलिदान द्वारा पैदा हुए श्मशान-वैराग्य ने कुछ समय के लिए उस पुरानी नीति को फिर से चालू कर दिया। परन्तु अब समय बदल चुका था। मांसाहार के विरोधी अब उस पुरानी सीमा से आगे निकल गये थे। इस श्मशान-वैराग्य के फल-स्वरूप इन दो विरोधी समुदायों का मेल कुछ दिन रह कर फिर हट गया। डी० ए० वी० कालेज के अधिकारी कालेज पर अपने अधिकार को अबाधित बनाने की चिन्ता में हुए और प्रतिनिधि सभा के संचालक सभा पर अपना आधिपत्य अक्षुण्ण रखने की उधेड़-बुन में लग गये। यह कथा अगले अध्याय का विषय होगी। वर्तमान प्रसंग से सम्बद्ध केवल

इतनी ही बात है कि प्रतिनिधि सभा के नेताओं ने ११ जनवरी १८६८ को यह नियम पास किया कि "जो मनुष्य यह राय रखे कि ऐसे भोजन का खाना जिस में मांस अर्थात् गोश्त, मुर्गी, मछली, अंडा इत्यादि हों, वेदों के अनुसार है और पाप नहीं है, आर्य प्रतिनिधि सभा के मतालब के लिए समझा जावेगा कि उस ने सदाचार की उक्त शर्त को तोड़ दिया है।"

समाज के नियम, उपनियम ऋषि दयानन्द के बनाए हुए थे। उन में हस्ताक्षेप करना कठिन था परन्तु प्रतिनिधि सभा आर्य समाजियों की अपनी रचना थी। उस के नियमों में यथेष्ट परिवर्तन तथा परिवर्धन किया जा सकता था। जिन राय पैड़ाराम की सम्मति के कारण ला० मूलराज मांसाहार के प्रचारक रहते हुए भी आर्य समाज से पृथक् न किये जा सके, उन्हीं के परामर्श से आर्य प्रतिनिधि सभा में मांसाहारियों का प्रविष्ट होना ही निषिद्ध हो गया।

आर्य समाज के दो विभागों में बट जाने का वृत्तान्त अगले अध्याय में वर्णन किया जायगा। यहाँ हमें इतना ही कहना है कि कोई वर्ष-भर इकट्ठे रह कर ये दो समुदाय फिर अलग हो गये और तब के फिर नहीं मिले। मांसाहार को वेद-विरुद्ध तो दोनों दल मानते ही हैं, इस लिए इन में सिद्धान्त-संबन्धी भेद कुछ भी नहीं है। भेद केवल व्यवहार का है। एक विभाग की प्रतिनिधि सभा का द्वार मांसाहारियों के लिए बन्द है। इस विभाग के समाज भी प्रायः मांसाहारियों को सभासद नहीं बनाते हैं। दूसरा विभाग

मन्तव्य में सहमत होता हुआ भी इस ओर कोई क्रियात्मक पग उठाने को उद्यत नहीं है। ला० हंसराज अब मुद्दत के महात्मा हंसराज बन चुके हैं। उन्हों ने मांसाहार छोड़ दिया है और अक्तूबर १६३३ में अपने एक वक्तव्य में उन्हों ने मांस-भक्षण की खुली निन्दा की थी। अतः जहाँ तक सिद्धान्त का संबन्ध है, समाज में मांसाहार के संबन्ध में कोई विभाग नहीं है। व्यक्ति-रूप से अब कई प्रकाशानन्द भी हैं, मूलराज भी। परन्तु उन की आवाज़ में वह बल नहीं है।

इतिहास-वेत्ता जानते हैं कि जिस प्रवृत्ति का एक बार जन्म हो जाय उस का बीज-नाश हो जाना कठिन है। प्रबल अथवा शिथिल रूप में सभी विचार विद्यमान रहते हैं और अनुकूल अवसर पाते ही फिर से अंकुरित हो उठते हैं। सो भविष्य की तो परमेश्वर जाने। इस समय शाका-हार का बोल बाला है।

आर्य समाज के दो विभाग

मत-भेद मानव समाज की घुट्टी में है । "तुण्डे तुण्डे मतिर्भिन्ना"—यह एक पुरानी कहावत है । ऋषि के जिस स्मारक ने ऋषि के देहान्त के शोक का स्थान असीम कर्मण्यता और उत्साह को दे दिया था, उस की पाठ-विधि के संबन्ध में आगे जा कर दो मत पैदा हो गये । पं० गुरुदत्त और उन के अनुयायी कालिज में वेद तथा शास्त्रों की प्रधानता चाहते थे और ला० हंसराज और उन के साथी "पाश्चात्य विज्ञान" तथा शिक्षा को मुख्य स्थान दे रहे थे। ला० लालचन्द डी० ए० वी० कालेज सोसाइटी के प्रधान थे। वे तथा ला० साईंदास हंसराज-दल के अगुआ थे। ला० लालचन्द के लिखे कालेज के वृत्तान्तों से एक-दो उद्धरण हम किसी पिछले अध्याय में दे चुके हैं। १९११ में प्रकाशित किये गये पचीस साल के वृत्तान्त से हम एक और उद्धरण नीचे दिये देते हैं :—

इस में सन्देह नहीं कि पिछले कुछ वर्षों में विज्ञान को मुख्यता मिलती रही है । न केवल उपकरणों के

निस्संकोच क्रय करने से किन्तु कम से कम एक लाख रुपये की लागत के एक अलग भवन के निर्माण द्वारा भी, इस विषय की शिक्षा का पर्याप्त प्रबन्ध कर दिया गया है। यदि बहुतों की नहीं तो कुछ लोगों की प्रवृत्ति तो इस विचार की ओर है ही कि विज्ञान को उस का उचित भाग दिया जा चुका है। अब संस्कृत की बारी है; वह आगे बढ़े और अपने उचित अंश को प्राप्त करे।...........यदि (प्रबन्ध-) समिति ने अपनी जागरूकता को स्थिर रखा तो मुझे आशा है कि शिक्षा के इस विभाग को प्रोत्साहित करने में भी पर्याप्त उन्नति होगी जिस का आगे ले जाना आरम्भ-काल से इस संस्था का प्रथम उद्देश्य रहा है। पृ० १३०

ला० लालचन्द जी का यह लेख १९११ का है। फिर ला० लालचन्द तो थे ही हंसराज दल के नेता। १८९० के लगभग जब कालेज के विषय में सम्मति-भेद अपने उग्र-रूप में प्रकट हो रहा था, संस्कृत के प्रति उपेक्षा की यह मनोवृत्ति बहुत अधिक अखरती होगी। ला० लाजपतराय अपनी आत्मकथा में पं० गुरुदत्त के विषय में लिखते हैं :—

लोग कहते हैं कि एक बार इन्हों ने यह भी कहा कि अच्छा होता यदि मैं अपनी सारी अँग्रेज़ी और पश्चिमी विद्या को भूल सकता और केवल संस्कृत जानता। पृ० ६१

सम्भवतः संस्कृत के इसी अनुराग के कारण पण्डित गुरुदत्त ने कालेज की प्रबन्ध-समिति से ५०००) संस्कृत

के एक पुस्तकालय की स्थापना के लिए माँगे थे परन्तु जैसे हम ऊपर कह आये हैं, वह राशि दी नहीं जा सकी थी।

कालेज के उद्देश्यों में पहिला स्थान संस्कृत का था। पाश्चात्य विज्ञान का स्थान इस से पीछे आता है। परन्तु व्यवहार में यह क्रम उलट दिया गया। यह बात संस्कृत-प्रेमियों को असह्य थी।

शुरू-शुरू में तो नेता स्वयं जीते थे। वे मत-भेद के रहते हुए भी एक-दूसरे का विरोध नहीं करते थे। अपने अनुयायिओं को भी उन्हों ने संयम में रखा हुआ था। ला० साईंदास और पं० गुरुदत्त के देहान्त के पश्चात् अवस्था क़ाबू से बाहर होने लगी।

ला० साईंदास के पश्चात् ला० हंसराज लाहौर समाज के प्रधान निर्वाचित हुए। परन्तु जैसे ला० लाजपतराय अपनी आत्मकथा में लिखते हैं, इन मांसाहारी नेताओं का विरोध ला० साईंदास के जीवन में ही आरम्भ हो गया था। ला० हंसराज की प्रधानता उन के विरोधी दल को और भी अधिक अखरने लगी। दोनों दल चुपके-चुपके अपनी संख्या बढ़ाने में प्रवृत्त हुए। नवम्बर १८६२ के चुनाव में विद्रोही दल के नेता मा० दुर्गाप्रसाद प्रधान निर्वाचित हो गये। अंतरंग सभा के शेष सभासदों की संख्या दोनों दलों में बराबर-बराबर विभक्त थी। कालेज दल का एक सभासद जो किसी समूह के द्वारा अन्तरंग सभासदी के लिए प्रस्तावित हुआ उसे प्रधान की निर्णायक सम्मति से अस्वीकार कर दिया गया। इस पर झगड़ा अधिक बढ़ गया। यों तो

मा० दुर्गाप्रसाद के प्रधान बनते ही अन्तरंग सभा के अधिवेशन युद्ध के अखाड़े-से बन गये थे। परन्तु इस घटना ने दोनों दलों का सहयोग असम्भव-सा कर दिया। कालेज दल की एक बैठक ला० लालचन्द के और एक और भक्त ईश्वरदास के स्थान पर हुई। वाद-विवाद के पश्चात् निश्चय हुआ कि एक अलग स्थान किराये पर ले कर वहीं अपना अलग सत्संग कर लिया जाया करे। इस दल ने अपना चुनाव भी पृथक् कर लिया। ला० लाजपतराय इस नये समाज के प्रधान हुए और ला० बुड्ढामल मन्त्री। जहाँ आजकल अनारकली समाज का मन्दिर है, वहीं एक इहाते के प्रकार का मकान पड़ा था। उसे किराये पर ले कर अलग समाज स्थापित कर दिया गया।

इस प्रकार समाज के मन्दिर से तो कालेज दल अपने आप पृथक् हो गया। संभावना यह भी थी कि समय बीतने पर शायद फिर से ऐक्य की स्थापना हो सके परन्तु पारस्परिक अविश्वास बीच की खाई को अधिकाधिक विस्तृत करता गया।

वैमनस्य के तीन कारण थे—(१) कालेज की पाठ-विधि के संबन्ध में मतभेद, (२) मांसाहार के विषय में व्यवहार तथा दृष्टि का भेद (३) कन्या महाविद्यालय के स्वरूप के संबन्ध में पारस्परिक असहमति।

डी० ए० वी० कालेज समाचार की दिसंबर १८९३ की संख्या में देहली के कुछ मानित सज्जनों की "इल्तिमास ज़रूरी" प्रकाशित हुई है। उन्हों ने दोनों पक्षों को परस्पर

शान्ति स्थापित करने का परामर्श दिया है। इस इश्ति-मास में "बुनियाद-इ-निफ़ाक़" (वैमनस्य का आधार) इन तीन कारणों को बताया गया है। पृ० १२

लूनमियानी के ला० ज्वालासहाय ने जिन का ८०००) का दान ला० लालचन्द जी के लेखानुसार डी० ए० वी० कालेज के कोष में पहिले दिनों आये दानों में सब से बड़ा दान था और जो उस के पश्चात् भी भिन्न-भिन्न अवसरों पर कालेज की सहायता करते रहे, सितम्बर १८६३ में एक ट्रैक्ट प्रकाशित कराया था। दोनों दलों के नेताओं को उन्हों ने भी मिल कर काम करने का परामर्श दिया था। उन्हों ने भी वैमनस्य के यह तीन कारण बताए हैं। मांसाहार के संबन्ध में उन के लिखे निम्न-लिखित वाक्य ध्यान देने योग्य हैं :—

> अब कहाँ यह हाल है कि जो लोग वेदों का गूढ़ अभिप्राय क़ौम को गोश्तख़ोरी से बलिष्ठ बनाना निश्चय कराते और अपने हाथों से पशु-घात के निर्भय नित्य अभ्यास से आर्य सन्तानों को सूरमा बनाना चाहते हैं और जिन ज़रीओं से आर्यावर्त्त-मात्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सर्व वर्णों में एकमयी मांस-भोजन का प्रचार हो जावे, उन को अपना कर्तव्य-कार्य और मुख्य उद्देश्य ख़याल फ़र्माते ...... हैं। वेदों के ईश्वरीय होने का ख़ुद यक़ीन नहीं रखते बल्कि उन में परस्पर विरोधी अहकामों का होना फ़रमा कर 'बावजूद कि इस नामुराद फ़साद से पहिले

श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के सब से बढ़ कर परम-भक्त और उन के योग-तप के सनाख़ां थे और अब आनन्-फ़ानन् में काया-पलट कर श्री १०८ स्वामी जी की भी वह इज़्ज़त नहीं करते जिस के कि वे मुस्तहिक़ थे। वेनती पृ० १६

यह उद्धरण यहाँ यह दिखाने के लिए दिया गया है कि मांसाहार की समस्या के प्रसंग से वेद तथा ऋषि की प्रामाणिकता की समस्या भी उठ खड़ी हुई थी। वास्तव में प्राचीन शास्त्रों के लिए उचित आदर-बुद्धि का होना या न होना ही इस मत-भेद का मुख्य हेतु था। शास्त्रों का जो आदर संस्कृत की प्रधानता पर आग्रह कर रहा था, वही वेद तथा ऋषि की प्रामाणिकता पर भी बल देता था और वेद तथा ऋषि ही के प्रमाण से मांसाहार का खण्डन करता था। कन्या-महाविद्यालय का प्रश्न तो मुख्यतया व्यावहारिक नीति ही का प्रश्न था। धन का प्रवाह बँट जाने से, पहिले खुल चुकी संस्था को हानि पहुँचने की संभावना थी। इस के अतिरिक्त स्त्रियों की उच्च शिक्षा का भी तो ऋषि ने शास्त्रों के आधार पर ही विधान किया था। प्रचलित रिवाज तो इस का बाधक ही था।

जहाँ अनारकली समाज का मन्दिर था, उस के पास से ही "भारत-सुधार" नाम की पत्रिका निकलती थी। वह कालेज दल की, जिसे उन दिनों व्यंग्य से कलचर्ड (Cultured) दल कहा जाता था, मुख्य पत्रिका थी। इस के मुक़ाबिले में महात्मा दल की ओर

स, जो दूसरे दल का व्यंग्य पूर्ण नाम था, जलन्धर से "सद्धर्म प्रचारक" निकल रहा था। "प्रचारक" के लेख अधिक योग्यता-पूर्ण होते थे, अतः उस का प्रभाव अधिक था। इस से महात्मा दल की शक्ति भी उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। जुलाई १८६३ में ला० लाजपतराय के सम्पादकत्व में "डी० ए० वी० कालिज समाचार" प्रकाशित होने लगा। लाला जी इस समय कालेज की प्रबन्ध-समिति के मन्त्री बनाए जा चुके थे। "समाचार" का उद्देश्य डी० ए० वी० कालेज को लोक-प्रिय बनाना था। जहाँ "भारत-सुधार" के लेखों में ग्रामीणता का प्रवेश भी हो जाता था, वहाँ "समाचार" सभ्यता के स्तर से न उतरने की प्रतिज्ञा कर चुका था। कालेज की शिक्षा-नीति का शिष्टता-पूर्वक प्रचार "समाचार" द्वारा किया जाने लगा। सितम्बर १८६३ में गूजरखाँ के ला० रलाराम ने "वेदाध्ययन प्रेरक" नाम का मासिक प्रकाशित करना आरंभ किया। उस में भी सभ्यता के ऊँचे स्तर से ही कालेज की पाठ-पद्धति की समालोचना होने लगी। ला० रलाराम का दृष्टि-कोण महात्मा दल का दृष्टि-कोण था। ला० रलाराम डी० ए० वी० कालेज की प्रबन्ध-समिति के सदस्य थे। परन्तु अब हंसराज-पक्ष इस समिति में अधिकाधिक प्रबलता प्राप्त करता जा रहा था। ला० रलाराम ने अपने दृष्टि-बिन्दु से जनता को शिक्षित करना चाहा। उन के और ला० लाजपतराय के, शिक्षा के आदर्श तथा प्रकार-सम्बन्धी, वाद आज भी खूब रुचिकर प्रतीत होते हैं। ला० लाजपतराय का कहना है कि डी०

ए० वी० कालेज ने एक नई शिक्षा-पद्धति को जन्म दिया है क्योंकि प्रारंभिक श्रेणियों में इस की शिक्षा का माध्यम हिन्दी है। ला० रलाराम हिन्दी की साहित्यक दरिद्रता की ओर संकेत कर कहते हैं—इस से शिक्षा की प्रणाली में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता। हिन्दी की साहित्यक पूँजी उर्दू के बराबर भी तो नहीं है। फिर हिन्दी का विकास तथा परिष्कार संस्कृत के अभ्यास के बिना नहीं हो सकता। उन की दृष्टि में भारत की राष्ट्रिय शिक्षा का आधार संस्कृत साहित्य का अनुशीलन ही है। संस्कृत ही भारत की प्राचीन साहित्यक भाषा है। इसी के द्वारा भारत का मानसिक विकास हुआ है। इसी में भारत का अध्यात्म शास्त्र, नीति, विज्ञान तथा कला का पारंपरिक ज्ञान सुरक्षित है। जब तक भारत के छात्रों के विचार का माध्यम उन के प्राचीन पूर्वजों की यह साहित्यक वाणी नहीं हो जाती, भारत में मानसिक राष्ट्रियता का उदय होना असंभव है। आंगल-भाषा-प्रधान शिक्षा भारत की मानसिक दासता का ही कारण बनी रहेगी। विदेशी भाषा द्वारा शिक्षित हो कर भारतीयों में मौलिकता का विकास होना संभव नहीं है। मनुष्य वही रहेंगे परन्तु रीति-नीति विदेशी हो जाने से आर्यत्व का नाश हो जायगा।

इस के विपरीत ला० लाजपतराय कहीं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को कालिदास का समकक्ष बना कर हिन्दी के गुण गा रहे हैं। कहीं डी० ए० वी० स्कूल की छठी, सातवीं तथा आठवीं श्रेणी में सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के अर्थ-सहित

समाप्त हो जाने के कारण कालेज के प्रथम उद्देश्य की पूर्ति होती सिद्ध कर रहे हैं। कहीं ला० लालचन्द द्वारा प्रस्तावित संस्कृत की पाठ-विधि की पं० गुरुदत्त की आयोजना के साथ तुलना कर महाविद्यालय में संस्कृत की उन्नति के सपने देख रहे हैं। कहीं प्रारम्भिक श्रेणियों में विद्यार्थियों के ह्रास की ओर संकेत कर कहते हैं—अधिक परिवर्तन से कालेज छात्र शून्य हो जायगा। आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति संस्कृत द्वारा नहीं, आंगल-विज्ञान द्वारा ही होती है। दिनोदिन वृद्धि को प्राप्त हो रही, विलायत जा रहे विद्यार्थियों की संख्या इस में प्रमाण है। मौलिकता की दृष्टि से गणितज्ञ रामचन्द्र, पुरातत्व-वेत्ता राजेन्द्रलाल मित्र, वाग्मी सुरेन्द्रनाथ बैनरजी इत्यादि उन की दृष्टि में पुराने कला-कोविदों के जवाब हैं।

ला० रलाराम का कहना है कि यूनिवर्सिटी के वर्तमान कोर्स के रहते संस्कृत का, उच्च कक्षा का अनुशीलन असम्भव है। विद्यार्थी दोहरा बोझ नहीं उठा सकेगा, नहीं उठा सकेगा। इस के उत्तर में ला० लाजपतराय कभी तो ला० लालचन्द द्वारा प्रस्तावित पाठ-पद्धति में प्रचारक, एञ्जनियर तथा वैद्य—इन तीन विभागों की शिक्षा के यूनिवर्सिटी से स्वतन्त्र रखे जाने के प्रस्ताव की ओर इशारा कर देते हैं और कभी एच्छिक विषयों की कमी की संभावना की आशा दिला देते हैं।

दोनों पत्रों के एक-साथ अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जहाँ ला० लाजपतराय कालेज की वर्तमान

वस्तु-स्थिति को वास्तविकता-वाद (Realism) की ठोस भित्ति पर स्थिर करते हैं, वहाँ ला० रलाराम कालेज के उद्घोषित आदर्शों की ज्योति में आदर्श जातीयता तथा आदर्श धार्मिकता की स्थापना करना चाहते हैं। उन की दृष्टि में पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार के लिए सरकारी शिक्षणालय पर्याप्त हैं। यदि यूनिवर्सिटी की शिक्षा के बिना छात्रों का मिलना असम्भव है तो इस अनावश्यक कार्य से राष्ट्रिय सभाओं को अपना हाथ हटा लेना चाहिए। पाश्चात्य शिक्षा राष्ट्रियता के ह्रास के लिए है, विकास के लिए नहीं।

ला० लाजपतराय का यह कथन कि पं० गुरुदत्त के देहान्त के पश्चात् कालेज के संयुक्त "एंग्लो" और "वैदिक"—पाश्चात्य और पौरस्त्य—उद्देश्य के अनुरूप पाठ-प्रणाली का निर्माण करने की योग्यता ही किसी में नहीं है, समस्या के मर्मस्थल पर अँगुली रख देता है। वास्तविकता यही है कि उस समय आर्य समाज के क्षेत्र में कोई ऐसा महामना पुरुष था ही नहीं जिस की प्रतिभाशाली बुद्धि पूर्व तथा पश्चिम—दोनों दिशाओं के विज्ञान का उचित समन्वय कर भारतीयता को उस समन्वित सूत्र का शिरोमणि बना देती। कालेज का प्रबन्ध अँग्रेज़ी-पढ़ों के हाथ में था। उन्हों ने अपनी योग्यता के अनुसार उसे अँग्रेज़ी साँचे में ढाल दिया। वेद की प्रधानता उस में न हो सकी, न हो सकी।

ला० रलाराम ने अन्त में जा कर इस विषय पर भी विचार किया है कि क्या उदार शिक्षा देना आर्य समाज का काम है भी? उन की सम्मति में समाज देशोद्धार के

सभी कार्य अपने हाथ में नहीं ले सकता। एक धार्मिक सभा का काम तो धर्म-प्रचार ही है। उसे उसी पर केन्द्रित रहना चाहिए।

यह विचार-विनिमय पत्रों के द्वारा हो रहा था परन्तु क्रियात्मक विवादों का निर्णय पत्रों नहीं, वोटों ही के द्वारा होना था। २७ मई १८६३ के अधिवेशन में कालेज सोसाइटी ने अपने नियमों में संशोधन किया। इस समय तक उन सब समाजों को जो १०००) कालेज के लिए एकत्रित कर चुकी हों अपनी संपूर्ण अन्तरंग सभा को सोसाइटी में तथा एक प्रतिनिधि प्रबन्ध-समिति में भेजने का अधिकार था। अब यह राशि १०००) के स्थान पर २०००) कर दी गई। सोसाइटी का एक और नियम यह था कि ऐसे किसी आर्य समाज का जो सभासद् १००) कालेज फ़ंड में दे चुका हो वह भी सोसाइटी का सदस्य समझा जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि कालेज की पाठ-पद्धति से असन्तोष के कारण समाज अपने बहु-मत का बोझ कालेज सोसाइटी पर इस प्रकार डालना चाहते थे कि इस विषय में समाज के बहु-मत से असहमत, सोसाइटी के सदस्यों को सभासदी से पृथक् कर दें। सोसाइटी ने नियम पास कर दिया कि इस प्रकार पृथक् किया गया सभासद् यदि तीन मास के अंदर-अंदर किसी और समाज का सभासद् बन जाय तो वह सोसाइटी का यथापूर्व सदस्य रहेगा। समाजों ने इस पर कोलाहल मचाया। नया नियम समाजों के अधिकार पर कुठाराघात समझा गया। ला० लाजपतराय ने "समाचार"

में लिखा कि समाजों के अधिकार यथापूर्व सुरक्षित रखे गये हैं। केवल सोसाइटी के सदस्यों को अस्थिरता के भय से बचाया गया है। लाला जी की यह दूसरी बात यथार्थ है परन्तु इस से कालेज, समाजों के अधिकार से निकल नहीं गया—यह बात कोई साधारण से साधारण बुद्धि का मनुष्य भी नहीं समझ सकता। इस स्थल पर लाला जी का हेत्वाभास उपहास जनक है। लाला जी कहते हैं—जब एक समाज का सभासद किसी अन्य समाज का प्रतिनिधि हो सकता है तो एक समाज का प्रतिनिधि (उस समाज द्वारा बहिष्कृत हो कर भी) किसी और समाज का सभासद क्यों नहीं बन सकता? बहिष्कार की अवस्था में किसी दूसरे समाज का उसे सभासद बनाना भी एक विचारणीय विषय है परन्तु इस परिवर्तन के पश्चात् उस का स्वयं बहिष्कर्त्ता समाज का प्रतिनिधि बने रहना तो किसी प्रकार भी तर्क संगत नहीं है।

लाहौर में समाज दो बन चुके थे। कालेज सोसाइटी में किस समाज की अन्तरंग सभा तथा किस समाज के १००) दे चुके सभासदों को स्वीकार किया जाय?—यह एक और समस्या थी। २८ फ़रवरी १८९४ की प्रबन्ध-समिति की मीटिंग में यह प्रश्न उपस्थित हुआ। बहु-पक्ष कालेज-दल का था ही। उस ने इस समिति के कार्य के लिए लाहौर समाज, उस समाज को स्वीकार किया जिस के मन्त्री म० बुड्ढामल थे। इस पर ला० मुन्शीराम, डा० परमानन्द, ला० तोलाराम, ला० लब्धाराम, ला० रामकृष्ण तथा पं० गंगाराम उठ कर

चले गये। इस प्रकार कालेज की प्रबन्ध-समिति से महात्मा-दल के समाज का बहिष्कार हो ही गया।

मई १८६४ में सोसाइटी का अधिवेशन था। उस के लिए प्रधान जी ने दोनों समाजों की अन्तरंग सभाओं को नियम-विरुद्ध निश्चित कर दोनों दलों के केवल उन सभासदों को सोसाइटी में बैठने का अधिकार दिया जो १००) कालेज के कोष में दे चुके थे। वे सभासद स्वभावतः कालेज-दल ही के होने थे। महात्मा दल ने इसे अपने अधिकारों पर कुठाराघात समझा। वे लड़ने-मरने को तय्यार हो गये। चौधरी रामभजदत्त की अध्यक्षता में एक समूह

"सदाकत के लिए गर जान जाती है तो जाने दो"

यह गीत गाता डी० ए० वी० कालेज (वर्तमान मिडिल स्कूल) में जहाँ सोसाइटी का अधिवेशन होना था जा पहुँचा। उसे द्वार पर रोक दिया गया। वहाँ डंडा चल गया और अधिवेशन न हो सका। दूसरे दिन जब अधिवेशन हुआ तो वच्छोवाली समाज उस में गया ही नहीं। ला० मुन्शीराम ने समझा दिया कि ईंट-पत्थर की इमारतों के लिए झगड़ा करना उचित नहीं है। इस प्रकार समाज-मन्दिर पर महात्मा-दल का और कालेज की इमारत पर कलचर्ड-दल का अधिकार हो गया और आर्य समाज के दो पृथक् विभाग बन गये। इस से पूर्व समाज के उत्सव तो दो हो ही चुके थे।

विभाग के कारणों में कालेज की समस्या को हम ने बहुत अधिक स्थान दे दिया है। शेष दो समस्याओं का

समाधान भी इस के साथ-साथ हो गया। मांसाहार सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों दलों की सम्मति में त्याज्य था ही परन्तु उस के निरोध के क्रियात्मक उपायों को व्यवहार में लाने में जहाँ महात्मा-दल सचेष्ट था, वहाँ कालेज-दल उपेक्षा से काम ले रहा था। जलन्धर की कन्या-पाठशाला का प्रश्न आर्य प्रतिनिधि सभा के सम्मुख आया और सभा ने निश्चय कर दिया कि इसे महाविद्यालय ही बनाया जाय। जब कालेज-दल महात्मा-दल से हो ही अलग गया तो फिर उस का कन्या-महाविद्यालय के विरोध से काम ही न रहा।

मई १८९४ से मार्च १८९७ तक यही अवस्था रही। दोनों विभाग एक दूसरे को बुरा-भला भी कहते रहे और अपना-अपना काम भी करते रहे। मार्च १८९७ में पं० लेखराम के बलिदान ने श्मशान में इन दोनों दलों को एक वार फिर मिला दिया। धर्म-वीर की अर्थी के सम्मुख ला० मुन्शीराम ने प्रतिज्ञा की कि यदि अब भी दोनों पक्षों में एकता न हुई तो मैं समाज का काम छोड़ दूँगा। दिल भरे हुए थे। वीर की अकाल मृत्यु ने सहसा वैराग्य की प्रबल भावना को जन्म दे ही दिया था। हत्यारे की छुरी आर्यों के हृदयों के पार हो-हो कर उन्हें एक माला-सी में पिरो रही थी। कालेज-दल समृद्ध था, महात्मा-दल साधन-हीन। फिर प्रश्न दलों का था, व्यक्तियों का नहीं। इन हेतुओं से मेल न चाहते हुए भी ला० हंसराज को ला० मुन्शीराम की मर्म-भेदी अपील का उत्तर देना पड़ा। बिछुड़े भाई एक-वार फिर आलिंगन कर मिल गये।

प्रतिनिधि सभा में महात्माओं का ज़ोर था और सोसाइटी में कालेज-दल का। समझौता हुआ कि अगले तीन वर्षों तक सभा में कोई बात ऐसी पेश न की जाय जो कालेज-दल के लाला हंसराज, लाला लालचन्द, लाला ईश्वरदास, लाला मुरलीधर, लाला लाजपतराय—इन पाँच पुरुषों को अस्वीकार हो और सोसाइटी में कोई ऐसा निश्चय प्रस्तावित न किया जाय जिस से महात्मा-दल के ला० मुन्शीराम, ला० रामकृष्ण, ला० रलाराम, राय पैड़ाराम, ला० देवराज—ये पाँच सज्जन असहमत हों। लाहौर आर्य समाज के जो सभासद कालेज की प्रबन्ध-समिति तथा सभा की अन्तरंग सभा में थे, वे नये चुनाव तक यथा-पूर्व समिति तथा सभा के सदस्य बने रहें। लाहौर से बाहर के समाज सब एक हो जायँ। जहाँ विभाग रहे, वहाँ के दोनों समाज प्रतिनिधि सभा में सम्मिलित हो जायँ। सोसाइटी में उन के अधिकार यथा-पूर्व सुरक्षित रहेंगे। उत्सवों के अवसरों पर अपील किसी संस्था के लिए नहीं, धर्म-प्रचार ही के लिए की जाय। लाहौर आर्य समाज की वर्तमान अन्तरंग सभा को हटा कर उस के स्थान पर तीन वर्षों के लिए एक नई अन्तरंग सभा का निर्माण किया गया जिस में मा० दुर्गाप्रसाद तथा म० बीचाराम चैटर्जी के अतिरिक्त दोनों पक्षों के दस-दस सभासद ले लिये गये। कुछ समय तक यह ठहराव चला भी परन्तु एक-बार फटे दिल दोबारा एक न हो सके, न हो सके। मिल कर काम करते हुए भी प्रत्येक पक्ष के

दिल में सन्देह रहता था कि विपक्ष अपने ही हित की साधना में लगा है, हमारी नींवें अंदर से खोखली हो रही हैं। श्मशान-वैराग्य आखिर श्मशान-वैराग्य ही सिद्ध हुआ।

२५ दिसम्बर १८९७ को सोसाइटी के अधिवेशन में यह प्रस्ताव पास हुआ कि आगे को सोसाइटी में समाजों की अन्तरंग सभाएँ नहीं किन्तु वे सदस्य सम्मिलित होंगे जो कालेज के कोष में पचास रुपया दे चुके हों और प्रबन्ध-समिति में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार भी आर्य समाजों की अन्तरंग सभाओं के स्थान में उपर्युक्त सभासदों ही को होगा। महात्मा-दल के उन सज्जनों ने जिन की सहमति के बिना कोई प्रस्ताव पेश करना पं० लखराम के बलिदान के अवसर पर किये गये समझौते का अतिक्रमण था, इस परिवर्त्तन का लिखित विरोध किया। परन्तु कालेज के जीवन-मरण का प्रश्न है—यह हेतु दे कर प्रस्ताव पास कर दिया गया। महात्मा-दल के कई ऐसे समाज थे जो नियत राशि कालेज के लिए एकत्रित कर चुके थे परन्तु उन में कोई ऐसा व्यक्ति या तो था ही नहीं या था तो वह अपने दान का प्रमाण खो चुका था। उन समाजों का पुराना अधिकार एकाएक छीन लिया जाना आन्दोलन का कारण हुआ। इसे सोसाइटी की ओर से घोर अन्याय समझा गया। इस प्रकार कालेज-दल ने अपनी स्थिति महात्मा-पक्ष के भावी आक्रमणों के भय से सुरक्षित कर ली। अब महात्मा-दल को भी चिन्ता हुई। ११ जनवरी १८९८ की अन्तरंग सभा में उस ने प्रतिनिधि सभा का द्वार मांसाहार को वेदानुकूल

समझने वालों के लिए निरुद्ध कर अपने आप को कालेज-दल की प्रधानता के भय से बचा लिया। कालेज-पक्ष के प्रतिनिधियों ने इस परिवर्तन का विरोध किया परन्तु प्रतिज्ञा-भंग का उदाहरण तो वे पहिले ही स्थापित कर चुके थे। महात्मा-दल ने उन के प्रतिवाद की पर्वाह न कर, पहिले से ही टूट चुकी प्रतिज्ञा के आदर के स्थान में आत्म-रक्षा को ही अपना सब से बड़ा धर्म समझा। शान्ति-पूर्वक अलग हो जाने के लिए कई बार आपस में सन्धियाँ हुई पर उन्हें कार्यान्वित नहीं किया जा सका। कालेज-दल के नेताओं को हर बार यह सन्देह रहा कि संपूर्ण दल की सम्मति जाने क्या हो? निश्चय लिख लिया गया और उस पर हस्ताक्षर भी हो गये परन्तु पहिले तो स्थानीय समाज और फिर लाहौर से बाहर के समाजों की सहमति की प्रतीक्षा का हेतु दे कर कालेज-विभाग के इन नेताओं ने निश्चय को फिर-फिर स्थगित कर दिया। महात्मा-दल के अगुआ इन सब निश्चयों में राय पैड़ाराम थे। ये महानुभाव जहाँ सदाचारी और ईश्वर-भक्त थे, वहां नीति-निपुण भी पूरे थे। बख्शी जैशीराम के स्थान पर अन्ततः ११ फ़रवरी १८९८ को उन्हों ने कह दिया कि और अधिक प्रतीक्षा करना असंभव है। इस के पश्चात् १२ मार्च १८९७ वाली अन्तरंग सभा को पुनर्जीवित कर समाज को मेल से पूर्व की अवस्था में फिर से चालू कर दिया गया। १३ फ़रवरी १८९८ को बच्छोवाली मन्दिर में महात्मा विभाग की अध्यक्षता में सत्संग लगाया गया। दंगे का भय था परन्तु वह हुआ नहीं?

कालेज-दल ने इन मेल के वर्षों में भी अपना पुस्तकालय तथा काग़ज़-पत्र अलग रख छोड़े थे। "आर्य गज़ट" तथा "मसेंजर"—ये दोनों उन के अपने पत्र थे और इन में सभा के विरुद्ध आन्दोलन होते रहने की शिकायत रही। इधर लेखराम-स्मारक के लिए रुपये की अपील की गई थी, उधर अनाथालय खोल दिया गया था। पारस्परिक अविश्वास की स्थिति में यह भी विरोध ही का एक प्रकार समझा गया। मेल वास्तव में कृत्रिम था। उसे टूटना था सो टूट कर रहा।

पंजाब में आर्य समाज के दो विभागों में विभक्त हो जाने का संक्षिप्त वृत्तान्त इस अध्याय में वर्णित किया गया है। इस विभाग के हानि-लाभ की विवेचना करना किसी भावी ऐतिहासिक का काम है। हमारे लिए अभी ये घटनाएँ नई हैं। उन के बुरे-भले परिणाम अभी समय की कोख में सुरक्षित हैं। ला० लाजपतराय कहते हैं—इस से लाभ हुआ। यहाँ तक कि कुछ लोग इस विभाग को एक स्वाँग-सा समझने लगे। उन के उपहास-पूर्ण व्यंग्य के अनुसार यह वैमनस्य आत्म त्याग की मात्रा बढ़ाने के लिए किया गया था। विभाग के पश्चात् दोनों पक्षों में आत्म-बलिदान की होड़-सी चल पड़ी। ला० मुन्शीराम विभाग-मात्र को सिद्धान्ततः हानिकर समझते हैं। धर्म का काम बिछुड़ों को मिलाना है, मिले हुओं को बिछुड़ाना नहीं। पारस्परिक कलह से आचार का ह्रास ही होता है, विकास नहीं। अपने धड़े को बढ़ाने के लिए अनाचार तक को सह्य समझ लिया जाता है। सभासदों तथा कर्मचारियों

को आकर्षित करने के विहित तथा अविहित सभी प्रकार के साधन बनें जाते हैं। कुछ हो, विछोह हो चुका है और अब समय को ये सिद्ध करना है कि क्या यह अवस्था स्थायी है या अस्थायी? ऐक्य के अवसरों की आवृत्ति फिर-फिर होती रहती है परन्तु साईंदास और गुरुदत्त की आत्माएँ एक-दूसरे के निकट आ कर भी फिर-फिर अलग हो जाती हैं।

वेद-प्रचार निधि

जैसे हम ऊपर कह आये हैं, मई १८९४ के अन्त में डी० ए० वी० कालेज सोसाइटी के अधिवेशन के अवसर पर आर्य समाज के दो विभाग हो गये थे। "धर्मात्मा" दल को कालेज के संचालकों से यह शिकायत चली आती थी कि इन का ध्यान धर्म के प्रचार पर नहीं किन्तु कालेज के विकास ही पर है। मांसाहार के प्रसंग में एक मत-भेद वेद तथा ऋषि की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता का भी पैदा हो गया था। ला० साईंदास के जीवन का वृत्तान्त लिखते हुए हम ने पं० गुरुदत्त की मनोवृत्ति का समाज के उस समय के नेताओं से एक भेद यह भी बताया था कि जहाँ पण्डित जी का दृष्टि बिन्दु विशुद्ध धार्मिक था, वहाँ दूसरे नेताओं का दृष्टि-कोण जातीय था। ला० रलाराम जी के लेखों तथा अन्य प्रचारकों के आन्दोलन के परिणाम स्वरूप यह विचार आर्य-जनता में ज़ोर पकड़ रहा था कि समाज अपने धर्म-प्रचार रूपी उद्देश्य से विमुक्त हो रहा है। जाति-

हित की पुकार अधिक मचाई जा रही है किन्तु विश्व व्यापक आत्मिकता का लोप हो रहा है। डी० ए० वी० कालेज से असन्तोष का प्रधान कारण ही यही था। अगस्त १८९४ के "वेदाध्ययन प्रेरक" में ला० रलाराम लिखते हैं:—

"ज़रा दुनिया के इतिहासों की तरफ़ देखिये ! इस वक्त हिन्दुओं के अलावा तीन मज़ाहिब आला और दुनिया पर मौजूद हैं। अव्वल बुद्ध, दोम नसारा, सोम इस्लाम। बानियान-इ-मज़ाहिब वाला यानी शाक्य मुनि गौतम बुद्ध, हज़रत ईसा और मुहम्मद साहिब अरबी या उन के शागिर्दों ने क्या अपने अपने मज़ाहिब का प्रचार स्कूलों के ज़रीए किया था ? क्या पंजाब में कोई मद्रिसा गुरु नानक साहब ने भी जारी किया था ? ख़ुद स्वामी जी ने भी प्रचार का ज़रीआ मद्रिसे नहीं बनाए। अलबत्ता विलायती पादरियों ने ईसवी मज़हब के प्रचार के लिए मद्रिसे बनाए लेकिन उन्हें जिस क़दर कामयाबी हासिल हुई वह सब पर ज़ाहिर और रोशन है। पृ० २५, २६

ला० लाजपतराय और ला० रलाराम का शिक्षा-संबंधी वाद "प्रेरक" के इसी अंक पर समाप्त हो जाता है। अगस्त १८९४ के पश्चात् "प्रेरक" का कोई अंक नहीं निकला। जो लोग देश की शिक्षा का कार्य भी आर्य समाज के व्यापक उद्देश्य के अन्तर्गत समझते हैं, उन्हें ला० रलाराम यह उत्तर देते हैं कि:—

और भी बहुत-सी ज़रूरतें मुल्क में महसूस हो रही

है। फिर आर्य समाज किस-किस का पूरा करे और किस-किस को छोड़े ? आर्य समाज एक धर्म-सभा है और उस का उद्देश्य धर्म-प्रचार है। धर्म को छोड़ कर ख़ास कर जब कि उस की अज़-हद ज़रूरत मुल्क में पाई जाती हो, औरों के पीछे दौड़ना (बावजूदेकि उन दीगर ज़रूरतों को पूरा करने के लिए दीगर वसायल मौजूद हैं या मुहय्या हो सकते हैं) अक़्लमंदी और दूर-अन्देशी से बईद है। पृ० २१

२७ मई १८६४ को (सोसाइटी के अधिवेशन के अवसर पर) भिन्न-भिन्न आर्य समाजों के सभासद् लाहौर आर्य समाज के मन्दिर में एकत्रित हुए। उन के विचार-विनिमय का परिणाम यह निकला कि "वेदों की शिक्षा तथा प्रचार" का सन्तोष-जनक प्रबन्ध करने के लिए "वेद-प्रचार-फ़ंड" नाम से एक स्थिर निधि स्थापित की जाय। यह विचार सभा के प्रधान ला० मुन्शीराम ने ३ जून १८६४ की अन्तरंग सभा में पेश किया। निश्चय हुआ कि इस फ़ंड के लिए एक आयोजना तय्यार की जाय। इस निमित्त ला० मुन्शीराम, ला० रामकृष्ण तथा ला० तोलाराम की एक उपसभा बनाई गई। ३० जून की अन्तरंग सभा में इस उपसभा की रिपोर्ट और राय ठाकुरदत्त की आयोजना पेश हो कर एक और उपसभा बनी जिस के मन्त्री राय ठाकुर-दत्त नियत हुए। १२ अगस्त १८६४ के अधिवेशन में इस उपसभा की रिपोर्ट पर विचार हुआ। प्रचार की आयोजना का एक अंग वैदिक पाठशाला थी। अन्तरंग सभा ने उस

का इस अंश में संशोधन कर दिया कि पाठशाला का उद्देश्य केवल उपदेशकों और उपदेशिकाओं का तय्यार करना ही होगा। २ सितम्बर १८९४ की साधारण सभा में यह प्रस्ताव पेश हो कर निम्न-लिखित निश्चय हुए :—

१—चूँकि इस सभा की मौजूदा आमदनी वैदिक धर्म के यथोचित प्रबन्ध के लिए काफ़ी नहीं है, इस लिए ज़रूरी है कि इस मतलब के लिए सभा हाज़ा के ज़ेर इहतिमाम वेद-प्रचार फ़ंड नामी एक फ़ंड खोला जाय जिस के अग़राज़ ये होंगे :—

(क) उपदेश करना-कराना और पुस्तक आदि तय्यार करा कर जारी करना।

(ख) उपदेशकों और उपदेशिकाओं को तय्यार करना।

(ग) आर्य धर्म की वृद्धि और उन्नति के लिए एक पुस्तकालय क़ायम करना।

(घ) लाहौर में विद्यार्थियों के लिए एक आश्रम खोलना।

२—आर्य समाजों की सेवा में सिफ़ारिश की जाय कि अपने अपने सालाना जलसे पर सिर्फ़ वेद-प्रचार फ़ंड के लिए अपील किया करें और दीगर मौक़ों पर भी धन एकत्र करने की कोशिश करें।

सभा के इन निश्चयों को सर्व-प्रिय बनाने के लिए राय ठाकुरदत्त ने "वैदिक धर्म प्रचार" नाम से एक पुस्तक

लिखी। उसमें प्रचार-प्रिय "धर्मात्मा" समाज के पक्ष का सविस्तर तथा सहेतुक प्रतिपादन किया गया है। यह पुस्तक विचार की गम्भीरता, विषय के स्पष्ट विवेचन, भाषा की प्राञ्जलता तथा सुसभ्यता के कारण आर्य-साहित्य में विशेष महत्व रखती है।

लेखक ने अपने पक्ष की स्थापना वेद के प्रमाण से ही की। राजार्य सभा, विद्यार्य सभा और धर्मार्य सभा का निर्देश किया। आर्य समाज के नियमों में कही गई विद्या की वृद्धि और अविद्या के नाश का अभिप्राय राय ठाकुरदत्त की दृष्टि में परा विद्या का प्रचार है। राय ठाकुरत्त जी की पुस्तक का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि आर्य समाज का मुख्योद्देश्य वैदिक धर्म का प्रचार करना है। वेद शास्त्र जिन विद्यालयों में गौण रूप से पढ़ाए जाते हैं या नहीं पढ़ाए जाते हैं उस समय तक ऐसे विद्यालयों का संचालन करना ही आर्य समाज का मुख्योद्देश्य समझा जाता था। डी० ए० वी० कॉलेज का संचालन ही उस समय तक आर्य समाज का मुख्योद्देश्य समझा जाता था। आर्य समाज के वार्षिक उत्सवों पर डी० ए० वी० कालेज के लिए ही अपील की जाती थी। वेद प्रचार का काम कुछ गौण-सा काम समझा जाता था। आर्य समाज की साधारण प्रजा ने और पं० गुरुदत्त और उनके सहोद्योगी कुछ नेताओं ने पहले तो यह प्रयत्न किया कि दयानन्द कालेज के स्वरूप को बदला जाय। इस में वेद-वेदांग की पढ़ाई को मुख्य स्थान दिया जाय किन्तु जब इस प्रयत्न में घोर असफलता

हुई और आर्य समाज के दो दल हो गए तो गुरुदत्त दल के लोग हताश हो गए और उन्होंने वेद प्रचार को ही आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य बना कर काम करना आरम्भ किया। उनके विरोधी डी० ए० वी० कालेज के पक्ष में आर्य समाज के तृतीय नियम की शरण लेते थे। यद्यपि उस नियम से वेद को गौण स्थान देने वाले विद्यालयों की स्थापना कभी अभिप्रेत नहीं हो सकती किन्तु वेद-प्रचार की मुख्यता को स्थापित करने के लिए राय ठाकुरदत्त ने कई युक्तियाँ और कई स्थापनाएँ कीं और साथ ही एक स्कीम प्रस्तुत की। स्कीम का उत्तरदायित्व सभा ने ले लिया और युक्तियों और स्थापनाओं का उत्तरदायित्व राय साहिब पर रहा। यद्यपि वे युक्तियाँ और स्थापनाएँ उस समय की जनता को भली मालूम देती थीं परन्तु कई विचारशील नेताओं को उन में से किन्हीं एक से मत-भेद था।

सभा की आयोजना को क्रियान्वित करने के लिए उप-सभा की रिपोर्ट में कुछ अवान्तर परामर्श भी पेश किए गये हैं। उनके उद्धरण से पाठकों को वेद-प्रचार निधि के आन्तरिक उद्देश्यों का पता लग सकेगा। उपदेशकों के विषय में उपसभा का कहना है कि :—

> सब से ज़रूरी और पहिला काम जिस पर प्रतिनिधि सभा आर्य पब्लिक को ध्यान देना चाहिए वह मिश्शन यानी उपदेश का है, और उस के लिए आवश्यक है कि धार्मिक विद्वान् पैदा किये जायँ और उनको इस क़दर आजीविका दी जाय कि जिस से उन

पं० लेखराम

का गुज़ारा बमै अयाल (परिवार-सहित) माकूल तौर पर (पर्याप्त रूप से) हो सके।

अवैतनिक उपदेशकों के सम्बन्ध में लिखा है :—

अगर ऐसे धर्मात्मा मिल सकें जो अलावा विद्वान् होने के सदाचारी हों और वह अपनी ख़िदमात (सेवाएँ) मुफ़्त दें तो उन के वास्ते गुज़ारे और सफ़र-ख़र्च का इन्तज़ाम किया जावे और उन को उपदेशक की पदवी दी जावे। मगर ऐसे पुरुषों के पैदा होने की इस वक़्त यक़ीनी तवक़्क़ो नहीं की जा सकती और जहाँ तक तजुर्बा सिखलाता है यह बिला किसी ज़िम्मेवारी के काम करते हैं।

उपसभा की राय थी कि उपदेशक के ओहदे पर हत्तुलइमकान् बड़ी उमर के पुरुष नियत किये जायँ जो जहाँ तक हो सके गृहस्थ हों या गृहस्थ रह चुके हों। पंजाब के हरेक ज़िले के वास्ते कम-अज़-कम एक उपदेशक होना चाहिए। और इसी वास्ते इस की तजवीज़ है कि हस्ब-ज़ैल तनख़्वाह के आदमी जब मौजूद हों तब समझना चाहिए कि हमारा स्टाफ़ पूरा है :—

तादाद	तनख़्वाह फ़ी कस	कुल तनख़्वाह
१	२००)	२००)
२	१५०)	३००)
२	१००)	२००)
४	७५)	३००)
८	५०)	४००)
१०	४०)	४००)
८	२५)	२००)
३५		२०००)

इस हिसाब से ३ उपदेशकों पर २४०००) सालाना ख़र्च आयगा जो बहिसाब चार फ़ी सदी छः लाख रुपये के सूद के बराबर है। अभी तक इस बात के निश्चय करने की ज़रूरत नहीं कि कितनी स्त्रियाँ उपदेशक होंगी मगर पाँच स्त्रियाँ और तीस पुरुष हों तो मुनासिब होगा।

उपदेशकों के कार्य के संबन्ध में लिखा है :—

जो बड़ी-बड़ी तनख़्वाह के हैड उपदेशक होंगे वे सदर में रहेंगे। उन का काम होगा :—

(१) उपदेशक डिपार्टमेंट की निगरानी करना (२) एक अव्वल दर्जे का मैगज़ीन और अख़बार जारी करना (३) शास्त्रार्थ के लिए उद्यत रहना (४) वार्षिक उत्सवों पर जाना और देशान्तरों में जहाँ ज़रूरत हो उपदेश करना (५) वैदिक धर्म की उन्नत्ति की तजावीज़ सोचना और आर्य मिश्शनरी कान्फरेंस का प्रबन्ध करना (६) वैदिक उपदेशकों की ऊँची जमाअत को पढ़ाना (७) ट्रैक्ट सोसाइटी का इहतिमाम करना।

पुस्तक प्रचार के विषय में उपसभा की टिप्पणी निम्न-लिखित है :—

ट्रैक्ट और रलिजस बुक सोसाइटी का उद्देश्य यह होगा कि धर्म-विषयक छोटी-छोटी पुस्तकें छपवाई जावें। और उन के प्रचार का प्रवन्ध किया जावे। यह बड़ा भारी काम है। प्रतिनिधि सभा की सहायता से केवल वे पुस्तकें छपनी चाहिएँ जो वैदिक धर्म के

विरुद्ध न हों। आर्य समाजों के द्वारा उन के प्रचार का भी प्रबन्ध करना होगा।.........दूसरे, आर्ष ग्रन्थों का छपवाना, उन का अनुवाद कराना और उन को थोड़े मोल पर बेचना भी आवश्यक है।

१८९५ में राय ठाकुरदत्त के अधिष्ठातृत्व में देहली में एक उपसभा स्थापित हुई और उस के प्रबन्ध से पं० कृपाराम शर्मा जगरानवी द्वारा रचित "माद्दा की क़रामत" नामक उर्दू ट्रैक्ट प्रकाशित किया गया और कुछ और पुस्तकाएँ क्रय कर के बेची गईं। २८,००० की संख्या में आर्य समाज के नियम हिन्दी, उर्दू तथा गुरुमुखी में छापे गये।

१८९७-९८ में थानेश्वर के मेले के अवसर पर "ग्रहण माहात्म्य" हिन्दी तथा उर्दू में तथा "आर्य समाज क्या है?" उर्दू में प्रकाशित किया गया।

पुस्तकालय शीर्षक के नीचे उपसभा की रिपोर्ट यह है :—

ऐसा पुस्तकालय होना चाहिए कि जिस में वेदों के भाष्य और वेदांगों और आर्ष ग्रन्थों और उन की टीकाओं के अतिरिक्त अन्य धर्मों की पुस्तकें और सब यूरोप के विद्वानों की ओरियंटल पुस्तकें मिल सकें। जो पुस्तकें भी आर्य धर्म या संस्कृत विद्या के संबन्ध में किसी स्थान में छपें वे मँगवाए जाया करें ताकि जो विद्वान् गवेषण करना चाहे वह आसानी से कर सके।

पहिले तो सभा के पास कोई पुस्तकालय था ही नहीं। १८६४ में इस के लिए प्रयत्न किया गया। इस वर्ष सभा के पास ५०० पुस्तकें हो गईं। वे उत्तरोत्तर बढ़ती गईं। पंजाब वैदिक पुस्तकालय का आरंभ इसी प्रकार हुआ। १८६८ में इस पुस्तकालय का उपयोग सर्व-साधारण के लिए खुला कर दिया गया। इसी वर्ष वाचनालय की भी स्थापना की गई। "आर्य पत्रिका" के बदले में आने वाले पत्र इस में रखे जाने लगे।

१८६८ में इस पुस्तकालय में लेखराम-पुस्तकालय भी शामिल हो गया। समाजों के शास्त्रार्थों में इस पुस्तकालय का अच्छा उपयोग हुआ। सर्व-साधारण ने भी लाभ उठाया।

उपदेशक-पाठशाला विषयक टिप्पणी इस प्रकार है :—

यह पाठशाला प्रतिनिधि सभा के अधीन होगी। वह उन धार्मिक विद्यालयों के प्रकार की होगी जिन में उपदेशकों को शिक्षा दी जाती है। इस में ऐसे व्यक्ति प्रविष्ट किये जायँगे जो आर्य विचारों के हों और जो संस्कृत विद्या का अच्छा परिचय रखते हैं। उदाहरण के लिए उन की योग्यता पंजाब यूनिवर्सिटी के विशारद अथवा शास्त्री की हो। उन को छात्र-वृत्तियाँ दी जायँगी और इस पाठशाला में उन्हें धर्म-शास्त्र और वेदांगों की शिक्षा दी जायगी और यत्न किया जायगा कि उपदेशक वेदों को पढ़ें। इस के अतिरिक्त उन्हें इतनी अँग्रेज़ी भी पढ़ाने का प्रबन्ध किया जायगा जिस से वे साइंस और फ़िलासफ़ी की समस्याओं से परिचित हो

कर वैदिक धर्म का भली प्रकार प्रचार कर सकें और शिक्षित लोगों के संदेह दूर कर सकें .... विद्यार्थियों को आश्रम में अध्यापकों के निरीक्षण में रहना होगा। उन के शारीरिक व्यायाम तथा सदाचार पर विशेष ध्यान रखा जायगा और सन्ध्या हवन करना आवश्यक होगा।

आशा है कि इस पाठशाला से संबद्ध तीन-चार फ़ैलोशिप स्थापित हो सकेंगे जिस से विद्यार्थी शिक्षा को समाप्त कर के अपना सारा समय वैदिक गवेषणा में लगाएँ और उन के निर्वाह का सन्तोष जनक प्रबन्ध हो।

पुस्तक समाप्त करने से पूर्व लेखक ने मैडिकल मिशन, गान-मण्डल, आर्य डिबेटिंग क्लब, समाजों के स्थानीय उपदेश तथा दैनिक कथा आदि विषयों की ओर भी संकेत किया है। वे इन्हें भी वेद-प्रचार के अङ्ग मानते हैं परन्तु शुरू शुरू में इन्हें स्थगित करते हैं। सार यह कि वेद-प्रचार निधि की आवश्यकता तथा उद्देश्यों का एक संक्षिप्त चित्र सा इस पुस्तक के अध्ययन से दृष्टि-गोचर हो जाता है। डी० ए० वी० कालेज से विमुख हो कर "धर्मात्मा दल" जिन भावनाओं से वेद-प्रचार के कार्य में प्रवृत्त हुआ, उन का उल्लेख संक्षेप से हम ने ऊपर कर दिया है। राय ठाकुरदत्त का कहना है कि आर्य समाज के दो विभाग हो जाने का यह शुभ परिणाम निकला कि जो धर्म-सभा अपने मुख्य उद्देश्य की ओर पीठ कर कालेज को ही अपना परम लक्ष्य मान

रही थी, वह इस वैमनस्य के कारण अपने वास्तविक ध्येय की दिशा में पग उठाने लगी। कालेज दल की प्रवृत्ति उन की दृष्टि में शिक्षा के कार्य की ओर थी। उन का उचित स्थान विद्यार्य सभा में था। "धर्मात्मा" दल धर्म-प्रेमी था। धर्मार्य सभा का कार्य उसी को करना चाहिए। उन की सम्मति में समाजों का सम्बन्ध कालेज से टूट कर उन के संपूर्ण अधिकार विद्या-सभा को प्राप्त हो जाने चाहिएँ और समाज सब जगह एक हो कर प्रचार के कार्य में लग जायँ।

दयानन्द हाई स्कूल और आर्य विद्यार्थी आश्रम

दिसम्बर १८९३ के "डी० ए० वी० कालेज समाचार" में डी० ए० वी० कालेज सोसाइटी के मन्त्री ला० लाजपतराय ने लिखा था :—

> गत नवम्बर मास में लाहौर आर्य समाज में घोर अशान्ति होने के कारण दोनों पक्षों के पत्रों तथा लेखों से यह बात निश्चित हो गई थी कि आर्य समाज में दंगा हो जाने की केवल साधारण ही नहीं, किन्तु प्रबल संभावना है। ऐसी अवस्था में प्रबन्ध-समिति के अधिकारियों ने जिन पर बोर्डिंग हौस में रहने वाले छात्रों की रक्षा का नैतिक उत्तरदायित्व है, अपना कर्तव्य समझा कि उन्हें ऐसी स्थिति में पड़ने से बचावें। और इस लिए कालेज कमेटी के प्रधान, उपप्रधान तथा मन्त्री ने बोर्डिंग हौस के सुपरिंटेंडेंट को आज्ञा दी कि छात्रों को यथा-पूर्व समाज मन्दिर में न ले जायँ।

अन्त में जब दोनों पक्षों के अलग-अलग उत्सव होने का निश्चय हो गया, विद्यार्थियों को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार जिस उत्सव में वे चाहें, सम्मिलित होने की अनुमति दे दी गई। नगर-कीर्तन में शामिल होना न होना भी उन की अपनी इच्छा पर छोड़ दिया गया। यह शिकायत भी किसी न किसी रूप में दोनों ओर के पत्रों में की गई है कि छात्र अपने अध्यापकों का अपमान करने लगे हैं। मांसाहार-सरीखे किसी विवादास्पद विषय पर मत-भेद आरंभ हो कर पारस्परिक अवज्ञा तथा अशान्ति तक नौबत पहुँच जाना कोई अस्वाभाविक बात न थी। दोनों ओर के विद्यार्थी एक-साथ पढ़ रहे थे। अपनी तथा माता-पिता की मनोवृत्ति के अनुसार उन्हें उत्तेजना हो ही जाती होगी। "सद्धर्म-प्रचारक" में ला० मुन्शीराम गुरुओं के अपमान के विरुद्ध आवाज़ उठा रहे हैं। ला० लाजपतराय उत्तेजक लेखों के विरुद्ध प्रतिवाद करते हैं। उन का कहना है कि यदि प्रबन्ध दूसरे पक्ष के हाथ में आ गया तो उसे अपनी दी हुई उत्तेजनाओं के ठीक-ठीक परिणामों का ज्ञान हो जायगा।

ला० ज्वालासहाय ने अपने "वेनती" नामक ट्रैक्ट में इस शिकायत का वर्णन किया है कि स्कूल में मांसाहारी अध्यापकों की नियुक्ति की जा रही है। इस शिकायत के वास्तविक होने की अवस्था में "जो लोग अपनी सन्तान को मांसाहारी बनाना नहीं चाहते और जिन्हों ने अपने नन्हें-नन्हें जिगर के टुकड़ों को विशेष धर्म-शिक्षा के

लिए इस पवित्र इंस्टिट्यूशन को सौंप दिया है, उन के वास्ते बड़ी मुश्किल होगी।"

जब परस्पर अविश्वास की यह अवस्था हो तब एक ही विद्यालय द्वारा संपूर्ण आर्य-सन्तति का शिक्षा पाते जाना असंभव था। वास्तविक-अवास्तविक सब प्रकार की निन्दाओं के जाल फैल रहे थे। स्वयं विद्यालय में ही अशान्ति का वातावरण रहने लगा था। कोई आज्ञा छात्रों के हित में भी दी गई तो दूसरे पक्ष ने उसे अपने विरुद्ध समझ लिया और भड़कीली प्रकृति के अनुत्तरदायी बालकों को झट विद्रोह पर उकसा दिया। कहीं प्रबन्धकों ने अनुचित हठ से काम लिया। हानि हर अवस्था में छात्रों ही की हो रही थी। उन्हें अध्ययन के लिए जिस निरुपद्रव वातावरण की आवश्यकता थी वह न विद्यालय ही में विद्यमान था न उस के बाहर।

जून १८९४ के दल-विभाग ने समस्या का दो-टूक निर्णय कर दिया। विद्यालय कालेज-दल के हाथ रहा। "धर्मात्मा-दल" को अपने बालकों की शिक्षा का अलग प्रबन्ध करना पड़ा। उन्हों ने दल-विभाग के दूसरे ही दिन अपना पृथक् विद्यालय खोल दिया। पहिले तो समाज-मन्दिर ही में और फिर सूत्रमण्डी के एक स्थान में विद्यालय की श्रेणियाँ लगा दीं।

विद्यार्थी आश्रम की स्थापना सितम्बर १८९३ में हो चुकी थी। कुछ विद्यार्थियों को आश्रमाध्यक्ष का अपमान करने के कारण डी० ए० वी० स्कूल के अधिकारियों ने

पृथक् कर दिया। वे अन्य स्कूलों में प्रविष्ट हो गये। इस स्थिति में आश्रम की आवश्यकता और भी अधिक तेज़ी से अनुभव होने लगी। आश्रम में सभी श्रेणियों के विद्यार्थी ले लिये गये। विविध कालेजों तथा स्कूलों में पढ़ने वाले छात्र अपनी-अपनी आयु तथा विभाग के अनुसार बट कर रहने लगे। इस प्रकार अपनी कोई बड़ी शिक्षा-संस्था न रखते हुए भी प्रतिनिधि सभा के नेताओं का युवक-संसार से अधिक घनिष्ट संसर्ग होने लगा। राय पैड़ाराम सरीखे वृद्ध आर्य नेता आश्रम में आ-आ कर विद्यार्थियों को अपने प्रेम का पात्र और आर्य समाज का अनुरक्त बनाने लगे।

विद्यालय के मुख्य संचालक मा० दुर्गाप्रसाद थे। ला० लब्भूराम तथा ला० कर्मचन्द आदि आत्मत्यागियों ने उन के कंधे से कंधा जुटा कर आन-की-आन में धर्मात्मा-दल का हाई स्कूल स्थापित कर दिया।

मा० दुर्गाप्रसाद में आत्मोत्सर्ग की मात्रा तो बहुत अधिक थी। वे एक सच्चरित्र पुरुष थे परन्तु प्रबन्ध तथा सहकारिता के लिए उन की प्रकृति बनी ही नहीं थी। जैसे आर्य समाज के प्रधान-पद पर, वैसे ही स्कूल के मुख्य-प्रबन्धक की हैसियत से असफलता उन के माथे पर लिखी हुई थी। उन्हों ने पत्रों का प्रकाशन किया, पुस्तकें लिखीं, वेद का अनुवाद किया—सब प्रकार से आर्य समाज की अनथक सेवा की। शाकाहार के प्रचारार्थ वैजिटेरियन सोसाइटी भी बनाई, "हार्बिंजर" नाम का पत्र भी निकाला। ऋषि-भक्ति तथा वेद-भक्ति उन की नस नस में

समाई हुई थी। वे ब्रह्मचर्य का क्रियात्मक उदाहरण थे। शरीर में शक्ति थी, मुख पर तेज था। न थी तो सफल अधिकारी होने की योग्यता। ये अपने सहकारियों के साथ मिल कर काम न कर सके और स्कूल बंद हो गया।

आश्रम १८९८ में बंद हुआ। जब तक चलता रहा, विद्यार्थियों में समाज के प्रचार का केन्द्र बना रहा। इस में नियम-पूर्वक व्यायाम, सन्ध्या, सत्यार्थ-प्रकाश की कथा तथा आर्य पर्वों का प्रबन्ध किया जाता रहा। आर्य समाज के इस समय के कई उत्साही कार्यकर्ता इसी आश्रम की उपज हैं।

आर्य समाज के विभाग ने प्रतिनिधि सभा को दो काम की संस्थाएँ दीं परन्तु उस समय हमारे नेताओं का अधिक ध्यान प्रचार ही की ओर था। शिक्षा-संस्थाओं को वे कुछ भी महत्व नहीं देते थे। उन के दृष्टि-कोण से कालेज की असफलता ने उन्हें स्कूल मात्र का विरोधी बना दिया था। लेखराम-काल वास्तव में प्रचार-काल था। उस में वेद-प्रचार की नींव पक्की की गई। संस्थाएँ गौण रूप में एक अस्थायी आवश्यकता को पूरा करने का साधन समझी गईं।

लाहौर से बाहर भी दो स्कूल खुले। जलन्धर में कालेज-दल का साईंदास ऐंग्लो संस्कृत स्कूल था। धर्मात्मा-दल ने द्वाबा स्कूल खोला परन्तु उस का प्रबन्ध विशुद्ध आर्य सामाजिक न रख कर दूसरे लोगों को भी इस कार्य में सम्मिलित किया। एक मुसलमान सज्जन भी इस की प्रबन्ध-समिति के सदस्य थे। इस दल की नीति ही यह थी कि सामान्य शिक्षा का कार्य केवल आर्य समाज का

नहीं है। इस स्कूल के पहिले हैडमास्टर, जिन के नाम से इस स्कूल का नाम लब्भूराम द्वावा हाई स्कूल हुआ, वही मास्टर लब्भूराम थे जो लाहौर में मा० दुर्गाप्रसाद के स्कूल में हैडमास्टर रह चुके थे। इन में विशुद्ध प्रचारक-भावना काम कर रही थी। इसी गुण के कारण इन का व्यक्तित्व छोटी आयु में ही इतना महान् हो गया था। अमृतसर का भ्रातृ स्कूल भी इसी प्रकार का शिक्षणालय था। धर्मात्मा-दल की उस समय की शिक्षा-संबन्धी कार्य-प्रणाली के ये मूर्त उदाहरण हैं। सभा तथा समाज-शिक्षा के कार्य को सीधा हाथ में लेने से बचते थे।

आर्योपदेशक पाठशाला

आर्य समाज में शिक्षा के प्रकार के सम्बन्ध में मत-भेद पं० गुरुदत्त के ही समय से आरम्भ हो गया था। डी० ए० वी० कालेज की पाठ-विधि से असन्तुष्ट हो कर आर्य समाज के एक समुदाय ने उपदेशक-श्रेणी के लिए आन्दोलन करना आरम्भ कर दिया था। १८८६ में इस श्रेणी की स्थापना का प्रस्ताव स्वयं डी० ए० वी० कालेज के संचालकों ने ही आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा में प्रस्तुत कर दिया। जुलाई १८९० में इस श्रेणी के नियम स्वीकार हो गये और १८९१ के आरम्भ में यह श्रेणी खोल दी गई। इस श्रेणी का उद्देश्य वही था जो आगे चल कर १८९५ में आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रथम उद्देश्य उद्घोषित किया गया। सभा का वह उद्देश्य निम्नलिखित है :—

"वेदों और अन्य प्राचीन संस्कृत शास्त्रों की शिक्षा

प्रदान करने और आर्य उपदेशक तय्यार करने के लिए एक विद्यालय स्थापित करना।"

आर्योपदेशक पाठशाला का उद्देश्य "आर्य धर्म की उन्नति के लिए वेद और वेदांगों के जानने वाले उपदेशक तय्यार" करना था। इस का शिक्षा-काल तीन वर्ष था। प्रवेशार्थियों के लिए विशारद परीक्षा पास होना तथा आर्य धर्म में विश्वास रखना आवश्यक था। इन के निर्वाह के लिए सात-सात रुपये की पन्द्रह छात्र वृत्तियाँ भी स्वीकार की गईं। इस पाठशाला का रूप आरम्भ से ही एक आश्रम-विद्यालय का था। विद्यार्थियों के लिए आवश्यक था कि वे आश्रम में अपने आचार्य के निरीक्षण में रहें।

आर्य समाज में वैदिक धर्म के उपदेशक तय्यार करने के उद्देश्य से खोला गया और उचित रूप से चलाया गया कोई केन्द्रित विद्यालय न था। जब आर्य प्रतिनिधि सभा ने वेद प्रचार ही अपना मुख्य कार्य बना लिया तो योग्य प्रचारकों को तय्यार करना इस का काम बन ही गया। उपदेशकों को वेद-वेदांग को जानना ही चाहिए। वह आर्योपदेशक ही क्या जो वेद-वेदांग नहीं जानता। किन्तु राय ठाकुरदत्त जैसे विज्ञ नेता यह भी समझते थे कि वैदिक धर्म के उपदेशक के लिए साइंस और फ़िलासफ़ी का काम भी अनिवार्य है। वैदिक धर्म जैसे गूढ़ और विज्ञान-मूलक धर्म की स्थापना वे नहीं कर सकते जो साइंस और फ़िलासफ़ी से अनभिज्ञ हों। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी तो साइंस के इतने भक्त थे कि उस के प्रचार को आर्य समाज का एक मुख्य कार्य समझते

थे। यहाँ तक कि वे आर्य समाज के साप्ताहिक सत्संगों पर विज्ञान के यन्त्र ले आया करते थे और उन को दिखला कर जनता को साईंस के पाठ पढ़ाया करते थे। प्राचीन वेदांगों में ज्योतिष के समझने के लिए भौतिकी और उच्च कक्षा की गणित की आवश्यकता है। आयुर्वेद भी वेद-वेदांगो के अन्तर्गत है। इस के समझने के लिए रसायन शास्त्र, शरीर-विद्या और अन्य प्रकार की कई साईंसों का आना आवश्यक है। इन सत्य विद्याओं के आधुनिक रूप को समझने के लिए अंग्रेजीभाषा भी जाननी चाहिए। रिपोर्ट में वेद-वेदांग की शिक्षा के अतिरिक्त अंग्रेज़ी की शिक्षा को भी स्थान दिया गया है। यथा। लिखा है:—

"अंग्रेज़ी भी इतनी पढ़ाने का प्रबन्ध किया जायगा जिससे वे (छात्र) साइंस और फ़िलासफ़ी के विषयों से परिचय प्राप्त करके वैदिक धर्म का पूरे तौर पर प्रचार कर सकें और शिक्षित लोगों के सन्देहों को निवारण कर सकें।"

इस प्रकार एक ओर तो उपदेशक पाठशाला का क्रियात्मक रूप से संचालन हो हो रहा था, दूसरी ओर धर्म-प्रचार की आयोजनाओं में भी उसका स्थान सुरक्षित चला आता था। १८६४ में उपदेशक-पाठशाला के एक विद्यार्थी पं० भक्तराम मुज़फ़्फ़रगढ़ समाज में प्रचारक नियत हो गये। और १८६५ में राय बहादुर ठाकुरदत्त ने शाला की शिक्षा-विधि में आंगल-भाषा की वृद्धि का विचार पेश कर दिया। यह विचार सभा के सम्मुख आकर सभा द्वारा स्वीकृत स्कीम का भाग बन गया।

१८६५ में यह पाठशाला लाहौर से जलन्धर चली गई। वहाँ इसका नाम वैदिक पाठशाला रखा गया। जलन्धर में यह शाला ला० मुन्शीराम के सीधे निरीक्षण में आ गई। हम पिछले अध्याय में जलन्धर समाज के धार्मिक उत्साह की ओर संकेत कर चुके हैं। वहाँ कन्या-महाविद्यालय तो था ही। कन्या-अनाथालय भी था जो आगे जाकर महा-विद्यालय ही का भाग बन गया। रहतियों की शुद्धि का संचालन इसी समाज के द्वारा हुआ। और अब वैदिक पाठशाला का संचालन भी जलन्धर ही में होने लगा। प्रतिनिधि सभा के प्रधान का घर तो वहाँ था ही, इसलिए जलन्धर प्रचार का केन्द्र भी था। वास्तव में वैदिक पाठशाला के रूप में गुरुकुल अपने भावी संस्थापक तथा आचार्य के गर्भ में स्थान पाने लगा था। शेष समाज सुधार के काम भी आगे चल कर गुरुकुल के अंग बन जाते हैं। गुरुकुल के स्वरूप के निर्माण में इन सब घटनाओं का विशेष हाथ है।

वैदिक पाठशाला के आचार्य पहिले तो जलन्धर-निवासी प० ब्रजभूषण रहे और पीछे पं० गंगादत्त नियत हुए। इन्हीं पं० गंगादत्त को आगे जा कर गुरुकुल का आचार्य नियत होना था। इस पाठलाला में २६ छात्र भर्ती हुए जिन में से १२ चले गये। तीन साधु थे जो भिक्षा द्वारा निर्वाह करते थे। एक का भार मुरादाबाद समाज पर था। एक को छात्र-वृत्ति मिल गई थी। शेष सब का भार सभा पर था।

जलन्धर में पाठशाला को आश्रम बिना किराये के प्राप्त हो गया। इस भवन के स्वामी ला० नगीनामल ने अपने व्यय से एक बाटिका और कुआँ भी बनवा दिया। विद्यार्थियों की वक्तृत्व शक्ति की उन्नति के लिए वाग्वर्धिनी सभा खोली गई। यह वाग्वर्धिनी अब तक गुरुकुल में क़ायम है। इस का बीज जलन्धर में पड़ा था और वह गुरुकुल के भावी आचार्य पं० गंगादत्त जी के हाथों। इस शाला के विद्यार्थियों ने केवल जलन्धर ही नहीं, आस-पास के ग्रामों तथा नगरों में भी प्रचार की धूम मचा दी। पहराला समाज की स्थापना इन्हीं के परिश्रम का परिणाम था। चौधरी पद्मसिंह जो इस पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करते रहे थे, पीछे जा कर संयुक्त प्रान्त की प्रतिनिधि सभा के अधीन अवैतनिक रूप से उपदेशक का कार्य करने लगे। चौधरी जी पीछे पं० पद्मसिंह बन कर गुरुकुल के अध्यापक और हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ समालोचक बने। पं० विष्णुमित्र और पं० नरदेव शास्त्री भी इस पाठशाला के द्वारा पठित छात्रों में से हैं।

जुलाई १८६८ में पाठशाला ने फिर स्थान परिवर्त्तन किया। जलन्धर नगर पर कन्या-महाविद्यालय का ही पर्याप्त भार था। इस लिए गुजराँवाला के कुछ आर्य सज्जनों की प्रार्थना पर पाठशाला गुजराँवाला भेज दी गई। वहाँ जा कर विद्यार्थियों का जीवन और भी नियमित हो गया। इसका में हिन्दू सभा के पण्डितों से शास्त्रार्थ

कर इन्हों ने आर्य-धर्म का गौरव बढ़ाया और स्थानीय समाज की स्थिति को पहिले से अधिक पक्का कर दिया।

इस समय तक इस संस्था का ध्यान जहाँ अपने छात्रों के आचार-संगठन पर था, वहाँ उस से कहीं अधिक आर्य समाज के धर्म-प्रचार पर। लाहौर से पं० भक्तराम प्रचारक निकले। जलन्धर तथा गुजराँवाला में इस संस्था के अध्यापकों और छात्रों ने प्रचार ही का डंका बजाया। यही कारण था कि इस में बड़ी आयु के विद्यार्थी भर्ती किये जाते थे जिन पर आर्य सामाजिक विश्वास का बन्धन रखा जा सकता था।

आश्रम-विद्यालय तो यह था ही और सन्ध्या-हवनादि नित्य कर्म भी इस की दिन-चर्या का आवश्यक अंग थे। प्रचार की क्षमता की वृद्धि के लिए इस की शिक्षा-पद्धति में आँगल-भाषा तथा आधुनिक विज्ञान और दर्शन का समावेश करने की तजवीज़ की गई। वक्तृत्व-शक्ति भी प्रचार के लिए आवश्यक थी। इस की उन्नति के लिए वाग्वर्धिनी सभा स्थापित हुई। केवल शिक्षा ही नहीं, छात्रों का भरण-पोषण भी समाज के व्यय से किया जा रहा था। उपदेशक-पाठशाला की ये विशेषताएँ उसे गुरुकुल का पूर्व-रूप देती हैं। यह सब कुछ होते हुए भी यह शाला उपदेशक-शाला थी, सामान्य शिक्षण-शाला नहीं।

१९०० में गुरुकुल की श्रेणियाँ भी यहीं लगा दी गईं। उन में छोटी आयु के छात्र लिये गये। उपदेशक-पाठशाला के छात्र बड़ी आयु के थे। १९०२ में गुरुकुल-शाला का

परिवर्त्तन हरिद्वार हो गया। उस के पश्चात् भी वैदिक पाठशाला चलती रही। म० मुन्शीराम का विचार था कि वैदिक पाठशाला को भी हरिद्वार भेज दिया जाय। परन्तु ला० केवलकृष्ण, ला० रलाराम और ला० हाकिमराय ने उस के लिए नन्द भक्त से शाला का स्थान कूप, भूमि तथा तालाब-सहित दान रूप में प्राप्त कर लिया और पाठशाला वहीं स्थिर हो गई। १६०२ में इस में अंग्रेज़ी भी पढ़ाई जाने लगी। ला० रलाराम पाठशाला के अधिष्ठाता थे और मु० केवलकृष्ण अध्यक्ष।

१६०२-३ में इस शाला का एक विद्यार्थी पंजाब यूनिवर्सिटी की प्राज्ञ परीक्षा में प्रथम रहा। १६०५-६ में वैदिक-आश्रम का व्यय २३०) दिखाया गया है। इस के पश्चात् बजट में यह श्रेणी दिखाई तो जाती है पर इस पर व्यय कुछ नहीं होता।

प्रचार-कार्य

इस में सन्देह नहीं कि लेखराम-काल का अधिक भाग पंजाब के आर्य समाजों के गृह-कलह ही के अर्पण हुआ। यह कलह पं० गुरुदत्त के देहान्त से आरम्भ हो कर १८९४ के मई मास तक तो चलता रहा ही, इस के पश्चात् आर्य समाज के दो अलग दल हो गये परन्तु उन में शांति कहाँ थी? अग्नि अभी जल ही रही थी। दोनों विभाग एक दूसरे पर आक्षेप करते जा रहे थे। शिविर अलग-अलग हो गये थे परन्तु शस्त्र प्रहार वैसे ही जारी था।

इस अवस्था के रहते हम हैरान हैं कि इतना प्रचार किस प्रकार हो सका? इस काल के प्रचारक कुछ तो पिछले ही काल के हैं परन्तु समय ने उन की स्थिति तथा शक्ति का विकास कर दिया है। इन में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जिन का स्थान आर्य समाज के इतिहास में स्थायी रूप से क़ायम रहेगा। स्वयं पं० लेखराम जिन के नाम से इस काल का नामकरण किया गया है, अपने में ही सवा लाख थे। इन के भाषण, इन के शास्त्रार्थ, इन की साहित्यक

कृतियाँ सभी आर्य समाज की स्थिर पूँजी हैं। ला० मुन्शी-
राम जिज्ञासु ने इन की जीवनी तथा ग्रन्थों का संग्रह कर
प्रकाशित करा दिया। हम स्वयं एक पृथक् अध्याय में इन
के जीवन का संक्षिप्त वृत्तान्त दे रहे हैं। अतः यहाँ उस का
उल्लेख पुनरावृत्ति ही का सामान होगा। पण्डित जी अपने
आप को "आर्य मुसाफ़िर" कहते थे। उन की स्मृति में सभा
ने इस नाम का एक उर्दू मासिक भी जारी किया था।
पण्डित जी ने अपने जीवन में इस नाम को सार्थक किया
था। इन की प्रचार की अटूट लगन इन्हें कहीं टिक कर
बैठने देती ही नहीं थी। आज यहाँ, कल वहाँ, परसों फिर
कहीं और—इसी प्रकार इन के महीनों ही क्या वर्षों बीत
गये। पिता का, भाई का, लड़के का देहान्त हो गया परन्तु
पण्डित जी अपने प्रचार-कार्य से तिल मात्र भी पीछे न
हटे, यहाँ तक कि संपूर्ण शरीर-यात्रा को इन्हीं यात्राओं ही
में समाप्त कर दिया। क़ादियानी पैग़म्बर का इन्हों ने साक्षात्
वार्तालाप तथा लिखित ग्रन्थों और पुस्तिकाओं से नातिक़ा
बंद कर दिया। ऋषि जीवन की सामग्री भी इन यात्राओं
ही में एकत्रित की। वह अपने आप में एक ऐतिहासिक
भाण्डार है जिसे आधार बना कर ही पीछे की सब जीव-
नियाँ लिखी जा सकी हैं।

जगराँव के पं० कृपाराम भी जो पीछे जा कर स्वामी
दर्शनानन्द बने इसी काल में प्रचारक बने। इन का जन्म एक
ब्राह्मण घराने में हुआ था। अपने समय की प्रथा के अनु-
सार इन्हें उर्दू-फ़ारसी पढ़ाने का प्रयत्न किया गया परन्तु

ये मिडल से आगे न चल सके। इस शिक्षा में इन का दिल ही नहीं लगता था। पहिले इन्हें घर पर संस्कृत पढ़ाई गई परन्तु इस से इन का सन्तोष नहीं हुआ। इन्हें अमृतसर में एक दूकान खोल दी गई जिस का नाम इन्हों ने "सच्ची दूकान" रखा। सच्चे तथा सस्ते सौदे के कारण यह दूकान सर्व-प्रिय हो गई और इन्हें ख़ूब लाभ हुआ। परन्तु इन के सिर पर तो वैराग्य सवार था। विवाह हो चुकने पर भी ये घर से निकल गये और संन्यास ले लिया। पिता जी के कहने से घर लौटे तो सही पर इस शर्त पर कि न तो इन का आश्रम बदला जाय और न इन के आर्य समाज के प्रचार ही में विघ्न डाला जाय। जगराँव में एक सनातनी पण्डित के साथ इन का शास्त्रार्थ हो गया। तब से इन्हें संस्कृत के उत्कृष्ट प्रकार के अध्ययन की धुन समाई। इन के दादा पं० दौलत-

स्वामी दर्शनानन्द
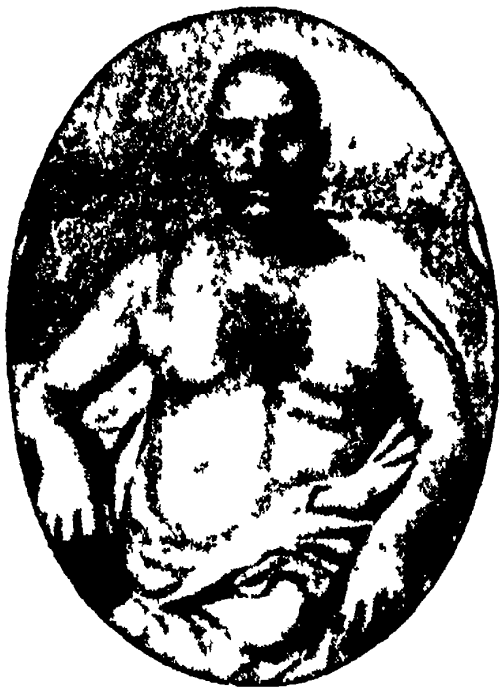
राम अपनी वृद्धावस्था के दिन काशी में व्यतीत कर रहे थे। ये भी वहीं चले गये। वहाँ इन्हों ने व्याकरण तथा दर्शन की शिक्षा प्राप्त की। इस के अनन्तर इन्हें संस्कृत के अप्राप्य तथा बहुमूल्य ग्रन्थों के प्रचार का विचार हुआ। अपने दादा की संपत्ति से एक प्रेस खोल कर पुस्तकों के सस्ते दामों मुद्रित कराने तथा बेचने का प्रबन्ध किया। "तिमिर-

नाशक" नाम से एक पत्र भी निकाल दिया। इस प्रकार हज़ारों रुपये संस्कृत तथा आर्य समाज के प्रचार में लगा दिये। प्रकृति परोपकार-प्रिय थी। एकाग्रता बचपन से पाई थी। जिस कार्य में एक बार लग गये, कुछ समय के लिए बस उसी के हो रहे। इन का प्रेस पहिले तो चलता रहा परन्तु पीछे कुप्रबन्ध के कारण उस में अत्यधिक घाटा आ गया और ये घर लौट आए। इस बीच में पुस्तकों तथा पत्रिकाओं द्वारा प्रचार ख़ूब हो गया था। कुछेक शास्त्रार्थ भी हुए परन्तु शास्त्रार्थ-विद्या का धनी लोक-विख्यात दर्शनानन्द अभी तय्यार ही हो रहा था। दूसरी बार संन्यासाश्रम में प्रविष्ट दर्शनानन्द लेखराम-काल के बाद की वस्तु है। उस का वर्णन यथा-अवसर आगे किया जायगा।

ब्र० नित्यानन्द के नाम का उल्लेख गुरुदत्त-काल के प्रचारकों में हो चुका है। ये जोधपुर रियासत के जालौर नामक ग्राम के रहने वाले थे। १७ वर्ष की आयु में इन्हों ने घर छोड़ दिया था और विद्याभ्यास कर संन्यास ले लिया था। १८८० में इन की स्वामी विश्वेश्वरानन्द से भेंट हुई थी। उन्हें ये अपना गुरु मानते थे। इन दोनों महानुभावों का आपस में इतना गहरा प्रेम हो गया था कि ये मानो दो शरीरों में एक आत्मा-से बने सर्वत्र साथ-साथ घूमते थे। ऋषि दयानन्द के निर्वाण के पश्चात् इन का प्रवेश आर्य समाज में हुआ और तब से ये प्रचार-कार्य में लग गये। यू० पी० तथा राजपूताने में प्रचार कर ये बूँदी राज्य में पहुँचे। वहाँ इन का वेदान्ती पण्डितों से शास्त्रार्थ

हो गया। इन की युक्तियों तथा प्रमाणों से निरुत्तर हो कर उन्हों ने राज्याधिकारियों को बीच में डाला और स्वामी जी के लिए रियासत से बहिष्कार की आज्ञा ले ली। शास्त्रार्थ में सहायता देने के लिए पण्डित लेखराम इन की ओर जा रहे थे कि ये रास्ते में उन से मिल गये और उन्हें

स्वामी नित्यानन्द

वापिस लौट जाने को कह दिया। यह शास्त्रार्थ लिखित हुआ था। इस की प्रति पंडित भीमसेन के पास निरीक्षण के लिए भेजी गई। उन्हों ने इसे सिद्धान्त के विरुद्ध कहकर लौटा दिया। पीछे वही शास्त्रार्थ पं० गुरुदत्त को भेजा गया। उन्हों ने उसे पसंद किया और छपवाने की अनुमति दे दी।

स्वामी नित्यानन्द का प्रभाव राजाओं में विशेष था। इन्दौर, बड़ोदा, नृसिंहगढ़, उदयपुर, देवास, मैसूर, शाहपुर आदि रजवाड़ों के तो ये राजगुरु थे। इन्दौर-

नरेश ने इन्हें यहीं अपना स्थिर आवास बना लेने को भी कहा था परन्तु इन्हों ने नहीं माना। मैसूर के महाराज इन के भाषण पर इतने मुग्ध हुए कि इन से यथेच्छ उपहार माँगने की प्रार्थना की। अपने गृह-प्रबन्धक (Controller of the Household) से कह दिया कि राजकोष में से जो भी वस्तु स्वामी जी चाहें वह स्वामी जी को दे दी जाय। इन्हों ने आँगल इतिहास के डाक्टर बॉटन की तरह इस बात पर सन्तोष प्रकट किया कि महाराज ने वैदिक धर्म स्वीकार कर लिया है। महाराज की संरक्षकता में "वैदिक धर्म-वर्धिनी सभा" की स्थापना की गई। दीवान स्वयं उस के प्रधान बने और ऊँचे-ऊँचे पदाधिकारी उस के सभासद निर्वाचित हुए। स्वामी जी के परामर्श से मैसूर-नरेश उत्तरीय भारत की यात्रा को निकले। इस का एक उद्देश्य आर्य समाज को उस के उत्साह के केन्द्र में अवलोकन करना था। महाराज की मृत्यु शीघ्र हो जाने के कारण स्वामी जी का यह प्रयत्न फलीभूत न हो सका।

स्वामी विश्वेश्वरानन्द

बम्बई प्रान्त से स्वामी जी काश्मीर आये। वहाँ इन के संस्कृत में कई व्याख्यान हुए। काश्मीर से रावलपिंडी और वहाँ से लाहौर पधार कर अमृतवर्षा की। लोगों पर इन के भाषण से एक मोहिनी-सी छा जाती थी। एक तो इन की आकृति ही भव्य थी। फिर विद्या भी गम्भीर थी और सौजन्य सोने पर सुगन्ध का काम कर रहा था। जनता मन्त्र-मुग्ध सी हो जाती थी। स्वामी जी पंजाब के सभी बड़े-बड़े नगरों में गये। सभा ने इन्हें नैपाल जाने की प्रार्थना की परन्तु वहाँ एक व्यापक रोग के फूट पड़ने के कारण इन्हें लौट आना पड़ा। स्वामी जी शास्त्रार्थी भी उत्तम थे और वक्ता भी अत्यन्त सौम्य। सब से बड़ी बात यह थी कि ये सर्वथा निर्भीक थे। इन्हें कई बार आपत्ति-ग्रस्त होना पड़ा परन्तु ये घबराये नहीं और अपने अटूट धैर्य द्वारा जहाँ अपनी उपदेशकोचित समता को स्थिर रखने में सफल हुए वहाँ प्रभु-भरोसे रह कर आपत्तियों से भी बाल-बाल बच गये।

१८९६ में स्वामी जी फिर पंजाब पधारे। अम्बाला, जलन्धर, होशियारपुर, अमृतसर, पठानकोट, धर्मशाला आदि स्थानों पर व्याख्यान देने के पश्चात् सभा के निमन्त्रण पर लाहौर, गुजरांवाला, रावलपिंडी, पेशावर, कोहाट, बन्नूँ, डेरा इस्माईलखाँ, मुज़फ़्फ़रगढ़, मुलतान, कसूर आदि स्थानों में प्रचार करते रहे। नाभा रियासत के राजा हीरासिंह की, धर्म की विवेचना में विशेष रुचि था। स्वामी जी नाभा पधारे तो महारज इन के व्याख्यानों में आया करते

थे। इन के ठहराने का प्रबन्ध भी राज्य की ओर से हुआ था। उन दिनों एक सनातनी साधु ईश्वरानन्द समाज के सिद्धान्तों का खण्डन कर रहे थे। महाराज ने उन्हें स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने को कहला भेजा परन्तु वे टालमटोला ही करते रहे। एक दिन उन्हें जैर से ही गाड़ी में बठा कर सभा-मण्डप में ले आया गया। सभा के बीच में उन्हों ने स्वीकार किया कि उन्हें तो लिखना भी नहीं आता। महाराज ने उन्हें डाँट कर कहा:—फिर शास्त्री क्यों बघारते थे?

१८६१ की काश्मीर-यात्रा के समय स्वामी जी ने "पुरुषार्थ प्रकाश" की रचना की था। यह पुस्तक आर्य समाज के साहित्य का एक स्थायी भाग है। इस ग्रन्थ से स्वामी जी की गंभीर विद्वत्ता का ख़ूब परिचय मिलता है।

लेखराम-काल के दिग्गजों में पं० गणपति शर्मा का स्थान भी विशेष था। ये बीकानेर राज्य में रामगढ़ के निकटस्थ चूरू नाम की नगरी के रहने वाले थे। इन की शिक्षा काशी में हुई थी इन का रहन सहन सादा था और आकृति भी कुछ आकर्षक न थी परन्तु बुद्धि बड़ी तीव्र और विद्या आश्चार्य जनक थी। इन के तर्क को सुन कर पक्षी-विपक्षी सब हैरान रह जाते थे। स्त्री-शिक्षा के ये बड़े पक्ष-

पं० गणपति शर्मा

पाती थे। उत्सवों में स्त्रियों को पर्दे में बैठाने के सख़्त विरोधी थे। ये कहा करते थे कि यदि पुरुषों के व्याख्यानों में स्त्रियाँ चिकों के पीछे बैठती हैं तो स्त्रियों के व्याख्यानों में पुरुषों पर भी चिकियाँ डाल देनी चाहिएं। इन्हों ने अपनी धर्म-पत्नी को स्वयं पढ़ाया। कुछ समय कन्या-महाविद्यालय में शिक्षा दिलाई। ये उन्हें स्त्रियों में उपदेश के काम पर लगाना चाहते थे परन्तु उन का देहान्त हो जाने के कारण इन की यह आयोजना सफल न हो सकी।

पं० गणपति शर्मा वेतन पर कार्य करने के विरुद्ध थे। १८६६ में इन्हों ने देहली में अपना निगम-प्रकाश प्रेस स्थापित किया परन्तु वह चल नहीं सका। व्याख्यान-शतक नाम से एक पुस्तक की रचना करने लगे थे और "ईश्वर-भक्ति" नामक उस का एक अंक निकल भी आया परन्तु प्रेस के साथ वह पुस्तक भी बीच ही में रह गई। गणपति एक निर्धन विद्वान् का नमूना थे।

महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि

इन के अतिरिक्त पं० आर्यमुनि, पं० लालमन, पं० सीताराम शास्त्री, पं०कल्याण दत्त, पं० राजाराम शास्त्री, पं० ब्रह्मानन्द, भाई जगत् सिंह आदि प्रचारक काम करते थे।

स्वामी (पश्चात् पं०) पूर्णानन्द सिंध के थे। उस प्रान्त

पं० पूर्णानन्द

में वे .खूब सफल हुए। कुछ समय उन्हें उसी प्रान्त के लिए विशेष कर दिया गया।

ला० मुन्शीराम १८९२ से १८९५ तक सभा के प्रधान रहे। सभा के कार्यों में वे बहुत दत्तचित्त रहते थे। प्रबन्ध के अतिरिक्त वे स्वयं प्रचार के लिए भी जाया करते थे। मुकेरियाँ के शास्त्रार्थ में पं० लेखराम ने स्वयं उन्हें शास्त्रार्थ

की कुर्सी पर बैठा दिया था। एक सनातनी पण्डित किसी श्लोक को वेद का मन्त्र कह रहा था। समाज का पक्ष इस के विपरीत था। लाला जी का संस्कृत का उच्चारण शुद्ध था। पण्डितों के मुक़ाबिले में इन का खड़ा होना अच्छा समझा गया।

सभा के एक उपदेशक पं० दौलतराम थे। उन की कथाएँ बड़ी सर्व-प्रिय थीं। उन का झुकाव वेदान्त तथा योगाभ्यास की ओर था। प्रचार-क्षेत्र से हट कर उन्हों ने अपने आप को अभ्यास के अर्पण कर दिया। इस समय वे अभ्यासियों में एक उच्च कोटि के सिद्ध समझे जाते हैं। वे संन्यास ले चुके हैं और अब उन का नाम अच्युत स्वामी है।

मा० आत्माराम जी पहिले डी० ए० वी० स्कूल में अध्यापक थे, फिर अमृतसर के भ्रातृ स्कूल के मुख्याध्यापक हो गये। १८६५ में वे प्रतिनिधि सभा के मन्त्री निर्वाचित हुए। मास्टर जी स्वाध्याय-शील थे। उन्हें लिखने का ख़ूब अभ्यास था। वक्ता तथा शास्त्रार्थी प्रसिद्ध थे। पं० लेखराम द्वारा लिखित ऋषि की जीवनी के कुछ भाग इन्हीं की लेखनी की कृति हैं। समाजों के दो विभाग हो जाने के पश्चात् महात्मा-दल की शक्ति के निर्माण में इन का बड़ा-हाथ है। ये शाकाहार के कट्टर पक्षपाती थे और मा० दुर्गाप्रसाद के साथ मिल कर इन्हों ने वैजिटेरियन सोसाइटी का कार्य अच्छे उत्साह तथा परिश्रम से किया।

भक्त रैमल भी इसी काल की विभूति हैं। इन का सादा

सत्याश्रित जीवन विशेष आकर्षण रखता था। इन्हों ने जो माना सो कहा, जो कहा सो किया। अपने सिद्धान्तों के अक्षर-अक्षर में इन को विश्वास था और उस के अनुकूल ये अपने जीवन को ढाल रहे थे। हिन्दू मुचुअल रिलीफ़ फ़ंड के सदस्य थे। उसे इस लिए छोड़ा कि "हिन्दू" नाम आर्य सिद्धान्त के विरुद्ध था। किसी आर्य संस्था का पत्र उर्दू में आया, उसे पढ़ने से इनकार कर दिया। कहा:—यह आर्य भाषा नहीं है। किसी के साथ ताँगे पर गये तो अपना किराया अपने आप दिया। भोजन आदि के संबन्ध में भी इन का यही व्यवहार था।

अवैतनिक कार्य करने वालों में मा० (पश्चात् प्रो०) शिवदयालु एम० ए० का नाम भी विशेषतया उल्लेखनीय है। मास्टर जी ने १८९५ में शिमले से फ़ीरोज़पुर तक मा० आत्माराम जी के साथ मिल कर ख़ूब प्रचार किया।

जलन्धर आर्य समाज के उत्सवों के विवरण में ला० बद्रीदास एम० ए० के अंग्रेज़ी व्याख्यानों का उल्लेख है। समाज में ला० मुन्शीराम द्वारा पेश किये गये रहतियों की शुद्धि के प्रस्तावों का अनुमोदन इन्हों ने किया है। कन्या-महाविद्यालय के प्रबन्ध में इन का बहुत पुराना हाथ है। पं० लेखराम के बलिदान के पश्चात् जब सद्धर्म-प्रचारक के परिशिष्ट-रूप में "आर्य मुसाफ़िर" का प्रकाशन स्वीकार हुआ तो उस के संपादक ला० बद्रीदास नियत हुए।

लेखराम-काल के प्रारम्भिक प्रचारकों में ला० चिरंजी-लाल का नाम यत्र-तत्र मिलता है। चिरंजीलाल कुछ अधिक

पढ़ा-लिखा नहीं था। साधारण उर्दू के अतिरिक्त उसे शिक्षा प्राप्त करने का अवसर ही नहीं मिला। १६ वर्ष की आयु में १८७७ में उसे महर्षि के दर्शन हुए। महर्षि उन दिनों लुधियाने पधारे थे। उन के व्याख्यानों से प्रभावित हो कर चिरंजीलाल ने प्रचारक होने की ठान ली थी। परन्तु एक तो विवाह हो चुका था, दूसरे शीघ्र पिता जी की मृत्यु हो गई और परिवार का बोझ इन के सिर पर आ पड़ा। दस बारह वर्ष किसी प्रकार धैर्य किया और दूकानदारी से कुटुम्ब का भरण-पोषण करते रहे। जब छोटा भाई कारोबार सँभालने के योग्य हो गया तो चिरंजीलाल प्रचार के काम में निकल खड़े हुए। इन के प्रचार का साधन इन की अपनी बनाई हुई पंजाबी की सी-हर्फ़ियाँ होती थीं। उन्हें ये उर्दू में छपवा लेते और गा-गा कर प्रचार करते। उन्हीं की बिक्री से इन का निर्वाह चलता था।

चिरंजीलाल का शरीर .खूब बलिष्ठ था। इस शरीर ने भी उन्हें प्रचार-कार्य में .खूब सहायता दी। एक बार लुधियाने के मुसलमानों ने एक हिन्दू लड़की को ज़बरदस्ती मुसलमान करना चाहा। मुसलमानों से भर रही मसजिद में से ये अकेले उस असहाय को उठा लाये। इस प्रयत्न में इन का शरीर लाठियों से घायल हो गया। परन्तु लड़की बच गई।

दसहरे के मेले में प्रचार करते हुए दोलू नाम के एक "भक्त" ने इन पर घातक वार किया पर ये उसे सहन कर गये और अपने स्थान से अणु-मात्र भी नहीं हटे। दोलू को

पश्चात्ताप हुआ और उस ने क्षमा माँग ली। आर्य प्रचारक के पास इस की क्या कमी थी?

एक ठाकुर-द्वारे में एक फ़क़ीर वृक्ष पर चढ़ कर आग बरसाने लगा। यह उस का चमत्कार समझा जा रहा था। ला० चिरंजीलाल वहाँ गये और बंदूक का डर दिखा कर इन्हों ने साधु की पोल का पता लगा लिया। वह आग उस राल की थी जो वृक्ष के तने के साथ बाँध दी गई थी।

चिरंजीलाल की सी-हर्फ़ियों का विषय मूर्ति-पूजा, श्राद्ध, मद्य-पान, कन्या-विक्रय, तथा अनपढ़ ब्राह्मणों की करतूतें होती थीं। ठेठ पंजाबी में रची गई तथा सुरीली आवाज़ में गा-गा कर सुनाई गई ये सी-हर्फ़ियाँ आने वालों को ज़बरदस्ती ठहरा लेती थीं। इन में जादू का सा आकर्षण था।

एक सी-हर्फ़ी में ला० चिरंजीलाल ने अपने पर उठाये गये एक अभियोग का वर्णन किया है। एक ब्राह्मण के दान में प्राप्त किये चावल उठा लेने के कारण इन्हें चार मास कठोर कारावास तथा पचास रुपये जुर्माने का दण्ड मिला। अपील होने पर ला० मुन्शीराम ने इन की सहायता की और ये छूट गये। कारावास की कहानी करुणा-जनक है। इस कारावास ने प्रचार के उत्साह को उलटा द्विगुणित कर दिया।

"सद्धर्म-प्रचारक" में कई ऐसी घटनाओं का वर्णन मिलता है कि कुछ हिन्दू युवक मुसलमान अथवा ईसाई बन रहे हैं और ला० चिरंजीलाल ने अपने प्रचार के द्वारा उन्हें

इस पतन से बचा लिया है। इन के प्रचार की सीमा उधर जामपुर (ज़ि० डेरा ग़ाज़ीखाँ), इधर पिंड दादनखाँ तथा श्री गोन्विदपुर तक पहुँचती है। श्री गोविन्दपुर के समाज में इन के प्रचार के फल-स्वरूप २१ नये आर्य सभासदों का प्रवेश हुआ है।

नाभा-नरेश लाला जी के प्रचार पर इतने मुग्ध हुए कि उन्हें एक वार २५) और दूसरी वार १००) और एक ख़िलअत उपहार-रूप में प्रदान की।

२६ जुलाई १८६३ को इन की मृत्यु हुई। इन का प्रचार प्रचण्ड प्रकार का था। इस लिए इन्हें बहुत विरोध तथा कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कई वार इन्हें विष दिया गया परन्तु इन का लोह-मय शरीर उसे पचा गया। इन की मृत्यु भी विष ही का परिणाम समझी जाती है।

गुरुदासपुर ज़िले के अन्तर्गत माधोपुर नामक ग्राम में १८६३ में रहतियों की शुद्धि होने का समाचार मिलता है। १८८८ की ओडों की शुद्धि के पश्चात् दलितोद्धार के क्षेत्र में यह दूसरी विजय थी।

१८६३ में शिकागो में सर्व-धर्म-सम्मेलन (Parliament of Religions) हुआ। उस के लिए ला० हंसराज तथा पं० आर्यमुनि को भेजने का विचार हुआ परन्तु पर्याप्त धन एकत्रित न होने के कारण इस प्रस्ताव को क्रियात्मक रूप नहीं दिया जा सका। हाँ! पं० गुरुदत्त की कुछेक कृतियाँ भेज दी गईं। जैसे हम ऊपर कह चुके हैं, पण्डित जी द्वारा किये

गये उपनिषदों के अनुवाद का अमेरिकन संस्करण वहाँ के किसी प्रकाशक ने अपने आप छपवा कर प्रकाशित कर दिया।

हम ने ऊपर कतिपय शास्त्रार्थ-महारथियों के नाम लिये हैं। इन की विद्यमानता ही इस बात का प्रमाण है कि उन दिनों शास्त्रार्थ ख़ूब होते होंगे। प्रतिनिधि सभा के वार्षिक वृत्तान्तों में प्रति वर्ष पांच-छः विशेष शास्त्रार्थों का उल्लेख पाया जाता है। १८९८ में यह संख्या चौदह तक जा पहुँची है। इन के सिवाय साधारण शास्त्रार्थ तो अनगिनत हो गये होंगे। प्रतीत ऐसा होता है कि उस काल में शास्त्रार्थ प्रचार की सफलता का अमोघ अस्त्र था। युक्तियों के युग में प्रबल युक्ति वाले की ही विजय समझी जाती थी। आर्य समाज को एक नहीं, अनेक शास्त्रार्थ-महारथी प्राप्त थे। उपर्युक्त सज्जनों के सिवाय ला० बख़्शीराम तथा पं० गिरिधारी लाल का नाम भी शास्त्रार्थ के दिग्गजों में पाया जाता है।

सामान्य प्रचार के अतिरिक्त सनातन धर्मियों के मेले प्रचार का विशेष अवसर समझे जाते थे। १८९८ में १२ मेलों में प्रचार किया गया।

जलन्धर समाज की कार्यवाही-पंजिका में एक प्रस्ताव इस विषय का मिलता है कि समाज के सभासद वे ही पुरुष रह सकें जो अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह शास्त्र विहित आयु से पूर्व न कराएँ। इस से प्रतीत होता है कि समाज-सुधार अब केवल ऊपर के विधि-विधानों तक ही परिमित नहीं था किन्तु संस्कारों के वास्तविक उद्देश्यों की सिद्धि भी अब उस का लक्ष्य बन रही थी।

यह सम्पूर्ण विवरण बता रहा है कि सभा की शक्ति दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही थी। एक पं० आर्यमुनि से आरंभ कर के सभा ने अब अनेक नियमित उपदेशक नियत कर लिये थे। अनियमित रूप से काम करने वालों की संख्या का तो कहना ही क्या है। प्रचार धन लाया और धन ने प्रचार-कार्य को आगे किया। २४ दिसम्बर १८६५ में सभा की रजिष्टरी भी हो गई। इस समय उस के निम्न-लिखित उद्देश्य उद्घोषित किये गये :—

(१) वेदों और प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के पढ़ाने और आर्योपदेशकों के तय्यार करने के लिए एक विद्यालय का क़ायम करना।

(२) धार्मिक और पदार्थ विद्या-सम्बंधी पुस्तकों का एक पुस्तकालय खोलना जिस में सर्व-साधारण पुरुष पुस्तक देख सकें।

(३) वेदों के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए लघु पुस्तक आदि छापना छपवाना।

(४) पंजाब और दीगर (अन्य) मुक़ामात (स्थानों) में वैदिक धर्म के प्रचार का प्रबन्ध करना।

(५) वैदिक धर्म के प्रचार के लिए तजावीज़ (आयोजनाओं) का सोचना और उन के अनुसार प्रबन्ध करना।

इस प्रकार समाज का प्रचार-कार्य एक स्थिर संघटन की नींव पर खड़ा हो गया। यदि प्रति वर्ष स्थापित किये गये नवीन समाजों का ब्यौरा विद्यमान होता तो प्रत्येक

वर्ष की प्रगति का अनुमान सुगमता से किया जा सकता। १८९८ की रिपोर्ट में लिखा है कि इस वर्ष १०० समाज नये बने। यह परिणाम लेखराम-काल के अदम्य उत्साह का था। इस काल में शुद्धियाँ भी खूब हुईं। लेखराम शुद्धि के आचार्य थे। शुद्धि ही की पवित्र वेदी पर उन्हों ने अपने पुण्य प्राणों की आहुति दे दी। १८९७ में ६ और १८९८ में १५ शुद्धियों की सूचना दी गई है। हकीम सन्तराम ने इस पुण्य कार्य में खूब भाग लिया। १८९८ की ७ शुद्धियों का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है।

सभा का प्रबन्ध

सभा की स्थापना का वृत्तान्त गुरुदत्त-काल में आ चुका है। हम ऊपर यह भी कह चुके हैं कि सभा के प्रथम प्रधान ला० साईंदास थे। अपने देहान्त अर्थात् जून १८९० तक यही महानुभाव सभा के प्रधान रहे। मन्त्री १८८६ में ला० मदनसिंह, १८८७ में ला० जीवनदास और इस के पश्चात् ला० मुरलीधर रहे। १८८७ तथा १८८८ में मन्त्री के अतिरिक्त कोषाध्यक्ष भी ला० जीवनदास थे। १८८६ में इन्हें पुस्तकाध्यक्ष चुना गया था। फिर १८९१ तक कोई पुस्तकध्यक्ष रहा ही नहीं। जब पुस्तकालय ही नहीं था तो पुस्तकाध्यक्ष का क्या काम? उपप्रधान एक वर्ष ला० मुरलीधर चुने गये। शेष वर्षों में इस पद की आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई।

इन वर्षों में सभा बिना कार्यालय के काम करती रही। १८९५ में वच्छोवाली समाज में एक कमरा ४) मासिक किराये पर ले लिया गया। सभा का पत्र-व्यवहार प्रधान, उपप्रधान तथा मन्त्री स्वयं कर लेते थे। ज्यों ज्यों उप-

देशकों की संख्या बढ़ी और प्रबन्ध-कार्य का विस्तार होता गया, कर्मचारियों के केस तथा पत्र-पंजिका (डाक-बही) रखने की आवश्यकता हुई । १८९५ में एक लेखक तथा १८९७ में एक गणक रखा गया । इसी वर्ष एक पेपरोग्राफ़ भी क्रय किया गया । मन्त्री जयचन्द्र तथा उपप्रधान ख़ुशीराम के सम्बन्ध में लिखा है कि उन्हें पाँच-पाँच, छः-छः घण्टे प्रति दिन काम करना होता था । ला० ख़ुशीराम रात के दो-दो बजे तक कार्यालय में कार्य करते थे । १८९६ में वैतनिक उपमन्त्री की आवश्यकता भी अनुभव होने लग पड़ी थी । १८९४ में वेद-प्रचार निधि की स्थापना हुई । इस से और ऋषि की जीवनी के संकलन के कारण कार्यालय का कार्य और भी अधिक बढ़ गया ।

ला० साईंदास के पश्चात् ला० ईश्वरदास प्रधान निर्वाचित हुए । १८९२ में ला० हंसराज और फिर नवंबर १८९६ तक ला० मुन्शीराम प्रधान रहे । ला० मुन्शीराम ने अपना तन-मन सभा के अर्पण कर दिया । वे केवल प्रबन्ध ही नहीं करते थे । सभा के सभी कार्यों का क्रियात्मक संचालन उन के हाथों होता था । स्वयं प्रचार भी करते और धन भी एकत्रित कर लाते थे । सभा की प्रधानता उन का गौण नहीं, मुख्य कार्य था । यहाँ तक कि आजीविका का उपार्जन भी इस के सामने गौण हो गया था । वेद-प्रचार निधि का प्रारंभिक निर्माण इन्हीं के हाथों हुआ । १८९६ में ला० रामकृष्ण और १८९७ में फिर ला० मुन्शीराम प्रधान हो गये ।

वेद-प्रचार की आय उस समय दो हज़ार से आरंभ कर पाँच हज़ार तक पहुँच गई थी। १८६५ में यह आय ग्यारह हज़ार बताई गई है। उपदेशकों की संख्या भी इसी आय के अनुपात से ही हो सकती थी। १८६२ में ७ और १८६७ में १५ उपदेशक काम कर रहे थे। पं० लेखराम के बलिदान पर लेखराम-स्मारकनिधि स्थापित की गई। उस से वेद-प्रचार को अच्छी सहायता मिली।

ला० हंसराज की प्रधानता में ला० ईश्वरदास मन्त्री हुए। १८६२ में मा० दुर्गाप्रसाद और फिर १८६५ तक मास्टर आत्माराम मन्त्री रहे। १८६६ तथा १८६७ में ला० जयचन्द्र मन्त्री थे। कार्यालय के अतिरिक्त ये आन्दोलन का कार्य भी खूब करते थे। १८९८-६६ में इन्हों ने ईसा के गुप्त वृत्तान्त पर एक अंग्रेज़ी भाषा की पुस्तक का उर्दू में अनुवाद किया। ला० जीवनदास की पुस्तकें और ट्रैक्ट, ला० मुरलीधर के लेख और व्याख्यान, मा० आत्माराम के शास्त्रार्थ, व्याख्यान और पुस्तकें—ये सब इन अधिकारियों के धर्म-प्रेम के प्रबल प्रमाण हैं। ला० रामकृष्ण अपने व्याख्यान तथा शास्त्रार्थ की कथा खूब आनन्द ले-ले कर सुनाया करते हैं। सार यह कि सभा के अधिकारी सभा के धर्म-सेवक थे।

अन्तरंग सभा के सदस्यों की संख्या १५ चली आती थी। १८९२ में यह संख्या १५ के स्थान में २१ कर दी गई।

पं० लेखराम

पं० लेखराम का जन्म १८५८ में जेहलम ज़िले के अन्तर्गत चकवाल नाम की तहसील में सैयदपुर नाम के ग्राम में हुआ। उन के पूर्वज रावलपिण्डी ज़िले में कहूटा ग्राम के रहने वाले थे। जाति की दृष्टि से वे शाण्डिल्य-गोत्रज सारस्वत ब्राह्मण थे। लेखराम के दादा नारायणसिंह, कान्ह-सिंह मजीठिया के यहाँ घुड़सवार थे। पठानों के साथ लड़ाई के समय उन्हों ने विचित्र वीरता तथा धैर्य का परिचय दे कर इन मजीठिया सरदार से विशेष पारितोषक प्राप्त किया था। अँग्रेज़ी राज्य की स्थापना के पश्चात् जब भारतीयों को हथियार न रखने की आज्ञा हुई तो पं० नारायण-सिंह तुरन्त पुँछ रियासत में चले गये और वहाँ उन्हों ने अपने हथियार स्वयं बेच दिये। विदेशी सरकार को अपने हथियार दे देना उन्हें अपनी वीरता का अपमान प्रतीत होता था। इन नारायणसिंह के छोटे भाई श्याम-सिंह आजीवन ब्रह्मचारी रहे। इन वंशजों की सन्तान

हो कर वीर लेखराम ने अपने संपूर्ण जीवन में जो अनुपम वीरता और अपूर्व संयम का परिचय दिया, इस में आश्चर्य की कौनसी बात रह जाती है? साधु श्यामसिंह का धर्म प्रेम शाहसवार नारायणसिंह के शौर्य से मिल कर लेखराम को धर्म-प्रेम का एक अपूर्व शूर बना गया। उन की प्रातः स्मरणीय वीर-गति जहाँ उन के अपने कर्मों की कमाई थी, वहाँ वंशजों के पारम्परिक संस्कार भी इस में कुछ कम सहायक न थे।

अपनी कुल-परम्परा के अनुसार लेखराम को फ़ारसी का अभ्यास कराया गया। ये पेशावर में अपने चचा गंडाराम की देख रेख में रह कर फ़ारसी पढ़ने लगे। इन के चचा पोलीस के इन्सपेक्टर थे, सो ये भी आगे जा कर उसी विभाग में भर्ती हुए। तीन वर्ष अपने चचा के पास रह कर इन्हों ने शेष चार वर्ष सैयद्पुर ही की ग्राम्य चट-साल (मकतब) में मुन्शी तुलसीराम के अध्यापन से लाभ उठाया। अध्यापक महोदय को इन की स्वतन्त्र प्रकृति की हमेशा शिकायत रही। यह इन के चचा के पास भेजे गये पत्रों में फिर-फिर प्रकाश पाती रही। परन्तु इन की तीव्र बुद्धि, धारणावती स्मृति, सरल स्वभाव, प्रत्येक विषय पर आधिपत्य इत्यादि गुणों पर मुन्शी जी अन्त समय तक मुग्ध रहे।

अपने चचा गंडाराम के पास रहते हुए एक सिख सिपाही के सत्संग से लेखराम को ईश्वर-भक्ति की लगन लग चुकी थी। कहा जाता है, एक रात वे प्रभु के भजन में

मगन अपनी चारपाई से, सिर नीचे और पाँव ऊपर—इस स्थिति में पृथिवी पर आ पड़े और फिर भी उन की समाधि नहीं टूटी।

१७ वर्ष की आयु में लेखराम को पोलीस में भर्ती किया गया। पाँच वर्ष तक बराबर ये कर्तव्य-परायणता से काम करते गये और इन की वेतनोन्नति भी होती गई। १८८० में इन के हृदय में एकाएक वैराग्य का प्रादुर्भाव हुआ। पिता-माता ने विवाह करना ठीक किया परन्तु इन्हों ने नहीं माना। अन्त को इन की मँगेत्र का लगन इन के छोटे भाई तोताराम से करना पड़ा।

धार्मिक अन्वेषण की चाट भी इन्हें आरम्भ से ही थी। इसलाम-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ते हुए किसी ने पूछा—मुसलमान बनना है क्या? उत्तर दियाः—ठंडा पानी जिस मटके से मिल जाय हमें तो प्यास बुझाने से काम है। इस धर्म-पिपासा ने इन्हें मुन्शी अलखधारी की पुस्तकों का रसास्वादन कराया और इन पुस्तकों द्वारा इन्हें ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का ज्ञान हुआ।

ऋषि के ग्रन्थों के अध्ययन से पूर्व इन का विश्वास नवीन वेदान्त में था। पर अब तो वह विश्वास सहसा हट गया। पेशावर में ये माई रंजी की धर्मशाला में रहते थे। इन के साथ चार और साथी भी थे। उन्हें साथ मिला कर १८८० में इन्हों ने उस धर्मशाला में ही आर्य समाज की स्थापना कर दी और इसी वर्ष ऋषि के दर्शन करने अजमेर प्रस्थान किया।

ये अजमेर से क्या लौटे कि पोलीस विभाग की इन की नौकरी भी वास्तव में ऋषि दयानन्द ही की नौकरी बन गई। जहाँ जाते, धर्म-चर्चा साथ-साथ चलती। यह व्यापार बहुत देर तक चल सकना असम्भव था। आख़िर सितम्बर १८८४ में सरकार की सेवा से मुक्त हो कर धर्म-प्रचार के लिए स्वतन्त्र हो गये। ऋषि के देहावसान ने इस लगन पर विशेष कोड़े का काम किया—यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

पेशावर में रहते हुए इन्हों ने "धर्मोपदेश" नाम का मासिक पत्र प्रकाशित करना आरम्भ किया था। उस के व्यय का अधिक भार इन की अपनी जेब पर पड़ता था। क़ादियानी पैग़म्बर मीर्ज़ा ग़ुलाम अहमद की कृति "बुराहीन-इ-अहमदीया' इन्हें पेशावर ही में मिली थी और ये उन का उत्तर समाज के रजिष्टरों में ही लिखने लग पड़े थे।

नौकरी से मुक्त होने के पश्चात् पं० लेखराम पंजाब आये तो इन्हें मीर्ज़ा साहेब के इस इश्तिहार का पता लगा कि वे मोजज़े दिखा सकते हैं। कोई विधर्मी उन के पास रह कर एक वर्ष के अंदर-अंदर यदि चमत्कार न देख ले तो वे उसे २४००) दण्ड देंगे। पंडित जी ने उन के पास रहना मान लिया। इस पर मीर्ज़ा साहेब ने ख़ूब ननुनच की। अन्त को ये क़ादियान जा कर जहाँ उन्हें साक्षात् ललकार आये, वहाँ क़ादियान में आर्य समाज भी स्थापित कर दिया और मीर्ज़ा साहेब की भविष्य-वाणी से भयभीत विष्णुदास को मुसलमान होने से भी बचा लिया।

"बुराहीन इ-अहमदीया" का उत्तर "तकज़ीब इ-बुराहीन" के नाम से इन्हों ने लिख तो दिया परन्तु उसे छपवा न सके। १८८६ में उस की लिखित प्रतियाँ करा कर उस का प्रचार किया। इस प्रकार जब लोगों को उस पुस्तक के महत्व का ज्ञान हुआ तो १८८७ में वह प्रकाशित भी हुई और बिकी भी ख़ूब।

मीर्ज़ा साहब ने एक और पुस्तक "सुर्मा-इ-चश्म-इ-आरिया" लिखी। उस का उत्तर इन्हों ने "नुस्ख़ा-इ-ख़ब्त-इ-अहमदीया" द्वारा दिया।

इस समय तक लेखक, वक्ता, शास्त्रार्थी—सभी दृष्टियों से लेखराम की योग्यता की धाक बँध चुकी थी। १८८७ में ये "आर्य-गज़ट" के संपादक हो गये। प्रचार का कार्य संपादन के साथ-साथ चलता रहा।

नवम्बर १८८८ में सभा ने ऋषि-जीवनी लिखवाने का निश्चय किया और सब की अँगुलि लेखराम ही पर पड़ी। इन्हों ने पत्र-संपादन छोड़ ऋषि के जीवन-वृत्तान्त की खोज में यात्रा आरम्भ की। वास्तविक "मुसाफ़िर" ये तभी से हुए।

पहिले तो ऋषि की शिक्षा-भूमि मथुरा में गये और ऋषि के सहपाठियों से उन के विद्याध्ययन के समय का हाल पूछा। फिर अजमेर जा कर सनातनियों, जैनियों तथा मुसलमानों के संयुक्त उपद्रव को शान्त किया। उन्हीं दिनों अब्दुर्रहमान नाम का एक मुसलमान शुद्ध हो कर सोमदत्त बन चुका था। इस पर मुसलमानों के भरें में आ कर सनातनी

हो-हल्ला कर रहे थे। आख़िर उन के अपने मन्दिर ही में धर्म-चर्चा करते हुए जब आर्यों पर आक्रमण हुआ तो उस सोमदत्त ने आश्चर्य-जनक वीरता दिखाई और विरोधी परास्त हुए। इन्हीं दिनों पण्डित जी ने अजमेर से "आर्य-विजय पत्र" निकलवा दिया।

ऋषि-जीवन सम्बन्धी अन्वेषण करते हुए पं० लेखराम ने संयुक्त प्रान्त, बिहार, राजपूताना तथा पंजाब—इन प्रान्तों के सभी बड़े-बड़े नगरों की यात्रा की। जहाँ जाते ऋषि-जीवन की घटनाओं के विषय में भी पूछ-ताछ करते और व्याख्यान भी देते। अपने सुगठित चरित्र, प्रबल शरीर, धारा-वाही भाषण, अकाट्य तर्क तथा अदम्य निर्भयता द्वारा हर जगह नये जीवन का संचार कर आते थे। राय बहादुर ठाकुरदत्त ने अपने "धर्म-प्रचार" नामक ग्रन्थ में इन का नाम "आर्य अतिथि" रखा। सो यथार्थ था। इसी यात्रा में इन्हें पटना के ख़ुदाबख़्श पुस्तकालय में चालीस पारे का क़ुरान मिला था, और उस में से इन्हों ने यथेच्छ नोट ले लिये थे।

१८९१ के हरिद्वार कुम्भ के प्रचार का भार अधिकांश पण्डित जी के कन्धों पर रहा।

आर्य जाति को मुसलमान होने से बचाना पं० लेखराम जी का विशेष उद्देश्य था। पेशावर की पोलीस में होते हुए भी इन्हों ने जम्मूँ के म० ठाकुरदास को स्वयं वहाँ जा कर "पतित" होने से बचाया था। १८६१ में हैदराबाद सिंध के एक रईस सूर्यमल की सन्तान की भी इस अनिष्ट से रक्षा

की। पं० पूर्णानन्द जी को साथ ले कर ये हैदराबाद पहुँच गये और मिलने के अनिच्छुक रईस-पुत्रों को इन्हों ने अपने आग्रह के बल से जा घेरा। उन के सम्मुख मुसलमान मौलवियों को हरा कर उन की निष्ठा आर्य-धर्म में पैदा कर दी। नाहन में स्वामी केशवानन्द पहुँचे हुए थे। उन के मुक़ाबिले के लिए पण्डित जी गये और समाज की स्थापना कर के लौटे।

बूंदी में इन दिनों सनातनियों के साथ शास्त्रार्थ हो रहा था। ब्र० नित्यानन्द जी विपक्षी को चारों शाने चित किये हुए थे। उन की सहायता के लिए पण्डित जी भी चले। रास्ते ही में इन की ब्रह्मचारी जी से भेंट हो गई। उन से पता लगा कि धार्मिक युद्ध में हार कर रियासत के सनातनी अधिकारियों ने ब्रह्मचारी जी को राज्य से बाहर निकाल दिया है। इस पर ये जहाज़पुर आ गये। व्याख्यान के बीच में एक मुसलमान सिपाही को तलवार के क़ब्ज़े पर हाथ ले जाता देख कर पण्डित जी ने कहा :—पठान का है तो तलवार निकाल कर मज़ा देख। पण्डित जी के बूंदी से लौट आने पर उस पठान ने कटाक्ष किया था। पण्डित जी ने उसे हिजरत (मुहम्मद साहब के मक्के से प्रस्थान की) याद दिलाई, जिस से वह जोश में आ गया। परन्तु जैसे हम देख चुके हैं पण्डित जी की निर्भीक ललकार ने उस का जोश वहीं ठंडा कर दिया।

इस यात्रा से जलन्धर लौट कर १८ एप्रिल १८६३ के व्याख्यान में पण्डित जी ने बताया कि ऋषि के गुरु दण्डी

विरजानन्द का जन्म-स्थान जलन्धर के समीप कर्तारपुर के निकट का एक ग्राम है ।

इसी मास जब पण्डित जी की आयु ३६ वर्ष की होने लगी, पण्डित जी ने मर्री पर्वत के एक गाँव की कुमारी लक्ष्मीदेवी से विवाह कर लिया।

जोधपुर में कर्नल प्रतापसिंह द्वारा उठाई गई मांस-भक्षण की समस्या का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। इस प्रसंग में पण्डित लेखराम जी भी वहाँ गये । पण्डित भीमसेन की लड़खड़ा रही सम्मति को मांसाहार के विरुद्ध दृढ़ता प्रदान करने का श्रेय "आर्य मुसाफ़िर" की निर्भीक धमकी को दिया जाता है ।

पंजाब में वे दिन मांसाहार के झगड़े की पराकाष्ठा के थे। स्थान-स्थान पर मांसाहारी और शाकाहारी दो-दो समाज बन जाने का सूत्र-पात हो रहा था । पण्डित जी को हर जगह से बुलावा आ रहा था । उस समय इन्हों ने वास्तव में "अतिथि" अर्थात् तिथि-रहित पथिक का रूप धारण कर रखा था। ये यहाँ थे, वहाँ थे और सर्वत्र थे। इन के कारण हर जगह शाकाहार की विजय होती थी।

१८ मई १८६५ को पण्डित जी के यहाँ लड़का पैदा हुआ। उस का नाम रखा गया सुखदेव। ३७ वर्ष की आयु में पैदा हुआ पुत्र वास्तव में सुख देने वाला था। परन्तु प्रचार-कार्य में इन्हें और अधिक आनन्द आता था। लड़के को लक्ष्मीदेवी की गोद में छोड़ ये अपनी प्रचार-यात्रा पर चल दिये।

इस प्रसंग में पण्डित जी के जीवन की दो घटनाएँ विशेषतया उल्लेखनीय हैं। लाहौर कांग्रेस के अवसर पर प्रचार कर के जलन्धर लौटे तो इन के पैर में फोड़ा होने के कारण कष्ट था। इस लिए शाहाबाद समाज के निमन्त्रण के उत्तर में इन्हों ने जाने से इनकार भी कर दिया परन्तु रात बीतते ही ये उसी रुग्ण अवस्था में चल पड़ने को तय्यार हो गये। ऐसे ही शिमले की पहाड़ियों से प्रचार कर के लौटे तो जहाँ यात्रा से श्रान्त तथा ज्वरित थे वहाँ इन के कपड़े भी सब भीग कर मैले हो गये थे। परन्तु धर्मशाला समाज के उत्सव का और प्रबन्ध नहीं हो रहा था। प्रतिनिधि सभा के प्रधान ला० मुन्शीराम स्वयं प्रस्थान किया ही चाहते थे कि इन्हों ने उन से दो कुड़ते यह कह कर माँगे कि बाहर का कपड़ा तो जैसा हो सो हो, शरीर से सटने वाला वस्त्र अवश्य स्वच्छ होना चाहिये। बस! यह कह कर अपनी स्वाभाविक "मुसाफ़िरी" के पथ पर चल खड़े हुए।

१८६५ में पं० लेखराम का निवास लाहौर में हो गया था। विचार यह था कि वहाँ रह कर पण्डित जी को ऋषि-जीवन के लिखने में सुविधा होगी परन्तु उधर समाजों की निरन्तर मांग और इधर इन का अपना प्रबल प्रचार-प्रेम इन्हें टिक कर कहीं बैठने देता ही नहीं था। शास्त्रार्थ के लिए तो सभा के मना करने पर भी बलात् जाते थे। कोई हुज्जत करे तो झट कह देते—इन दिनों का वेतन काट लो। पण्डित जी का वेतन था २५) मासिक। इन के बिना कहे पहिले ३०) और फिर ३५) किया गया।

१८९६ में ये जलन्धर चले गये। यह इस लिए कि ला० मुन्शीराम की सहायता से "जीवनी" का संपादन संभवतः सुगमता से हो। परन्तु वहाँ भी वह भ्रमण का भूत लगा ही हुआ था। "मुसाफ़िर" मुसाफ़िर रह कर ही अपने उपनाम को चारितार्थ कर रहा था। अन्य लेख तो यात्रा में भी लिखे जा सकते थे परन्तु "जीवनी" के नोट साथ ले जाने में उन के गुम हो जाने का भय था।

इन अनवरत यात्राओं के दौरान में ला० मुन्शीराम के साथ पण्डित जी मलेरकोटला पधारे। लाला जी लौटने लगे तो लोगों ने चाहा-पण्डित जी भी चले जायँ। इन्हें पता लगा—यहाँ मुसलमानों का भय है। लाला जी के कहने पर भी कि चलिये, ये वहीं रहे, वहीं रहे।

जलन्धर में रहते हुए प्रिय सुखदेव का सदा के लिए वियोग हो गया। लक्ष्मीदेवी का विलाप हृदय-विदारक था परन्तु पण्डित जी इस दुःख को धैर्य-पूर्वक पी गये और शीघ्र वज़ीराबाद आर्य समाज के उत्सव में जा गर्जना की। जिन्हों ने इन्हें अपने पुत्र को गोदी में खिलाते देखा था, वे इन की वत्सलता से भी परिचित थे परन्तु जब प्रभु ने अपनी वह प्यारी अमानत लौटा ली तो ये इस आपत्ति पर भी सन्तुष्ट रहे और प्रभु के अनादि आदेश का प्रचार उसी तत्परता से करते चले गये।

प्रभु में इन की तल्लीनता तो बाल-काल से चली आती थी। सिख सिपाहों से सीखी समाधि का अभ्यास जीवन-भर रहा। नित्य कर्म में व्यवधान किसी भी कारण के उप-

स्थित होने पर असंभव था। एक बार शिकम पर जाते हुए शौच से लौट कर हाथ धोने के लिए पानी नहीं मिला तो बिना हाथ धोये वहीं शिकम पर ही प्रभु के ध्यान में निमग्न हो गये। किसी ने इसे "पेशावरी सन्ध्या" कहा तो बोले— पानी लेना कर्म है और सन्ध्या धर्म। कर्म के लिए धर्म नहीं छोड़ा जा सकता। धर्मवीर की वीरता का रहस्य यही प्रभु की अटूट भक्ति थी।

प्रभु के तो नाम पर ही ये इतने मुग्ध थे कि जलन्धर में ला० देवराज के स्थान पर एक गमले पर लिखे "ओम्" का किसी ने निरादर कर दिया। ये ज्वर की दशा में ही उस के पीछे भागे और ला० देवराज का यह अपराध क्षमा न किया कि उन्हों ने गमला नीचे क्यों रखा था ?

पं० लेखराम का विचार तो इसलामी देशों में जा कर प्रचार करने का था। ये इस कार्य में अपनी धर्म-पत्नी का भी सहयोग लेना चाहते थे। इस निमित्त अपने विवाह के दिन से ही ये उन्हें शिक्षा दे रहे थे। पर ये सब मनसूबे दिल ही दिल में रह गये। मुसलमान प्रचारक इन के लोक-प्रिय खण्डन की ताब न ला सके। उन्हों ने इन्हें इसलाम का शत्रु प्रसिद्ध करने में कोई कसर उठा न रखी थी। साधारण जनता के सम्मुख जब ये परमेश्वर की एकता का प्रतिपादन करते थे तो कट्टर से कट्टर मुसलमानों के भी सिर हिल जाते थे। परन्तु साम्प्रदायिक मुसलमानों के मतवाद की, इन के सम्मुख खैर नहीं थी। वे इन्हें बदनाम करने का कोई अवसर जाने नहीं देते थे।

क़ादियान के मीर्ज़ा गुलाम अहमद की अनेक भविष्य-वाणियों की पड़ताल कर उन्हें असत्य सिद्ध करने के जुर्म में एक भविष्य-वाणी पं० लेखराम की मृत्यु की भी उद्घोषित की गई। युक्तियों और तर्कनाओं की ताब न ला कर मीर्ज़ा साहेब ने इन के साथ "मुबाहिला" किया। इसलाम की परिभाषा में मुबाहिले का अर्थ है शापों का साम्मुख्य। "आर्य-मुसाफ़िर" के ग्रन्थ-संग्रह में मीर्ज़ा साहेब तथा पण्डित जी के वे लेख संकलित हैं जो प्रभु के सामने अपनी-अपनी प्रार्थना के रूप में दोनों ने लिख दिये थे। दोनों ने अपने मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख कर अन्त में स्वयं प्रभु से निर्णय चाहा है। मीर्ज़ा कहते हैं कि यदि वे सच्चे हैं तो लेखराम पर एक वर्ष के अंदर परमेश्वर की मार पड़े, जिस से यह सीधे रास्ते पर आये। लेखराम लिखते हैं कि उन के सच्चे धर्म का प्रकाश मीर्ज़ा के भटके हुए हृदय पर परमेश्वर के प्रेम से हो जाय। इन के पास शाप था ही नहीं, इन का मुबाहिला भी प्यार का मुबाहिला था, परमेश्वर की मार का नहीं।

लेखराम की इस प्रार्थना में लेखराम का हृदय बंद है। वे अपने वैरियों के भी वैरी नहीं हुए। असत्य का खंडन करते थे परन्तु असत्यवादी को प्रेम से सत्य के मार्ग पर लाना चाहते थे। यही संक्षेप में उन के प्रचार का आदर्श था।

मीर्ज़ा साहेब की तरफ़ से पंडित जी को एक नहीं, अनेक धमकियाँ दी गईं। आदर्श प्रचारक लेखराम का हृदय

मानव-मात्र के प्रेम से भरपूर हो रहा था। उस में ईर्ष्या द्वेष तो क्या, किसी पर संदेह तथा संशय के लिए भी स्थान नहीं था।

मार्च १८९७ के आरम्भ में एक कुरूप मुसलमान इन के पास शुद्धि के लिए आया। इन्हों ने उस का आगा-पीछा कुछ नहीं पूछा। पूर्ण विश्वास-पूर्वक अपने पास रख लिया। दिन को वह इन के पास रहता और रात को अन्यत्र कहीं चला जाता। इन्हें यह भी ज्ञात नहीं था कि वह रात को कहाँ रहता है।

६ मार्च को वह कम्बल ओढ़ कर आया और काँपने लगा। पूछने पर उस ने बताया कि उसे बुख़ार और पेट का दर्द है। पण्डित जी उसे डाक्टर के पास ले गये। डाक्टर ने कम्बल उतार कर लेप करना चाहा पर उस ने पीने की दवाई माँगी। इन्हों ने वही ले दी। एक बज़ाज़ की दूकान पर ले जा कर माता जी को दिखाने के लिए उसे कपड़े ले दिये। बज़ाज़ ने सावधान किया कि यह भयंकर आकृति का मनुष्य मृत्यु की मूर्ति प्रतीत होता है। परन्तु पण्डित जी तो आज स्वयं मृत्यु से ही प्यार करने चले थे। यम के दूत को ही कभी का घर पर निमन्त्रण दे रखा था। उसी को मानो ये सद्धर्म का पिपासु समझते रहे।

घर पर आ कर ऋषि की जीवनी लिखने बैठे। वह भी पास की एक कुर्सी पर बैठ गया। ज्यों ही थक कर इन्हों ने क़लम रखा और छाती खोल कर अँगड़ाई लेने लगे, उस अभ्यस्त हत्यारे ने वहीं छुरी निकाल कर इन के पेट में घोंप

ही और घुमा-घुमा कर एक अन्तड़ी तो काट ही डाली और आठ बड़े और अनेक छोटे घाव कर दिये। पण्डित जी ने एक हाथ से अपनी अन्तड़ियों को सँभाला और दूसरे हाथ से उस से दस्त-पंजा लिया। इसी कशमकश में सीढ़ियों तक पहुँच गये। देवी लक्ष्मी ने पहुँच कर इन्हें रसोई में धकेल दिया और वृद्धा माता जी ने घातक को जा पकड़ा। पर इतने में हत्यारे के हाथ बेलन आ गया जिस की दो चोटों से उस ने माता जी को अचेत कर नीचे फेंक दिया और अपने आप यह जा, वह जा, आन की आन में आँखों से ओझल हो गया।

इस घायल अवस्था में पण्डित जी को हस्पताल ले जाया गया। वहाँ भी इन का प्रभु पर विश्वास और अटूट धैर्य नहीं टूटा, नहीं टूटा। गायत्री तथा "विश्वानि देव" का पाठ ही करते रहे। मरते दम न माता की चिन्ता थी न प्राण-प्रिया लक्ष्मी की। चिन्ता थी तो इस बात की कि "आर्य समाज से तहरीरी काम बन्द नहीं होना चाहिए।" यह कहा और रात के दो बजे शरीर छोड़ दिया।

वीर की अर्थी के साथ सहस्रों मनुष्यों का ताँता लग रहा था। लाहौर के नर-नारी इस निर्भीक युवक के बलिदान पर अत्यन्त क्षुब्ध थे। पृथिवी पर हर जगह फूल ही फूल दीखते थे। गुलाब के पानी के कंटर पर कंटर बहा दिये गये। आर्य जाति में एक नई स्फूर्ति थी, नया आवेग था। प्रतीत यह होता था कि एक धर्म-वीर के बलिदान ने संपूर्ण जाति को नया जीवन प्रदान कर दिया है। पवित्रता

का पारावार था। उत्साह ठाठें मार रहा था। साहस की बाढ़ आ गई थी। जिधर देखो, कर्मण्यता-पूर्ण वैराग्य था।

आर्य समाज के दोनों विभाग वीर की चिता के सम्मुख एक-साथ विस्मित हुए खड़े थे। क्षण-भर के लिए उन्हों ने अपने आन्तरिक भेदों को भुला देना चाहा। जैसे हम ऊपर कह आए हैं, वहीं श्मशान ही में फिर से एक हो जाने की प्रतिज्ञाएँ भी हो गईं। परन्तु दिलों के भेद कोई भावनाओं के भेद तो थे नहीं। ये गहरे, नीतियों के, जीवन की प्रवृत्तियों के भेद थे। एक घातक की छुरी से इतने गहरे भेद कैसे मिट जाते?

लेखराम की अनुरक्ता थी लक्ष्मीदेवी। उस का इकलौता बेटा पहिले ही उस की गोदी खाली कर चुका था। तब से उस का सर्वस्व यही आर्य-वीर था जिस की हड्डियों की मुट्ठी भी श्मशान से उठा कर दरिया में डाल दी गई। अपने स्वर्गीय पति की पॉलिसी से उसे समय पा कर २०००) प्राप्त हुए सो भी उस ने छात्र-वृत्ति के रूप में गुरुकुल की गोद में भेंट कर दिये जिस से अमर शहीद का नाम विद्या-दान की गंगा के साथ-साथ अमर हो जाय। यह था सती का—लेखराम की जीवन-संगिनी का—सच्चा वैराग्य।

लेखराम के धर्म-बन्धु थे ला० मुन्शीराम, रायबहादुर ठाकुरदत्त और इन का "धर्मात्मा" दल। इन्हों ने लेखराम के नाम को उठा लिया और उस की अमर स्मृति में "लेखराम-स्मारक निधि" स्थापित की। आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रचार-विभाग की सब से पहिली उर्वरा निधि यही

थी। इस में धर्म-वीर का पवित्र रक्त था जो सैकड़ों रत्नागारों से अधिक बहुमूल्य था। धर्म की सच्ची सम्पत्ति धर्म-वीर की अन्तड़ियों का ख़ून था।

प्रतिनिधि सभा की प्रचार-कामना को इस ख़ून ने ख़ूब सफल किया। धर्म-प्रचार की वाटिका इस ख़ून के खाद से कैसे फली फूली, कैसे इस बलिदान के फल-स्वरूप उस का चौमुखा विस्तार हुआ ?—यह कहानी अग्रिम काल में कही जायगी। लेखराम-काल मुन्शीराम-काल की तय्यारी था।

मुन्शीराम-काल

१९५४—१९७४ वि०

१८९७—१९१७ ई०

अस्पृश्यता-निवारण

१८८८ में पं० गंगाराम द्वारा किये गये ज़ि० मुज़फ़्फ़र-गढ़ के ओडों के उद्धार का वर्णन हम किसी पिछले अध्याय में कर चुके हैं। लेखराम-काल पारस्परिक संघर्ष का काल था। १८९३ की माधोपुर (ज़ि० गुरुदासपुर) की रहतियों की शुद्धि के पश्चात् इस में किसी बड़े पैमाने पर कोई निर्माणात्मक कार्य नहीं किया जा सका। १८९४ के समाज के आन्तरिक विभाग को हुए जब पर्याप्त समय बीत गया और आर्य समाज की दशा फिर पूर्ववत् व्यवस्थित तथा शान्त हुई तो शिक्षा तथा समाज-सुधार के अधूरे छोड़े हुए काम फिर प्रगति को प्राप्त होने लगे। अछूतों का उद्धार आर्य समाज के अपने संगठन का एक ठोस साधन था। आर्य जाति का कोई अंग अस्पृश्य रहे—यह जहाँ समूची जाति पर कलंक था, वहाँ सुधारक संस्थाओं के लिए भी कोई श्रेय अथवा गर्व की बात न थी। पं० लेखराम के बलि-दान के साथ ही जब आर्य समाज का आन्तरिक कलह समाप्त हुआ और दोनों विभाग चाहे थोड़े से ही समय के

लिए एक हो गये, आर्य जनता का ध्यान तुरन्त अस्पृश्यता-निवारण की ओर गया।

जलन्धर नगर आर्य समाज के धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों का केन्द्र बन रहा था। स्त्री-शिक्षा को महाविद्यालय-विभाग तक पहुँचाने का श्रेय इसी नगर को था। सभासदों के लिए अपने पुत्रों तथा पुत्रियों के विवाह २४ तथा १५ वर्ष की आयु पूरी होने से पूर्व न करने का प्रस्ताव इसी समाज ने स्वीकार किया था। अस्पृश्यता-निवारण के कार्य को संघटित रूप में फिर से प्रारम्भ करने का गौरव भी इसी समाज को दिया जाना चाहिए। जैसे हम आगे चल कर देखेंगे, गुरुकुल सम्बन्धी आन्दोलन को सफल बनाने में भी इस समाज का बहुत बड़ा हाथ था। आर्य समाज के लगभग सभी कार्यों में जलन्धर के अगुआ होने का कारण, इस नगर में कुछ विशेष धर्म-प्रेमी महानुभावों की विद्यमानता थी। इन में से एक वे सज्जन हैं जो हमारे इतिहास के इस काल के नायक होंगे।

ला० मुन्शीराम और ला० देवराज जलन्धर समाज के कर्त्ता-धर्त्ता थे। जैसे हम पहिले कई बार कह चुके हैं, इन दोनों सज्जनों में धार्मिक उत्साह की पराकाष्ठा थी। दोनों प्रभावशाली वक्ता थे और प्रचार की धुन में मस्त हो-हो कर जलन्धर में तथा इस नगर के बाहर व्याख्यान आदि देने चले जाया करते थे। ज्यों-ज्यों समय बीतता है हम ला० देवराज के कार्य को अपने नगर तक ही परिमित होता पाते हैं और ला० मुन्शीराम का प्रभाव-क्षेत्र जलन्धर की परिधि

को पार कर अधिकाधिक विशालता प्राप्त करता प्रतीत होता है। १८९२ से १८६५ तक ला० मुन्शीराम प्रतिनिधि सभा के प्रधान निर्वाचित होते रहे। इन के महान् व्यक्तित्व में समाज को अब वह नेता प्राप्त हो रहा था जिस के नाम से पं० लेखराम के पश्चात् का काल ही मुन्शीराम-काल बन गया। मुन्शीराम एक व्यापक प्रभाव के पुरुष थे। ये जहाँ सफल प्रबन्धक थे, वहाँ एक प्रभाव-शाली प्रचारक भी। ये पहिले सज्जन हैं जिन्हों ने सभा की प्रधानता को मानो अपना धंधा-सा बना लिया।

मुन्शीराम जलन्धर आर्य समाज के प्राण थे। प्रत्येक आन्दोलन में उन का स्थान मुख्य था। यद्यपि अपने सहयोगियों को हमेशा पीछे छोड़ जाने की उन की प्रवृत्ति जलन्धर समाज की कार्यवाही-पत्रिका में भी उन के त्याग-पत्रों की बार-बार दोहराई गई पुनरावृत्ति के रूप में अंकित है, तो भी जलन्धर समाज का कोई श्रेयस्कर कार्य ऐसा नहीं जिस के अगुआ ला० मुन्शीराम न हों। सहकारियों से उन की बन नहीं पाती। वे रूठते हैं और अपने लिए कोई अधिक विस्तृत क्षेत्र ढूँढते हैं। रोष-वश इन की सभासदी तक का परिवर्तन जलन्धर से रोपड़ और रोपड़ से फिर जलन्धर की ओर हो रहा है। ला० मुन्शीराम जलन्धर के हैं भी और नहीं भी। उन की प्रकृति में विस्तार है। स्थानीय समाज के प्रधान का आसन ला० रामकृष्ण ने स्थिर रूप से सँभाल लिया है। यह शायद आगे चल कर प्रतिनिधि सभा के स्थायी प्रधान बन जाने की तय्यारी थी।

ला० मुन्शीराम जिन दिनों अभी जलन्धर समाज के ही अगुआ थे, उन्हों ने आर्य समाज की ३ मार्च १८६६ की अन्तरंग सभा में ला० बदरीदास के अनुमोदन से रहतियों की शुद्धि का प्रस्ताव उपस्थित किया। रहतिये मन्तव्य की दृष्टि से सिख थे और कपड़े बुनने का काम करते थे। हिन्दू तो हिन्दू, स्वयं सिख ही उन से अस्पृश्यता का व्यवहार करते थे। समाज की अन्तरंग सभा ने यह विषय प्रतिनिधि सभा में भेज दिया। इस के पश्चात् २२ अगस्त की समाज ही की अन्तरंग सभा में यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया। परन्तु ६ अक्तूबर की जनरल सभा ने रहतियों को आर्य सभासद बनाने तथा उन के साथ खुला खान-पान करने में असमर्थता प्रकट की, केवल फ़र्श पर बैठने, कुओं से पानी भरने तथा उत्सव में सम्मिलित होने की ही स्वतन्त्रता दी। २३ एप्रिल १६०० को लगभग १०० रहतियों की शुद्धि का प्रस्ताव हुआ परन्तु बहु-पक्ष ने इसे गिरा दिया। यहाँ से निराश हो कर ला० मुन्शीराम चालीस एक रहतियों को लाहौर ले गये। वहाँ के आर्य सामाजिक सामान्यतः लाहौर से बाहर के होते हैं। उन पर कोई बिरादरी का बन्धन नहीं होता। उन्हों ने शुद्धि का प्रबन्ध करना स्वीकार कर लिया। सिख भाइयों को अवसर दिया गया कि वे चाहें तो रहतियों को अपने साथ मिला लें परन्तु वे इस में असमर्थ थे। अन्त को ३ जून १६०० को क्षौर करा कर रहतियों का वह समूह का समूह आर्य बना लिया गया। लाहौर समाज में वह दृश्य देखने के योग्य था। इसी वर्ष

लायलपुर और रोपड़ में भी रहतियों की शुद्धि हुई। शुद्ध हुए भाइयों की संपूर्ण संख्या ३०० बताई गई है। रोपड़ में इस शुद्धि के फल-स्वरूप आर्य भाइयों को बहुत कष्ट झेलने पड़े। इन का वर्णन आगे चल कर पं० गोपीनाथ के अभियोग के प्रकरण में आयगा। बिरादरी से बहिष्कार, और तो और, शहर के कुओं से पानी तक न मिल सकना और इस कष्ट के मारे ला० सोमनाथ की माता का प्राण तक दे देना ऐसी घटनाएँ हैं जिन्हें सुन कर अब भी रोमांच हो आता है। १६०२-३ की आर्य्य प्रतिनिधि सभा की रिपोर्ट में जलन्धर समाज द्वारा ज्वालासिंह रहतिये तथा इसी समाज के प्रबन्ध से नवाँशहर तथा कपूरथला में अनेक रहतियों की शुद्धि का समाचार दिया गया है। उसी वर्ष लुधियाना समाज के उत्सव में भी यह पुण्य कार्य बड़ी चहल-पहल से किया गया। लुधियाना ज़िला के अन्तर्गत बस्सी नाम के गाँव में १८ रहतिये शुद्ध किये गये। म० नत्थासिंह स्वयं एक शुद्ध हुए रहतिये थे। वे इस आन्दोलन के नेताओं में हो गये।

ओड जाति जिस की शुद्धि का आरम्भ १८८८ में हुआ था, अब अधिक संख्या में आर्य समाज में प्रविष्ट होने लगी। मैलसी समाज में १००, शुजाबाद समाज में ८०० और मुज़फ़्फ़रगढ़ तथा मुलतान समाज में असंख्य ओडों की शुद्धि हुई।

१८६६ में डा० चिरंजीव भारद्वाज बड़ौदा राज्य में प्लैग ऑफ़िसर नियत हुए। उन के प्रयत्न से कुछ ढेढ कुल

जो अछूत समझे जाते थे, आर्य जाति में प्रविष्ट किये गये। उन की शिक्षा का प्रबन्ध डाक्टर जी ने स्वयं किया। इस जाति के युवकों को कुछ उपयोगी दस्तकारियों की शिक्षा दे कर अपनी आजीविका कमाने के योग्य बना दिया गया। इन कुलों की कतिपय महिलाएँ पढ़-लिख कर इस योग्य हो गईं कि उन का विवाह उच्च कुल के पुरुषों से हो गया और वे आर्य गृहिणियाँ बन गईं। एक देवी जलन्धर के कन्या-आश्रम की सहायक अध्यक्षा जा बनी।

१६०६ में मुज़फ़्फ़रगढ़ ज़िले में काम कर रहे पं० गंगाराम ने जो १८८८ में ओडों की शुद्धि द्वारा अस्पृश्यता-निवारण के संपूर्ण सामूहिक काम के ही जन्म-दाता थे, उस इलाक़े में रहने वाले माहतम लोगों के उद्धार का बीड़ा उठाया। मोचीवाली नामक ग्राम में एक पाठशाला की स्थापना की गई जिस का नाम आगे चल कर "आर्य मुसाफ़िर दलितोद्धार पाठशाला" रखा गया।

१९११ में खैरपुर नाथनशाह (सिन्ध प्रान्त) में वसिष्ठों की शुद्धि हुई। इस पर आर्यों का बहिष्कार हो गया। एक शुद्ध हुए वसिष्ठ का यज्ञोपवीत उतार कर उस के शरीर पर जल-रहे लोहे द्वारा यज्ञोपवीत का चिह्न कर दिया गया। इस आपत्ति के अवसर पर म०कृष्ण ने "प्रकाश" में .खूब आन्दोलन किया। इस का सभा की रिपोर्ट में धन्यवाद किया गया है। पं०भक्तराम ने मीरपुर के इलाक़े में रह कर ४१ गाँवों को शुद्ध किया। शुद्ध हुए भाइयों की संख्या लगभग १०,००० थी।

गुरुदासपुर के ज़िले में की गई डूमनों की शुद्धि

का सेहरा पं० रामभजदत्त चौधरी बी० ए०, एल० एल० बी० के सिर बँधना चाहिए। शुद्धि का कार्य तो इस इलाक़े में इस से पूर्व भी हो रहा था। जैसे हम पीछे कह चुके हैं, इस इलाक़े में सब से पहिला शुद्धि-संस्कार रहतियों की बस्ती माधोपुर में १८६३-६४ में हुआ था। इस में लाहौर से बा० तेजासिंह तथा बा० कालीप्रसन्न चैटर्जी सम्मिलित हुए थे। परन्तु इस ज़िले की अस्पृश्य जातियों में सब से अधिक संख्या डूमनों की थी। इन में प्रचार करने के लिए म० रौनकराम को लगाया गया। वे गुरुमुखी सत्यार्थप्रकाश के अध्ययन से आर्य सामाजिक बन गये थे। दीनानगर समाज से निर्वाहार्थ ३) मासिक ले कर वे प्रचार के कार्य में लग गये। बड़े-बड़े मौलवी और पांधे इन की युक्तियों से निरुत्तर हो जाते थे। आगे जा कर म० गोकुलराम के सहयोग से इन्हों ने डूमनों को आर्य विचारों का बना लेने में सफलता प्राप्त कर ली। २८-२६ जुलाई १६१२ को दीना-नगर समाज में उन की शुद्धि हुई। पं० रामभजदत्त इस जिले ही के थे। इन्हें इस कार्य में इतनी रुचि हुई कि सौ कार्य छोड़ कर भी ये डूमनों की सहायता के लिए पहुँचते थे। डूमने पण्डित जी को अपना गुरु मानते थे और ये बीमारी तक की अवस्था में भी उन का साथ नहीं छोड़ते थे। १६२३ में पंडित जी ने रोगी रहते हुए भी अपने इस "महाशय" परिवार का दौरा किया। उस समय उन पर मुसलमानों की ओर से अत्याचार हो रहे थे। चिकित्सकों के निषेध की पर्वाह न कर पण्डित जी ने नरोट जैलमसिंह और खतलौट में वक्तृताएँ दीं।
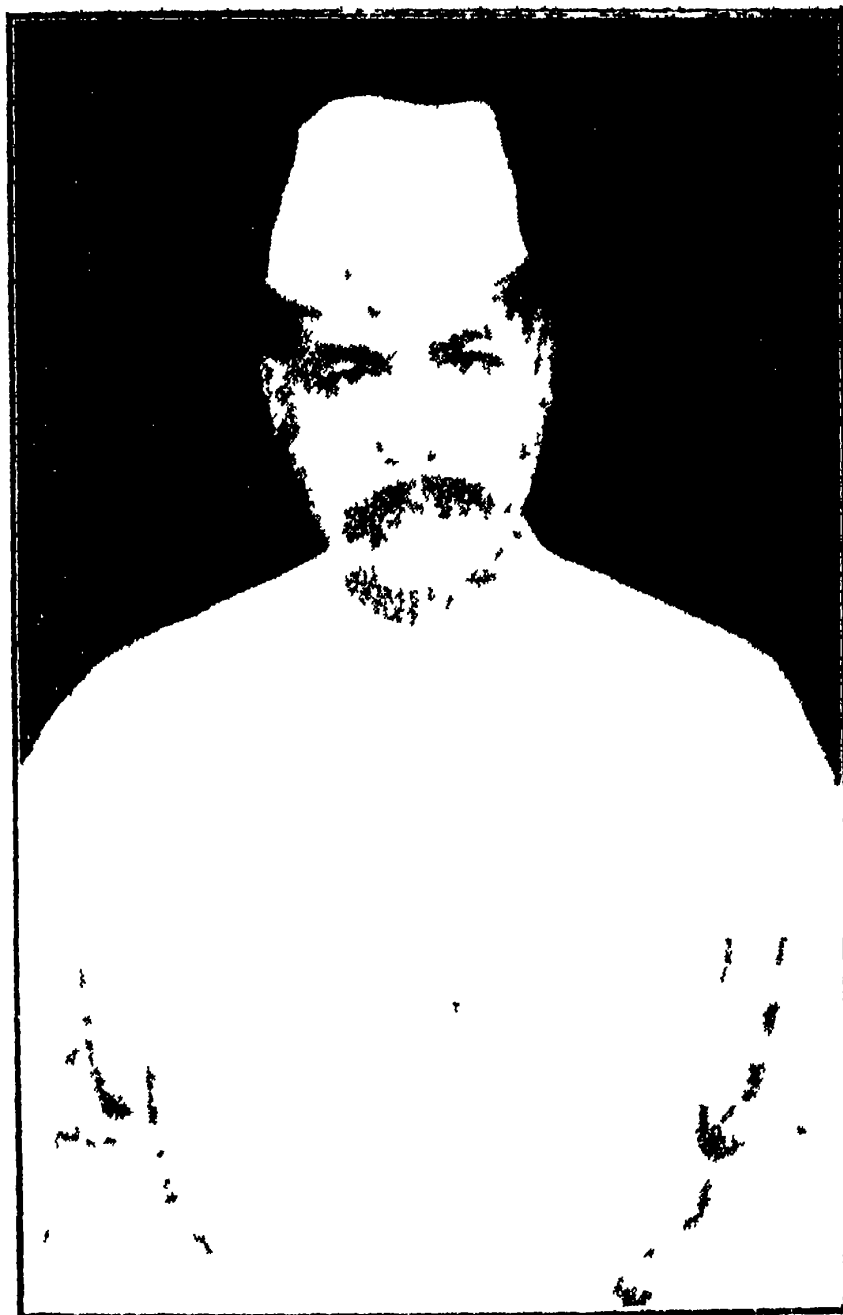
पं० रामभजदत्त

रोग बढ़ गया और अन्त को पण्डित जी का इसी बीमारी में देहान्त हो गया। "महाशय क़ौमी सुधार सभा" के प्रधान के लेखानुसार इन के प्रयत्न से एक लाख के लगभग डूमने शुद्ध हो गये। इस समय उन्हें महाशय कहा जाता है।

इस प्रकार एक ओर बड़ोदा, दूसरी ओर जलन्धर और लुधियाना, तीसरी ओर मुलतान और मुज़फ़्फ़रगढ़ और चौथी ओर गुरुदासपुर—इन दूरस्थ स्थानों में एक-साथ अस्पृश्यता-निवारण की बाढ़-सी आ रही थी। १८८८ का ओड जाति का और १८६३ में रहतियों का उद्धार प्रान्त के दो कोणों में आरंभ हुआ और वहीं रह गया। आर्य समाज अपने आन्तरिक कलह की ही आग में झुलसा जा रहा था। उसे कोई नया निर्माणात्मक कार्य करने का अवकाश ही कहाँ था? मुन्शीराम-काल अपने साथ नया उत्साह, नई लगन, तथा नई उमंग लाया। दलितोद्धार इस नये उदीयमान सूर्य की एक नई सुहावनी किरण थी। यह किरण इन चार स्थानों में ही अपनी ज्योति का प्रसार कर शान्त न हुई। उस ने अपना प्रकाश उस चौथी दिशा में एक और स्थल को भी प्रदान किया। वह स्थल सियालकोट था।

रहतियों, ओडों, माहतमों, ढेढों तथा डूमनों की शुद्धि का कार्य तो स्थानीय समाजों ने ही कर लिया। परन्तु मेघों के उद्धार ने एक व्यापक तथा स्थायी आन्दोलन का रूप धारण कर एक पृथक् विशाल संस्था को जन्म दिया। मेघ नाम की अस्पृश्य जाति सियालकोट, गुरुदासपुर तथा गुजरात के ज़िलों और काश्मीर तथा जम्मूँ

की रियासत में रहती थी। १६११ की जन-गणना में इस जाति की संख्या ११५४२६ और १६२१ की जन-गणना में लगभग तीन लाख बताई गई हैं। हिन्दू न उस जाति के हाथ का खाते-पीते थे, न उसे अपने मन्दिरों में आने और न अपनी दरियों पर बैठने ही देते थे। वे हिन्दुओं के कुओं से पानी लेना चाहें तो उन्हें किसी दयालु द्विज की कृपा की प्रतीक्षा करनी होती थी। कोई दयालु द्विज पानी भर कर उन के पात्र में डाल दे तो डाल दे। एक मेघ का बर्तन हिन्दुओं के कुएँ में नहीं जा सकता था। उन के सिर पर चोटी थी, वे गो-ब्राह्मण की पूजा करते थे, तीर्थों को जाते और अपने शव जलाते थे। उन के गोत्र भी वही थे जो अन्य हिन्दुओं के। वे जुलाहे का धंधा करते थे जिस में अपवित्रता का लेश भी नहीं था। फिर भी वे थे अस्पृश्य।

मेघों की अस्पृश्यता के कारण का अनुमान कई प्रकार से किया गया है। १६०१ की जन-संख्या के वृत्तान्त में लिखा है कि मेघ सांसियों, चूढ़ों, चमारों—अर्थात् अन्य अस्पृश्य जातियों—के संस्कारों में ब्राह्मण का कार्य करते हैं। सम्भव है, अस्पृश्यों के पुरोहित होने के कारण वे स्वयं भी आगे चल कर अस्पृश्य समझे गये हों। एक और अनुमान यह किया गया है कि जुलाहे का धंधा करते हुए वे स्वभावतः कबीर-पन्थी हो गये और क्योंकि कबीर मुसलमान समझे जाते थे, सम्भव है हिन्दुओं ने उन के अनुयायियों को भी अपने से पृथक् कर दिया हो। मेघों के

बहिष्कार का तीसरा अनुमानिक कारण राजनैतिक है। कहा जाता है कि अलीकुलीखाँ काश्मीर-नरेश भारद्वाज का शत्रु था। उस ने एक मेघ पण्डित को जो राजा का ज्योतिषी था, राज-द्रोह करने की प्रेरणा की। मेघ नहीं माना। उस ने तो लड़ाई का मुहूर्त शुभ बताया, परन्तु फिर भी राजा पराजित हुआ। अब शासन की बाग-डोर अली-कुलीखाँ के हाथ में आ गई और उस की आज्ञा से ज्योतिषी की सम्पूर्ण जाति को राज-भक्ति के फल-स्वरूप इस प्रकार पतित कर दिया गया।

अस्पृश्यता का कारण कुछ हो, एक जाति की जाति शताब्दियों से धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक—सभी प्रकार के अधिकारों से वंचित चली आती थी। और तो और, मेघ हिन्दुओं के घरों की सेवा भी नहीं कर सकते थे। उन के स्पर्श-मात्र में अपवित्रता समझी जाती थी।

जैसे जलन्धर आर्य समाज के प्राण ला० मुन्शीराम थे, वैसे ही सियालकोट समाज की जान ला० गंगाराम बी० ए०, एल० एल० बी० थे। काम ये भी वकालत का करते थे। १९०३ के आरम्भ में सियालकोट समाज के संचालकों ने मेघों की शुद्धि का संकल्प पक्का कर लिया। समाज के उपप्रधान ला० .खुशहालचन्द इस आन्दोलन के अग्रणी थे। १४ मार्च १९०३ की अन्तरंग सभा में यह निश्चय हो गया कि २८ मार्च को वार्षिक उत्सव के समय शुद्धि का कार्य आरम्भ हो जाना चाहिए। ला० .खुशहालचन्द ने कह दिया:—यदि मैं उस दिन चल न सकूँ तो मेरी चारपाई को ही संस्कार में ले

चलना। विरोध बहुत था। हिन्दू तो हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई इस कार्य में इस लिए बाधक हो रहे थे कि आगे के लिए कहीं उन की प्रचार तथा जन-वृद्धि की फ़सल ही न मारी जाय। २८ मार्च को शुद्धि हुई परन्तु उस में केवल २०० मेघ ही शामिल हो पाये।

यह शुद्धि क्या हुई? अत्याचार को मानो निमन्त्रण-सा दे दिया गया। राजपूत लोग इस संस्कार के कट्टर विरोधी थे। उन्हों ने शुद्ध हुए मेघों को लाठियों से मारा। पोलीस ने अभियोग चलाने से इनकार कर दिया। मेघों पर झूठ मुक़द्दमे चलाए गये। निचले न्यायालय से उन्हें दण्ड भी मिल गया। परन्तु आगे जा कर न केवल मेघ छूट ही गये किन्तु उलटी राजपूतों को सज़ाएँ मिलीं। राजपूतों के विरोध का कारण उन के अपने कथनानुसार यह था कि जहाँ पहले मेघ उन्हें "ग़रीब-नवाज़" बुलाते थे, अब केवल "नमस्ते" कह कर मानो सामाजिक समानता के व्यवहार की माँग करते प्रतीत होते थे।

जम्मूँ निवासी रामदास से सौ रुपये का मुचलका इस लिए लिया गया कि वह ५०० मेघों को सियालकोट आर्य समाज में ले गया था।

अलोचक ग्राम के मेघों को मुसलमान ज़िमीदारों ने अपनी ज़मीन में कुआँ खोदने से रोक दिया। वे किसी क़ीमत पर भी यह आज्ञा देने को तय्यार न थे। मेघ बेचारे जो शुद्ध हो कर "आर्य भक्त" बन चुके थे, उस गाँव को छोड़ कर एक और गाँव में जा बसे।

मुअज़्ज़म आबाद का नत्थू नाम का मेघ गेहूँ की फ़सल काट रहा था। उसे प्यास लगी। आस-पास सब मुसलमान थे। वे उसे बिना छुए पानी नहीं पीने देते थे। अन्त को उस ने एक कुएँ में छलाँग लगा दी और इस प्रकार अपनी जान जोखिम में डाल कर अपनी आत्मा को अछूता रखा और शरीर की प्यास बुझाई। हिन्दुओं का पानी उसे किसी और तरह प्राप्त ही न हो सका।

इन सब मेघों का अपराध यही था कि ये शुद्ध हो गये थे। आर्य समाजियों ने जहाँ इन के साथ खाने-पीने तथा संस्कारों और पर्वों के अवसर पर मिलने जुलने का बन्धन उड़ा दिया, वहाँ इन का नाम भी मेघ के स्थान में "आर्य भक्त" रख दिया।

केवल संस्कार तक ही परिमित न रह कर इन की आर्थिक सहायता के लिए दस्तकारी स्कूल भी खोल दिया गया।

शनैः-शनैः मेघोद्धार का काम इतना फैल गया कि १९१२ में इस के लिए एक पृथक् सभा की स्थापना की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस सभा का नाम "आर्य मेघोद्धार सभा" रखा गया। इस की रचना इस प्रकार की गई कि चाहे इस में प्रधानता सियालकोट समाज ही की रही, तो भी अन्य समाजों के प्रतिनिधि भी इस में सम्मिलित कर लिये गये। रजिष्टरी हो जाने से इस सभा को एक अलग स्थिर सत्ता प्राप्त हो गई।

आर्य दस्तकारी स्कूल का नाम आगे जा कर ख़ुशहाल-

चन्द आर्य दस्तकारी स्कूल रखा गया। उस में मेघों के अतिरिक्त अन्य हिन्दू लड़के भी शिक्षा पाने लगे। समय पा कर वह एक हाई स्कूल बन गया। उस के साथ एक आश्रम भी खोल दिया गया। आश्रम में रहने वाले छात्रों को आटा अपने घरों से लाना होता था। उन की शेष सब आवश्यकताएँ समाज पूरी करता था। निर्धन लड़कों को आटा भी समाज देता था। मानसिक और धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त उन्हें बढ़ई और दर्ज़ी का काम भी सिखाया जाता था। इस स्कूल के सिवाय सात और ग्रामीण स्कूल भी खोले गये। उन में प्राइमरी कक्षा तक की शिक्षा दी जाती थी।

१९०७ में समाज के प्रधान ला० देवीदयाल के भाई ला० कृपाराम का देहान्त हो गया। ये सज्जन २०००) मेघ लड़कों को गुरुकुल काँगड़ी में शिक्षा दिलाने के लिए छोड़ गये। गुजराँवाला गुरुकुल ने दो मेघ विद्यार्थी निःशुल्क भर्ती किये। कुछेक विद्यार्थियों को अन्य स्कूलों में रियायत पर प्रविष्ट कराया गया। इस प्रकार उन बालकों की अस्पृश्यता भी क्रियात्मक रूप से हट गई और उन की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति का प्रबन्ध भी हो गया।

मेघों के रहन-सहन में सुधार करने के लिए चौधरी-सभाओं की स्थापना हुई। इन सभाओं के मुख्य चौधरियों की एक "मुख्य सभा" बना दी गई जो मेघों के अभियोगों का निर्णय करती थी। स्वयं मेघों को ही अपने १५ प्रतिनिधि मेघोद्धार सभा में भेजने का अधिकार दिया गया।

रहन-सहन के सुधार का पक्का प्रबन्ध "आर्य-नगर" की स्थापना स हुआ। बारी दोआब नहर द्वारा सिक्त-भूमि में से ३०,००० एकड़ स्वयं गवर्न्मैंट ने अछूत जातियों के लिए सुरक्षित कर दिये थे।

इस ज़मीन में से ५,५०० एकड़ भूमि १९१७ में ईसाई सोसाइटियों को दे दी गई। २,००० एकड़ के अस्सी मुरब्बे मुक्ति फ़ौज को मिले। इन मुरब्बों पर उस ने शान्ति-नगर नाम की बस्ती बसा ली। इन संस्थाओं की देखा-देखी आर्य मेघोद्धार सभा ने भी सरकार से प्रार्थना की और उसे ८० मुरब्बे मिलने स्वीकार हो गये परन्तु अन्त में मिले ५२।

यह भूमि खानेवाल स्टेशन के पास है। इस पर "आर्य-नगर" बसाने की आयोजना हुई। पहिले तो "आर्य-भक्त" अपने घरों से इतनी दूर जाने को ही तय्यार नहीं होते थे। परन्तु धीरे-धीरे उन्हें वहाँ बसाया गया। उन की मानसिक तथा धार्मिक उन्नति के लिए समाज, पाठशाला, कन्या-पाठशाला आदि संस्थाएँ स्थापित की गईं। एक चिकित्सालय खोल दिया गया। वृक्ष बोए गये। वाटिकाएँ लगाई गईं। बीच के बनियों के मुनाफ़े की बचत के लिए सहयोगी भाण्डार (Co operative Stores) खोले गये और संयुक्त बिक्री का प्रबन्ध किया गया। खाद आदि पर निरीक्षण रखने का प्रबन्ध किया गया। इस से आर्य-भक्तों के जीवन का मानसिक, सामाजिक, शारीरिक तथा आर्थिक—सभी दृष्टियों से, आश्चर्य-जनक विकास हुआ।

जिस ने भी आर्य-नगर का अवलोकन किया उसे एक आदर्श उद्धारक बस्ती पाया।

इस समय सियालकोट के मेघों के रास्ते में सामाजिक कठिनाइयाँ नहीं रही हैं। कई युवक उच्च शिक्षा प्राप्त कर उच्च जातियों के युवकों के साथ खुली प्रतिस्पर्धा में शामिल हो चुके हैं। मेघों के अतिरिक्त डूमनों और बटवालों की भी शुद्धि हुई है। इस उद्योग के परिणाम-स्वरूप एक जाति की जाति अपने में एक विचित्र परिवर्तन पाती है। पिछले तीस साल में इस जाति की काया-पलट-सी हो गई है। इस सुधार का सामान्य श्रेय आर्य समाज को है और विशेष ला० गंगाराम को जिन्हों ने अपना जीवन मेघों के जीवन के साथ एकीभूत कर लिया। लाला जी पहिले तो सियाल-कोट समाज के और फिर आर्य मेघोद्धार सभा के मन्त्री-पद को सुशोभित करते रहे। इस हैसियत से उन्हों ने अस्पृश्यता-निवारण में वह काम किया कि अब तक उन का नाम मेघोद्धार का पर्याय-सा समझा जाता है। मेघ चौधरियों की मुख्य सभा के पहिले प्रधान आप ही बने। जैसे मुज़फ़्फ़रगढ़ को पं० गंगाराम का मुज़फ़्फ़रगढ़ और जलन्धर को ला० मुन्शीराम का जलन्धर कहना चाहिए, वैसे ही सियालकोट, आर्य समाज की दृष्टि में ला० गंगाराम का सियालकोट है। लाला जी के पुरुषार्थ से लाखों अछूत आज आर्य जाति के अछूते लाल-से बन रहे हैं। असंख्य "शुद्ध" हुई आत्माएँ आध्यात्मिक, मान-सिक तथा आर्थिक उन्नति के राज-मार्ग पर पड़ कर उन्हें

तथा उन के सहयोगियों को निरन्तर आशीर्वाद की अंजलि दे रही हैं। अस्पृश्यता-निवारण अन्य नेताओं द्वारा किये गये कार्य का एक अंश है परन्तु ला० गंगाराम का यह एक मात्र जीवन-कार्य है। इस लिए उस की सफलता भी अधिक विशाल है।

पं० गोपीनाथ

शास्त्रार्थ और अभियोग

इस से पूर्व हम पं० दीनदयालु तथा स्वा० केशवानन्द की "धर्म-यात्राओं" का वर्णन कर चुके हैं। आर्य समाज के सिद्धान्तों को सर्वत्र विजयी होता देख सनातन धर्म की ओर से इस विजय के प्रतिकार के प्रयत्न लगातार हो रहे थे। जलन्धर में शास्त्रार्थ के लिए पं० दीनदयालु द्वारा दिया गया चैलेंज ला० मुन्शीराम ने स्वीकार कर लिया था परन्तु पण्डित जी समय होने से पूर्व ही वहाँ से चल दिये। अब पं० गोपीनाथ सनातन-धर्मी जगत् में विशेष ख्याति लाभ कर रहे थे। ये "अख़बार-इ-आम" के संचालक तथा "सनातन धर्म गज़ट" के संपादक थे। आर्य विद्वानों को ये शास्त्रार्थ की चुनौतियाँ दे रहे थे। लाला जी ने इन की चुनौती स्वीकार कर ली और इन से दो शास्त्रार्थ लाहौर में तथा एक जलन्धर में किया। इन शास्त्रार्थों में लाला जी का स्वाध्याय .खूब काम आया। इन्हों ने आर्य जगत् पर

अपनी विद्वत्ता का सिक्का बैठा दिया। प्रमाणों और युक्तियों पर .खूब वाह-वाह हुई। लाहौर के शास्त्रार्थों के विषय "मूर्ति पूजा तथा वेद" और जलन्धर का "वर्ण-व्यवस्था" था। इन से लाला जी का यश सारे प्रान्त में फैल गया। जनता ने जान लिया कि ये केवल प्रबन्धक तथा वक्ता ही नहीं, वाद-विवाद के मैदान में भी समाज की लाज इन के हाथ में .खूब सुरक्षित है।

गोपीनाथ पण्डित केवल जन्म के थे। वास्तव में वे एक चलते-पुर्ज़े सम्पादक थे। वे चटकीली भाषा द्वारा पाठकों को रिझाना .खूब जानते थे। "आम" तो था ही आम अख़बार। उस की नीति साधारण जनों को प्रसन्न करने की थी। कहीं मुसलमान ग्राहक पत्र को क्रय करना बंद न कर दें, उन की .खुशामद के लिए यह पत्र हिन्दुओं का विरोध भी कर जाता था। "सनातन-धर्म गज़ट" विशुद्ध सनातनी पत्र था। उस की नीति एक ही थी—आर्य समाज को गाली देना।

१८९९ तथा १९०० की होलियों में "सनातन-धर्म गज़ट" में होली के चुटकले प्रकाशित हुए। वे चुटकले क्या थे? उन में अत्यन्त असभ्य भाषा में आर्य समाज पर उत्तेजना जनक मज़ाक़ उड़ाया गया था। उन के आधार पर सरकार ने पं० गोपीनाथ पर अभियोग चला कर उन्हें दण्ड दिया।

इस के पश्चात् रहतियों की शुद्धि के सिलसिले में रोपड़ आर्य समाज के सभासदों को बिरादरी से बहिष्कृत किया

गया। हिन्दुओं ने सामाजिकों से सब प्रकार का संबन्ध-विच्छेद कर दिया। यहाँ तक कि उन्हें कुएँ का पानी तक मिलना बंद हो गया। "आर्य पत्रिका" द्वारा प्रकाशित समाचारों के अनुसार समाज के प्रधान सोमनाथ की वृद्धा माता को इस संकट में अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। वृद्धा रुग्ण थी। नहर का पानी उसे अनुकूल नहीं था। चिकित्सक ने कह दिया कि यदि उसे कुएँ का पानी न दिया गया तो बुढ़िया का देहान्त हो जायगा। मातृ-भक्ति से विवश सोमनाथ सनातन-धर्मियों से समझौता करने को तय्यार हो गया। परन्तु जब मरणासन्न माता के सम्मुख मामला गया तो उस ने साफ़ कह दिया कि मुझे तो आज भी मर जाना है, कल भी। इस नश्वर शरीर के लिए पुत्र का धर्म क्यों भ्रष्ट करूँ? माता ने प्राण दे दिये परन्तु पुत्र का प्रण भंग नहीं होने दिया। ऐसी ही व्यथा अन्य आर्यों पर भी थी। "जैन धर्म श्रावक" में जैनियों की ओर से और "सनातन-धर्म गज़ट" में सनातनियों की ओर से इन "आर्य चमारों" के बहिष्कार के समाचार छपे। अब आर्यों के पास सिवाय सरकार का द्वार खटखटाने के और कोई उपाय ही नहीं था। अभियुक्तों में "सनातन-धर्म गज़ट" के एडिटर पं० गोपीनाथ भी थे। पं० गोपीनाथ के हृदय में यह विचार पक्का हो चुका था कि इन दोनों अभियोगों की तह में ला० मुन्शीराम का हाथ अवश्य है। वे इन के विरुद्ध मौक़े की ताक में रहने लगे।

"सद्धर्म प्रचारक" ला० मुन्शीराम का वैयक्तिक पत्र था।

परन्तु अब तो स्वयं ला० मुन्शीराम ही आर्य समाज के बन चुके थे। प्रतिनिधि सभा के प्रधान की हैसियत से उन का घर ही सभा के प्रचार-कार्य का केन्द्र-सा बन गया। समाज के लिए न उन्हें अपना धन व्यय कर देने में संकोच था और न तन या मन की ही कोई शक्ति अर्पण कर देने में झिझक थी। "प्रचारक" उन का वैयक्तिक पत्र होते हुए भी समाज का था। उस में जो कुछ छपता था, समाज ही के हित तथा वैदिक धर्म के ही प्रचार के लिए। मुन्शीराम वास्तव में समाज के अर्पण हो चुके थे। ऐसे ही उन का पत्र।

१९०१ की होलियों में "अखबार-इ-आम" में ऋषि दयानन्द और आर्य समाज के संबंध में अश्लील लेख निकले। "सद्धर्म प्रचारक" में इन लेखों तथा इन के लेखक पं० गोपीनाथ की कड़ी समालोचना की गई। इस पर पं० गोपीनाथ ने अभियोग चला दिया। अभियोग का आरंभ एप्रिल १९०१ में हुआ और निर्णय सितम्बर १९०१ के आरंभ में।

पं० गोपीनाथ उन दिनों सनातन-धर्म सभा के मुख्य पुरुषों में से थे। इस से अभियोग की स्थिति दोनों ओर से वैयक्तिक न रह कर सामाजिक हो गई।

लाहौर के टाउनहाल में मि० कैलवर्ट सिटि मैजिस्ट्रेट की अदालत में तीन-तीन हज़ार की भीड़ लग जाती थी। पं० गोपीनाथ की ओर से मि० पैटमैन आदि कौंसल थे और ला० मुन्शीराम की ओर से रायज़ादा भगतराम, ला० रौशनलाल, ला० रामकृष्ण और चौ० रामभजदत्त।

अभियोग के श्रवण के दिनों में पं० गोपीनाथ जी पर जो प्रश्नोत्तर हुए तथा उन के जो पत्र पेश किये गये, उन से जनता में एक विचित्र सनसनी फैल गई।

२ सितम्बर १९०१ को निर्णय सुना दिया गया। मैजिस्ट्रेट ने सिद्ध किया कि गोपीनाथ का पिता एक साहसी पुरुष था जिस ने हिन्दू-शास्त्र के विधानों को तोड़ कर विवाह किया। उस विवाह की सन्तान होने के कारण गोपीनाथ एक अवैध पुत्र है। उस का अपना वैयक्तिक आचार इस जन्म के अनुरूप है। वह गोमांस खाता तथा व्यभिचार करता रहा है। उस की मुसलमानों से गुप्त मित्रता है। इन मित्रों के घर का भोजन भी वह खा लेता रहा है। उस के सार्वजनिक व्यवहार में झूट तथा दंभ की मात्रा बहुत अधिक है। वह मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए अपने लेखों में गोवध की पुष्टि करता रहा है। अख़बार का सम्पादक अथवा संचालक वह स्वयं है परन्तु उस से इस प्रकार के अपने सम्बन्ध से वह इनकार करता है। एक सार्वजनिक पुरुष के आचार-व्यवहार का भण्डा-फोड़ कर ला० मुन्शीराम ने न केवल आर्य समाज किन्तु सम्पूर्ण आर्य जाति की सेवा की है।

अभियोग ला० बस्तीराम तथा ला० वज़ीरचन्द के विरुद्ध भी था। ला० बस्तीराम को तो आरम्भ में ही निरपराध निश्चित कर दिया गया था। शेष आरोपितों को अब मुक्त कर दिया गया। रोपड़ के अभियोग में जैनियों तथा सनातनियों ने क्षमा माँग ली।

इस विजय से आर्य समाज को बड़ा लाभ पहुंचा। पं० गोपीनाथ को तो फिर शहर में खुले मुँह फिरना ही मुश्किल हो गया। और आर्यसमाज पर ख्वाह-मख्वाह के आक्षेप कर देने की कुत्सित प्रवृत्ति को प्रबल धक्का मिला।

लोगों ने सलाह दी कि लाला जी पं० गोपीनाथ पर जवाबी अभियोग चलाएँ परन्तु उन्हों ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। क्षमाशील दयानन्द का क्षमाशील शिष्य अपने शत्रु को भी दण्ड देने के लिये तय्यार न हुआ। भक्त मुन्शीराम ने प्रभु से प्रार्थना की कि पं० गोपीनाथ के हृदय में सद्धर्म का उजाला करे।

ला० मुन्शीराम की यह क्षमा उन्हें धीरे-धीरे "महात्मा" पद का अधिकारी बना रही थी।

गुरुकुल काङ्गड़ी

महात्मा मुंशीराम जी के साथ अनेक आन्दोलनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनका कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत था। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक–सभी क्षेत्रों में उन्होंने अनेक नवीन आन्दोलनों का प्रारंभ किया है पर गुरुकुल उनकी सबसे महत्त्व-पूर्ण कृति है। अपने जीवन का बडा भाग उन्हों-ने गुरुकुल की स्थापना तथा संचालन में व्यतीत किया। समाज तथा शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल एक नई क्रान्ति लाया। इस के द्वारा देश-विदेश में समाज की प्रसिद्धि हुई। गुरुकुल की स्थापना 'मुंशीराम काल' की सब से महत्त्व की घटना है।

अन्य क्षेत्रों के समान शिक्षा के क्षेत्र में भी आर्यसमाज के विशेष आदर्श हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने समय में प्रचलित शिक्षापद्धति में अनेक दोष अनुभव कर एक नवीन शिक्षा प्रणाली का प्रतिपादन किया था। ऋषि ने इसे गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का नाम दिया है। उस समय भारत में शिक्षा की मुख्यतया दो प्रणालियां प्रचलित थीं। एक भारत के ब्रिटिश शासकों द्वारा प्रारम्भ की गई थी, और दूसरी पुरानी परम्परा के अनुसार पण्डित-मण्डली में प्रचलित थी। सरकार द्वारा

प्रचलित प्रणाली भारत के राष्ट्रीय तथा धार्मिक आदर्शों के प्रतिकूल थी। उस में भारत की भाषा, धर्म, सभ्यता साहित्य तथा संस्कृति की सर्वथा उपेक्षा की गई थी। पण्डित-मण्डली की शिक्षा-पद्धति समय की आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं करती थी। उसमें वर्त्तमान युग के ज्ञान-विज्ञानों को कोई स्थान प्राप्त न था। चरित्र निर्माण के लिए ब्रह्मचर्य, त्याग, तपस्या आदि जिन आदर्शों का पालन आवश्यक है, उनका दोनों प्रणालियों में कोई महत्त्व न था। ऋषि दयानन्द ने अनुभव किया कि भारत में प्राचीन गुरुकुल प्रणाली का पुनरुद्धार कर इन दोषों को दूर किया जाना चाहिये। इसी लिए उन्होंने शिक्षा के निम्नलिखित आदर्श और सिद्धान्त प्रतिपादित किये:—

(१) यह राजनियम और जातिनियम होना चाहिये कि आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सकें। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।

(२) लड़कों और लड़कियों के गुरुकुल पृथक्-पृथक् हों।

(३) विद्यार्थी गुरुकुलों में ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन व्यतीत करें। २५ वर्ष से पूर्व बालक का और १६ वर्ष से पूर्व कन्या का विवाह न हो सके।

(४) गुरुकुल में सब को तुल्य वस्त्र, खानपान, आसन दिये जावें, चाहे वह राजकुमार व राजकुमारी हों, चाहे

दरिद्र के सन्तान हों—सब के साथ एक-समान व्यवहार किया जावे।

(५) गुरुकुलों में गुरु और शिष्य पिता-पुत्र के समान रहें।

(६) विद्या पढ़ने के स्थान गुरुकुल शहर व ग्रामों से दूर एकान्त में हों।

(७) शिक्षा में वेद, वेदाङ्ग तथा सत्य शास्त्रों को प्रमुख स्थान दिया जाय, परन्तु साथ ही राजविद्या, संगीत, नृत्य, शिल्पविद्या, गणित, ज्योतिष, भूगोल, खगोल, भूगर्भविद्या, यन्त्रकला, हस्तक्रिया, चिकित्सा शास्त्र आदि का भी यथोचित रूप से अभ्यास कराया जावे।

निःसन्देह ऋषि दयानन्द के ये विचार शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार थे। आर्यसमाज के सम्मुख शुरू से ही इन्हें क्रिया में परिणत करने की समस्या उपस्थित थी। गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना से पूर्व भी आर्यसमाज ने शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रयत्न किये, उन में ऋषि दयानन्द के इन विचारों को आदर्श के रूप में सम्मुख रखा। जब डी०ए० वी० कालेज की स्थापना की गई, तो उस के साथ ही ब्रह्मचर्याश्रम खोलने और वेद तथा सत्य शास्त्रों को प्रमुख स्थान देने का विचार किया गया। डी० ए० वी० कालेज के पहले बोर्डिंग हाउस को एक आदर्श ब्रह्मचर्याश्रम के रूप में परिवर्त्तित करने का सङ्कल्प किया गया था। उस समय इस

बोर्डिङ्ग हाउस के सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियां 'आर्य पत्रिका' में लिखी गई थीं—

"इस बोर्डिंग हाउस के नियम बिल्कुल पूर्ण हैं। इस में नियन्त्रण का पूरा प्रबन्ध किया गया है और इस बात की व्यवस्था की गई है कि उन बालकों को जो उस में प्रविष्ट हों इस प्रकार रखा जावे, जैसे घरों में माता पिता के पास बच्चे रहते हैं।" (आर्य पत्रिका, १९ अप्रैल सन् १८८७)

डी. ए० वी० कालेज के कोर्स के सम्बन्ध में निम्नलिखित आदर्श निश्चित किये गये थेः—

(१) हिन्दु साहित्य को उन्नत और प्रोत्साहित करना।

(२) प्राचीन संस्कृत साहित्य और वेदों के अध्ययन को प्रचलित तथा प्रोत्साहित करना।

(आर्यपत्रिका. २४ अगस्त सन् १८८६)

यह स्पष्ट है कि डी० ए०वी० कालेज की स्थापना करते समय ऋषि दयानन्द के शिक्षा-सम्बन्धी आदर्श उस के संस्थापकों के सम्मुख थे। पर डी० ए० वी० कालेज अपने आदर्शों पर दृढ़ नहीं रह सका, समय का प्रवाह उसे दूसरी दिशा में ले गया—इस विषय में पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

पर डी० ए० वी० कालेज की असफलता से ऋषि दयानन्द के शिक्षा सम्बन्धी आदर्शों पर आर्यसमाज की आस्था कम नहीं हुई। कुछ ही समय बाद आर्यसमाज में एक नये

आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। कुछ लोगों के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि ऋषि दयानन्द के शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों के अनुसार गुरुकुल-शिक्षाप्रणाली का पुनरुद्धार करना चाहिए। महात्मा मुंशीराम इस आन्दोलन के प्रवर्त्तक तथा प्रमुख नेता थे। ऋषि दयानन्द ने आदर्श शिक्षा का जो मार्ग दिखाया था, महात्मा मुंशीराम उस के पहले पथिक बने। आज से ३५ वर्ष पूर्व गुरुकुल-शिक्षाप्रणाली का पुनरुद्धार एक असम्भव कल्पना, एक अक्रियात्मिक आदर्श समझा जाता था। महात्मा मुंशीराम के प्रयत्न से यह असम्भव कल्पना सम्भव हो गई और शिक्षा के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति हुई।

गुरुकुल के लिए पहले-पहल आन्दोलन सन् १८९७ में प्रारम्भ हुआ। उन दिनों महात्मा मुंशीराम जलन्धर से 'सद्धर्मप्रचारक' प्रकाशित करते थे। 'सद्धर्मप्रचारक' में इस के लिए प्रबल आन्दोलन किया गया और 'आर्यपत्रिका' आदि अन्य सामाजिक पत्रों ने इस का पक्षपोषण किया। नवम्बर १८९८ के आर्य प्रतिनिधि सभा के साधारण अधिवेशन में गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया। यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

गुरुकुल को खोलने का प्रस्ताव तो स्वीकृत हो गया, पर धन के बिना गुरुकुल खुलना सम्भव कैसे था? धन एकत्रित करने का कार्य महात्मा मुंशीराम जी ने अपने ऊपर

लिया। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक ३० हजार रुपया एकत्रित नहीं कर लेंगे, अपने घर में पैर नहीं रखेंगे। आजकल ३० हजार रुपया किसी सार्वजनिक कार्य के लिए एकत्रित करना बहुत कठिन नहीं है। पर अब से ३८ वर्ष पूर्व जब कि किसी सार्वजनिक कार्यके लिए दान देनेका अभ्यास जनताको नहीं था, ३० हजार रुपया इकट्ठा करना एक असाधारण बात थी। महात्मा मुंशीराम जी गुरुकुल के लिये धन एकत्रित करने निकल पड़े। आठ महीने लगातार घूमने के बाद ३० हजार रुपये इकट्ठे हुए। महात्मा मुंशीराम जी की यह असाधारण सफलता थी, उन के अटल विश्वास और हार्दिक धर्म प्रेम की यह अद्भुत विजय थी। इस सफलता के अभि-नन्दन स्वरूप लाहौर में उन का शानदार जुलूस निकला। सर्वत्र फूलों के हारों तथा उत्साह-पूर्ण जयकारों के साथ उन का स्वागत हुआ।

गुरुकुल के नियम आदि बनाने का कार्य भी महात्मा मुन्शीराम जी के सुपर्द किया गया था और २६ दिसम्बर १९०० के प्रतिनिधि सभा के साधारण अधिवेशन में गुरुकुल के पहले नियम स्वीकृत किये गये थे। गुजरांवाला के लाला रलाराम उन दिनों आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान थे। उन के हस्ताक्षरों से गुरुकुल की प्रथम नियमावली प्रकाशित हुई। उस में २० पृष्ठों की भूमिका थी, जिस में इन नियमों की व्याख्या की गई है। गुरुकुल के उद्देश्य आदि के सम्बन्ध में यह नियमावली सभा की प्रामाणिक घोषणा है। गुरुकुल की

स्थापना के समय महात्मा मुन्शीराम जी के ही नहीं परन्तु उस समय की आर्य प्रतिनिधि सभा के क्या विचार थे, इसे जानने के लिए इस प्रथम नियमावली से बढ़ कर और कोई साधन नहीं। इस में गुरुकुल की स्थापना के निम्नलिखित आठ कारण बताए गए हैं:—

(१) वेद आर्यसमाज के प्राण हैं। विशाल संस्कृत साहित्य का मूलस्रोत वेद ही है। वेद के अध्ययन के लिए गुरुकुल की आवश्यकता है।

(२) संस्कृत का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक अंगों और उपांगों के साथ वेद का अध्ययन न किया जाय। अतः ऐसे शिक्षणालय की आवश्यकता है, जहां संस्कृत साहित्य के साथ-साथ वैदिक साहित्य का भी अध्ययन हो।

(३) भारत की शिक्षा सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय तभी हो सकती है जब यहां के शिक्षणालयों में संस्कृत का अध्ययन हो। ब्रिटिश सरकार ने जो शिक्षा प्रचलित की है, वह भारतीयों को 'अंग्रेज' बना रही है, वह भारतीयों में देशभक्ति का विनाश कर रही है। मुस्लिम शासन की अनेक शताब्दियां जिन हिन्दुओं को अपना दास नहीं बना सकीं उन्हें दस-बीस वर्षों की अंग्रेजी शिक्षा दास बनाने में समर्थ हो रही है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम आर्यजाति के लिए शिक्षा की एक

ऐसी योजना तय्यार करें जो सच्चे अर्थों में 'राष्ट्रीय' हो, जो आर्य जाति की 'राष्ट्रीय शिक्षा' की आवश्यकता को पूर्ण करे। हमारा यह अभिप्राय नहीं है, कि विदेशी भाषा और नये ज्ञान-विज्ञानों को ग्रहण न किया जाय। इन का लाभ उठाना परम आवश्यक है। हमें अंग्रेजी, आधुनिक विज्ञान, पाश्चात्य दर्शन, अर्थशास्त्र और राज-नीति का अध्ययन करना ही चाहिए। क्या यूरोपि-यन लोग विदेशी भाषाओं और प्राच्य विद्याओं को नहीं पढ़ते? वे पढ़ते हैं, पर अपनी शिक्षा को विदेशी नहीं बना देते। इसी तरह हमें भी सब विदेशी ज्ञान-विज्ञानों को पढ़ते हुए अपनी 'राष्ट्रीयता' की रक्षा करनी चाहिए। गुरुकुल की स्थापना में यह तीसरा हेतु है।

(४) ब्रह्मचर्य शिक्षा का मुख्य आधार है। हमारी संस्थाएं ऐसी होनी चाहिएं जो नगरों के दूषित प्रभावों से दूर हों और जहां ब्रह्मचर्य के नियमों का भली भांति पालन होता हो।

(५) सरकारी यूनीवर्सिटियों में परीक्षा की जो पद्धति प्रचलित है वह वास्तविक विद्वत्ता के मार्ग में बाधक है। अतः कोई ऐसी संस्था जो सरकारी यूनिवर्सिटियों की परीक्षा भी दिलाना चाहे और वैदिक पाण्डित्य भी उत्पन्न करना चाहे, कभी सफल नहीं हो सकती। डी० ए० वी० कालेज ने यही प्रयत्न किया और उसे असफलता हुई।

गुरुकुल इस परीक्षा-पद्धति से दूर रहेगा।

(६) शिक्षणालयों में शिक्षक को बालक के माता पिता का स्थान लेना चाहिये। भारत के वर्तमान शिक्षणालयों में शिक्षक लोग माता पिता का स्थान नहीं लेते। गुरुकुल में इस कमी को दूर किया जायगा।

(७) शिक्षा के लिए कोई फीस नहीं ली जानी चाहिये।

(८) यूरोपियन विद्वानों ने भारतीय इतिहास की जो खोज की है उस में भारतीय इतिहास के साथ न्याय नहीं हुआ—उस में जो तिथि क्रम निश्चित किया गया है, वह सर्वथा अशुद्ध है। उस का खण्डन करने के लिए भारत के प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्व का विवेचनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। यह कार्य भी गुरुकुल जैसे शिक्षणालय से ही पूर्ण किया जा सकता है।

गुरुकुल की स्थापना के इन हेतुओं पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी करने की अवश्यकता नहीं है। ये अपने आप में सर्वथा स्पष्ट हैं। ऋषि दयानन्द ने शिक्षा सम्बन्धी जो आदर्श अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किए थे, उन की ये समयानुकूल व्याख्या-मात्र प्रतीत होते हैं। इन को दृष्टि में रख कर गुरुकुल में पढ़ाने के लिए जो पहली पाठ-विधि बनाई गई थी उसमें साङ्गोपाङ्ग वेद और संस्कृत साहित्य के गम्भीर अध्ययन के साथ-साथ अंग्रेजी, गणित, रसायन

(Chemistry), भौतिक विज्ञान (Physics), जीवन विज्ञान (Biology) वनस्पति शास्त्र (Botany), भूविज्ञान (Geology), कृषि, आयुर्वेद, पाश्चात्य दर्शन, अर्थशास्त्र आदि के उच्च कोटि के अध्ययन की भी व्यवस्था की गई थी। वस्तुतः गुरुकुल के प्रथम प्रवर्त्तक आर्य जाति के लिए 'राष्ट्रीय शिक्षा' की योजना तैयार कर रहे थे। उन की दृष्टि में आदर्श 'राष्ट्रीय शिक्षा' वह थी, जिस में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साथ संस्कृत साहित्य और साङ्गोपाङ्ग वेद का अध्ययन होता हो।

महात्मा मुन्शीराम जी जब गुरुकुल के लिए धन एकत्रित करते हुए पहिले-पहल लाहौर, आये तब उन्होंने सन् १९०० के जनवरी मास में कुछ व्याख्यान गुरुकुल के सम्बन्ध में दिए। इन व्याख्यानों से गुरुकुल के विषय में बड़ी हलचल मची और पंजाब के शिक्षित समुदाय का ध्यान गुरुकुल की ओर आकृष्ट हुआ था। इन व्याख्यानों में उन्होंने गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की निम्नलिखित विशेषताओं को प्रकट किया था—

१. ब्रह्मचर्य का पुनरुद्धार।

२. ब्रह्मचारियों और उन के गुरुओं का पुत्र और पिता के सम्बन्ध से रहना।

३. परीक्षा-पद्धति के दोषों से मुक्त रहना।

४. शारीरिक उन्नति के लिए विशेष रूप से बल देना ।

५. भारत की शिक्षा-प्रणाली में संस्कृत तथा मातृभाषा हिन्दी को प्रमुख स्थान देना ।

६. आधुनिक विज्ञानों तथा इङ्गलिश भाषा को समुचित स्थान देना ।

७. शिक्षा के लिए कोई फ़ीस न लेना ।

८. प्राचीन भारतीय इतिहास के अन्वेषण तथा शोध का विशेष रूप से प्रबन्ध करना ।

गुरुकुल की स्थापना के समय उस के संस्थापकों के सम्मुख ये विचार थे। इन्हीं को दृष्टि में रख कर गुरुकुल का प्रारम्भ किया गया। गुरुकुल कहां खुले, इसके सम्बन्ध में अनेक विचार थे। श्री गोबिन्दपुर के लाला बिशनदास ने १०००) और लाला मोहनलाल ने भूमि देने का वचन दिया। लूनमियानी के लाला ज्वालासहाय ने अपनी एक भूमि पेश की। परन्तु महात्मा मुन्शीराम गुरुकुल को गंगा के तट पर स्थापित करना चाहते थे। उनकी आंखों में वेद का यह मन्त्र सदैव विद्यमान रहता था:—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् ।

धिया विप्रोऽजायत ॥ यजुर्वेद

वे कहीं नदियों का संगम और पर्वतों की उपत्यका चाहते थे। उनकी दृष्टि रह-रह कर हिमालय के दामन में

गंगा के तट पर जाती थी। महात्मा जी कई वार वहां गये और निराश लौटे। ला० रलाराम और उनके साथी पंजाब से बाहर जाने को उद्यत न थे। अन्त में जब मुन्शी अमनसिंह ने अपना कांगड़ी ग्राम, जो हरिद्वार के सामने गंगा के पूर्वीय तट पर स्थित था, गुरुकुल के लिए प्रतिनिधि सभा को प्रदान कर दिया, तो इस समस्या का हल हुआ। मुंशी अमनसिंह नजीबाबाद (जिला बिजनौर) के निवासी थे। आप बड़े त्यागी, धर्मप्राण और सत्यनिष्ठ रईस थे। उनकी कुल सम्पत्ति कांगड़ी ग्राम थी, जिसका क्षेत्र १४०० एकड़ है। इस भूमि को गुरुकुल के लिए देकर उन्होंने जो दान किया, उसकी जितनी प्रशंसा की जावे कम है। गुरुकुल के लिए कांगड़ी की यह भूमि एक आदर्श स्थान था। हिमालय की उपत्यका में गंगा के तट पर सघन रमणीक वनों से घिरे हुए इस प्रदेश से बढ़कर गुरुकुल के लिए और कौन सा स्थान हो सकता था। अतः यहीं पर गुरुकुल खोलने का निश्चय किया गया। पर यह स्थान तो सन् १९०१ के अन्त में गुरुकुल के लिए मिला। इस से पूर्व १६ मई १९०० को गुजरांवाला में सामयिक रूप से गुरुकुल की स्थापना कर दी गई थी। गुजरांवाला में वैदिक पाठशाला तो पहिले ही विद्यमान थी, उसके साथ ही गुरुकुल की पहली श्रेणी भी पृथ रूपक् से खोल दी गई। भक्त आनन्दस्वरूप की वाटिका में पांच कमरों का निर्माण कर उन से आश्रम का

काम लिया गया। महात्मा मुन्शीराम जी ने अपने दोनों लड़के गुरुकुल में प्रविष्ट कराये। उनके अतिरिक्त अनेक प्रतिष्ठित कुलों के २० बालक इस गुरुकुल में प्रविष्ट हुए। वैदिक पाठशाला में पं० गंगादत्त संस्कृत अध्यापक का कार्य करते थे। उन्हें पाठशाला से बदल कर गुरुकुल का मुख्याध्यापक नियत किया गया। उनके साथ पं० विष्णुमित्र, म० भक्तराम तथा मा० सुन्दरसिंह अध्यापक नियुक्त हुए। गुरुकुल के ये चार प्रारम्भिक अध्यापक थे। दो वर्ष तक गुरुकुल गुजरांवाला में ही रहा।

इस बीच में कांगड़ी की भूमि गुरूकुल के लिए मिल चुकी थी। कांगड़ी ग्राम के दक्षिण में गंगा के तट पर घने जंगल को साफ़ कर कुछ छप्पर बनाए गए थे। ४ मार्च १६०२ को गुरुकुल गुजरांवाला से कांगड़ी ले आया गया। कुछ दिन बाद २२, २३ और २४ मार्च को गुरुकुल का प्रारम्भ-उत्सव मनाया गया। प्रारम्भ से ही जनता को गुरुकुल से इतना प्रेम था कि बिना किसी विशेष नोटिस के ५०० नर-नारी उत्सव में सम्मिलत हुए और ३०००) नकद इकट्ठा हुआ। अगले वर्ष के उत्सव में यात्रियों की संख्या ४००० थी और सात हज़ार रुपया नकद इकट्ठा हुआ था। धीरे धीरे गुरुकुल के वार्षिकोत्सव का महत्व बढ़ता गया। कुछ ही वर्षों में यह आर्य समाज का सब से बड़ा मेला हो गया और इस में न केवल पंजाब से अपितु सारे भारत

से हज़ारों की संख्या में नर-नारी सम्मिलित होने लगे और उत्सव के व्याख्यानों, सम्मेलनों, उपदेशों और परिषदों द्वारा अपने ज्ञान तथा धर्म की पिपासा को शान्त करने लगे।

गुरुकुल के उत्सव का महत्व किस प्रकार बढ़ता गया, यह प्रारम्भ के निम्न-लिखित उत्सवों के विवरण से भली भान्ति स्पष्ट हो सकेगा:—

सन्	जनता की संख्या	नकद रुपया
१९०२	५००	३०००
१९०३	४०००	७०००
१९०४	२५०००	३४०००
१९०५	१००००	३००००
१९०६	३००००	२५०००
१९०७	५००००	४५०००

गुरुकुल में प्रविष्ट होने वाले ब्रह्मचारियों की संख्या भी निरन्तर बढ़ रही थी। गुजरांवाला से कुल ३४ ब्रह्मचारी शुरु में कांगड़ी आये थे। पांचवें साल के अन्त में ब्रह्मचारियों की संख्या बढ़ कर १८७ हो गई। पहले लोगों का ख्याल था कि कौन माता पिता अपने गोद के लालों को अपने से पृथक् कर जंगल में १४ वर्ष के लिए पढ़ने के लिए भेजेंगे। पर अनुभव ने इस आशंका को निर्मूल कर दिया। प्रतिवर्ष सैकड़ों प्रार्थना पत्र अपने बालकों को गुरुकुल में दाखिल

कराने के लिए आने लगे। सब को प्रविष्ट करना सम्भव नहीं था क्योंकि रुपये की कमी थी और ब्रह्मचारियों के निवास के लिए प्रबन्ध नहीं था। ब्रह्मचारियों का प्रवेश चुनाव द्वारा होता था और बहुत से माता पिताओं को निराश होकर गुरुकुल से लौटना पड़ता था।

आन्तरिक प्रबन्ध और व्यवस्था की दृष्टि से भी गुरुकुल निरन्तर उन्नति कर रहा था। धीरे-धीरे फूंस की झोपड़ी का स्थान ईंट की इमारतें ले रही थीं। चार वर्ष के अन्दर-अन्दर २५०००) की लागत से २२ पढ़ने के कमरे और ब्रह्मचारियों के निवास के लिए पृथक् आश्रम बना लिया गया था। इनके अतिरिक्त भोजन भण्डार, हस्पताल, यज्ञ-शाला, धर्मशाला, और अध्यापकों के निवास के लिए भी मकान बन गये थे। दो कुवें भी तय्यार हो गए थे। पर गुरूकुल के सञ्चालक इस से सन्तुष्ट नहीं थे। वे ५ लाख की लागत से ६०० विद्यार्थियों के निवास तथा पढ़ने के योग्य पक्की सुन्दर इमारत बनाने का स्वप्न ले रहे थे। पटियाला स्टेट के मुख्य इञ्जीनियर रायबहादुर ला० गङ्गाराम से उन्हों ने उत्कृष्ट इमारत का नकशा तैयार कराया था और उसके लिए धन की अपील की थी। सन् १९०७ में महात्मा मुंशीराम जी ने लिखा था कि गुरुकुल के लिए पक्की इमारतों का निर्माण परमावश्यक है। इसी के अनुसार सन् १९०२ में कालेज की पक्की शानदार इमारत बननी भी

आरम्भ हो गई थी।

गुरुकुल के पहिले आचार्य्य पं० गंगादत्त जी थे। महात्मा मुंशीराम जी उस वक्त मुख्याधिष्ठाता थे। पं० गंगादत्त जी व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके साथ पं० काशीनाथ शास्त्री, पं० भीमसेन शर्म्मा, पं० दौलतराम शास्त्री, पं० पद्मसिंह, पं० विष्णुमित्र आदि अनेक विद्वान् काम करते थे। अंग्रेज़ी तथा गणित आदि पढ़ाने का कार्य मा० गोवर्धन बी० ए०, मा० विनायक गणेश साठे आदि द्वारा होता था। भोजन भंडार का प्रबन्ध जलन्धर के लाला शालिग्राम जी के हाथ में था। लाला जी गुरुकुल के अनन्य भक्त थे। उन्होंने अपना तन, मन, धन गुरुकुल के लिए अर्पित कर रखा था। इन महानुभवों के सहयोग से गुरुकुल दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता रहा।

१६०२ में गुरुकुल, काङ्गड़ी में आया था। १६०६ तक उसमें सात श्रेणियां हो चुकी थीं। अब गुरुकुल में उच्च कक्षाओं की पढ़ाई की समस्या उपस्थित हुई। इससे पूर्व केवल छोटी श्रेणियां ही थीं जिनमें प्रधानतया संस्कृत साहित्य और व्याकरण की तथा सामान्यतया अंग्रेज़ी तथा अन्य प्रारम्भिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। अब उच्च कक्षाओं के खुलने पर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि विज्ञान, गणित, आदि आधुनिक विषयों की क्या व्यवस्था की जाय। इसी समय मा० रामदेव जी गुरुकुल में कार्य्य करने

आये। वे एक ट्रेण्ड ग्रेजुएट थे और जलन्धर स्कूल के सफल हैडमास्टर रहे थे। उनका विचार था कि आधुनिक विज्ञान, शिक्षा का आवश्यक अंग हैं, और गुरुकुल में उसकी यथोचित व्यवस्था होनी उचित है। साथ ही वे शिक्षा सम्बन्धी नियन्त्रण के पक्षपाती थे: गुरुकुल अपनी प्रारम्भिक दशा को पार कर रहा था, अब वे चाहते थे कि यहां पढ़ाई का नियमित समय विभाग बने और सब कार्य्य व्यवस्थित रूप में हो।

पर आचार्य्य गंगादत्त जी को यह बात पसन्द न थी। वे एक पुराने ढंग के पण्डित थे। नवीन विज्ञानों का प्रवेश और नई शिक्षा-विधियों का प्रयोग उन्हें पसन्द न आता था उन में और मा० रामदेव जी में मत-भेद बढ़ने लगा। महात्मा मुन्शीराम जी ने मा० रामदेवजी का पक्ष लिया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि शुरु से ही गुरुकुल को एक पुराने ढंग की पाठशाला बनाना अभिप्रेत नहीं था। गुरुकुल की प्रारम्भिक स्कीम में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को यथोचित स्थान दिया गया था।

आचार्य्य गंगादत्त जी का मत-भेद सिद्धान्त तथा नीति से सम्बन्ध रखता था। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने गुरुकुल से त्यागपत्र दे दिया और कुछ समय बाद ज्वालापुर के निकट एक पृथक् गुरुकुल की स्थापना की। यह गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के नाम से प्रसिद्ध है, और

इसमें आचार्य्य गंगादत्त जी के विचारों के अनुसार, इतिहास, अर्थशास्त्र, रसायन, गणित आदि की सर्वथा उपेक्षा कर विशुद्ध संस्कृत के अध्ययन पर ही सारा ज़ोर दिया जाता है।

आचार्य्य गंगादत्त जी के बाद महात्मा मुंशीराम जी ही गुरुकुल के आचार्य्य नियत हुए। शिक्षा-विषयक प्रबन्ध में उनकी सहायता मा० रामदेव जी करते थे, जो उस समय मुख्याध्यापक के पद पर नियत थे। सन् १९०७ में गुरुकुल में महाविद्यालय (कालेज) विभाग का प्रारम्भ हुआ। तीन विद्यार्थी ९ साल तक विद्यालय विभाग में रह कर, अधिकारी परीक्षा उत्तीर्ण कर महाविद्यालय में आये। महाविद्यालय विभाग के शुरु होने पर गुरुकुल में अनेक उच्च कोटि के विद्वान् अध्यापन के लिए नियुक्त किये गए। गुरुकुल के महाविद्यालय बिभाग के इन प्रारम्भिक शिक्षकों का नाम देना यहां अनुचित न होगाः—

१. महात्मा मुंशीराम जी-आचार्य्य।

२. मा० रामदेव जी बी० ए०, एम० आर० ए० एस०–उपाचार्य्य तथा उपाध्याय पाश्चात्य दर्शन।

३. पं० काशीनाथ शास्त्री—उपाध्याय प्राच्य दर्शन।

४. पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ—उपाध्याय वेद।

५. श्री० बालकृष्ण एम०-ए०—उपाध्याय इतिहास, अर्थशास्त्र।

६. श्री० विनायक गणेश साठे एम० ए०—उपाध्याय रसायन शास्त्र।

७. श्री महेशचरणसिंह एम० एस० सी०—उपाध्याय वनस्पतिशास्त्र।

८. श्री घनश्यामसिंह गुप्त—उपाध्याय विज्ञान

९. श्री सेवाराम एम० ए०—उपाध्याय आंगलभाषा

१०. श्री लक्ष्मीनारायण बी० ए०—उपाध्याय आंगलभाषा

११. श्री लक्ष्मणदास बी० ए०—उपाध्याय गणित

महाविद्यालय खुलने के साथही मा० रामदेवजी उपाचार्य्य के पद पर नियत हो गये थे और उनके स्थान पर मुख्याध्यापक मा० गोवर्धन बी० ए० बने थे। शिक्षा के क्षेत्र में इस समय गुरुकुल बड़ी तत्परता से कार्य्य कर रहा था। गुरुकुल में सब विषयों की शिक्षा मातृभाषा हिन्दी के माध्यम द्वारा दी जाती थी। विज्ञान, गणित, पाश्चात्य दर्शन आदि विषय भी हिन्दी में ही पढ़ाए जाते थे। जब महाविद्यालय विभाग खुला तो उसमें भी हिन्दी को ही माध्यम रखा गया। उस समय हिन्दी में उच्च शिक्षा देना एक असम्भव बात समझी जाती थी। गुरुकुल ने इसे कार्यरूप में परिणत करके दिखा दिया। उस समय आधुनिक विज्ञानों की पुस्तकें हिन्दी में बिलकुल न थीं। गुरुकुल के उपाध्यायों ने पहिले-पहल इस क्षेत्र में काम किया और गुरुकुल से अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ प्रकाशित हुए। प्रो० महेशचरणसिंह की हिन्दी कैमिस्ट्री,

प्रो० साठे का विकास-वाद, श्रीयुत गोवर्धन की भौतिकी और रसायन, प्रो० रामशरणदास सक्सेना का गुणात्मक विश्लेषण, प्रो० सिन्हा का वनस्पतिशास्त्र, प्रो० प्राणनाथ का अर्थशास्त्र, राष्ट्रीय आय-व्यय शास्त्र और राजनीति शास्त्र, प्रो० बालकृष्ण का अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र और प्रो० सुधाकर का 'मनोविज्ञान' हिन्दी में अपने-अपने विषय के पहिले ग्रन्थ हैं। यह इतना महत्व-पूर्ण कार्य्य गुरुकुल द्वारा किया गया। हिन्दी में वैज्ञानिक ग्रन्थों की रचना ही गुरुकुल द्वारा प्रारम्भ हुई। इन वैज्ञानिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से उच्च कोटि के ग्रन्थ गुरुकुल द्वारा प्रकाशित हुए। प्रो० रामदेव ने भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में मौलिक अनुसन्धान कर अपना प्रसिद्ध 'भारतवर्ष का इतिहास' प्रकाशित किया। महात्मा मुंशीरामजी ने विविध धर्म्मों का तुलनात्मक अध्ययन कर पारसी आदि अनेक धर्म्मों पर मौलिक ग्रन्थ लिखे। गुरुकुल की साहित्य परिषद् ने दो दर्जन से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित किए। ये सभी ग्रन्थ किन्हीं नवीन विषयों पर निबन्ध के रूप में थे। साहित्य परिषद् की ओर से गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर 'सरस्वती सम्मेलन' किये जाते थे, जिनमें विविध विषयों पर मौलिक निबन्ध पढ़े जाते थे। उस समय के शिक्षित समुदाय में इन निबन्धों की बड़ी धूम थी। गुरुकुल ने छोटे बालकों के लिए पाठ्य पुस्तकें तय्यार करने के लिए भी बड़ा

काम किया। संस्कृत की पहली 'रीडरें' गुरुकुल ने ही प्रकाशित की। सब श्रेणियों के लिए हिन्दी, संस्कृत, विज्ञान आदि की बहुत सी पाठ्य पुस्तकें गुरुकुल में तय्यार हुई। बाहर के भी अनेक शिक्षणालयों ने इनको अपनाया।

सन् १९०७ में 'वैदिक मैगज़ीन, का भी पुनरुद्धार किया गया। इस पत्रिका के संस्थापक पण्डित गुरुदत्त थे। उनके देहान्त के साथ साथ इस पत्रिका का भी अन्त हो गया था 'वैदिक मैगज़ीन' अंग्रेज़ी में निकलती थी पाश्चात्य संसार को वैदिक धर्म का सन्देश सुनाने तथा आर्य समाज के दृष्टिकोण से प्राच्य विद्याओं का अनुशीलन करने के लिए इस पत्रिका का बड़ा उपयोग था। अब उसका पुनरुज्जीवन किया गया और मा० रामदेव जी उस के सम्पादक बने। सन् १९०७ से १९३२ तक २५ वर्ष निरन्तर यह पत्रिका गुरुकुल से प्रकाशित होती रही। शिक्षित समाज में इस पत्रिका को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

'सद्धर्मप्रचारक' पहले जलन्धर से प्रकाशित होता था। महात्मा मुन्शीराम जी का 'सद्धर्मप्रचारक' प्रेस भी जलन्धर में ही था। एप्रैल १९०८में उसे गुरुकुल ले आया गया। तब से 'सद्धर्मप्रचारक नियमित रूप से गुरुकुल से ही प्रकाशित होने लगा। गुरुकुल का प्रचार करने में इस पत्र से बड़ी सहायता मिली। 'सद्धर्मप्रचारक' पत्र और 'सद्धर्मप्रचारक' प्रेस गुरुकुल को साहित्यिक जीवन का एक महत्व-पूर्ण

केन्द्र बनाने में अत्यन्त सफल हुए।

१९१२ में गुरुकुल से दो ब्रह्मचारी श्री हरिश्चन्द्र और इन्द्र अपनी शिक्षा पूर्ण कर स्नातक हुए। वार्षिकोत्सव के अवसर पर बड़े समारोह के साथ इन का दीक्षान्त संस्कार हुआ। गुरुकुल का वह वार्षिकोत्सव अद्वितीय था। जनता के उत्साह की कोई सीमा न थी। नव स्नातकों के दीक्षांन्त संस्कार का दृश्य आज भी एक अद्भुत आकर्षण रखता है। सन् १९१२ में आज से २४ वर्ष पूर्व गुरुकुल का जब पहिला दीक्षान्त संस्कार हुआ तब उस का कितना प्रभाव जनता पर हुआ होगा इस की कल्पना सहज में ही की जा सकती है।

गुरुकुल निरन्तर लोक-प्रिय होता जाता था। जनता गुरुकुल में आकर सुवर्णीय दृश्य देखती थी। शहरों के कोलाहल से दूर, गंगा के पार, हिमालय की उपत्यका में यह तपोवन स्थापित था। चारों ओर सघन वन थे। यहां ३०० के लगभग ब्रह्मचारी अपने गुरु वर्ग के साथ ब्रह्मचर्य और विद्या की साधना में तत्पर थे। यहां अमीर गरीब वा ऊंच नीच का कोई भेद न था। गौड़ ब्राह्मण और अछूत मेघ के पुत्र एक-साथ रहते थे, एक-साथ भोजन करते थे। सबके एक-से वस्त्र एक सा खान पान और एक-सा रहन-सहन था। सब एक दूसरे को भाई-भाई समझते थे। यदि किसी के पिता अपने ब्रह्मचारी के लिए कोई मिष्टान्न लाते, तो वह सब में बांट कर उसे खाता था। ऋषि दया-

नन्दने शिक्षा के सम्बन्ध में जो आदर्श रखे थे, वे यहां मूर्त रूपमें दृष्टिगोचर होते थे। यही कारण है कि गुरुकुल में एक विशेष आकर्षण था, एक अद्भुत जादू था। जो भी गुरुकुल में आता, वह वहां के जीवन से प्रभावित हुए विना न रहता।

केवल भारतीय जनता ही नहीं, अनेक विदेशियों को भी गुरुकुल ने अपनी ओर आकृष्ट किया। शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल एक नई क्रान्ति था। इसे देखने के लिए बहुत से विदेशी विद्वान् गुरुकुल पधारने लगे। अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षा-विशारद श्रीयुत मायरन फेल्पस सन् १९१८ में गुरुकुल आये। उन्होंने कई महीने गुरुकुल में रह कर इस के प्रत्येक विभाग का सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण किया। गुरुकुल में रहकर जो कुछ देखा उस के सम्बन्ध में एक विस्तृत लेखमाला उन्हों ने इलाहाबाद के प्रसिद्ध ऐंग्लो इण्डियन पत्र 'पायोनियर' में लिखी। इस लेखमाला से बहुत से शिक्षा-विशारदों का ध्यान गुरुकुल की ओर आकृष्ट हुआ, और गुरुकुल में विदेशी यात्रियों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी। कुछ समय बाद श्रीयुत एफ० सी० एंड्रूस अपने मित्र श्रीयुत पियर्सन के साथ आकर गुरुकुल में रहे। गुरुकुल के जीवन तथा शिक्षा का उनपर बड़ा प्रभाव हुआ। उन्होंने भी गुरुकुल के सम्बन्ध में अनेक लेख लिखे। परिणाम यह हुआ कि गुरुकुल भारतसे बाहर यूरोप और अमेरिका में भी प्रसिद्ध हो गया। इन देशों से जो यात्री भारत आते वे गुरुकुल देखे विना वापिस न लौटते। ब्रिटिश ट्रेड यूनियन आन्दोलन के प्रसिद्ध

नेता श्रीयुत सिडनीवेब गुरुकुल आये और इस संस्थाको देख कर अत्यन्त प्रभावित हुए। सन् १९१४ में लेबर पार्टी के प्रसिद्ध नेता और ग्रेटब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान-मन्त्री श्री रैम्जे मैक्डानल्ड गुरुकुल पधारे। उन्होंने गुरुकुल के सम्बन्ध में एक लेख में लिखा—मैकाले के बाद "भारत में शिक्षा के क्षेत्र में जो सब से महत्व-पूर्ण और मौलिक प्रयत्न हुआ है वह गुरुकुल है।"

यह असंभव था कि ब्रिटिश शासकों की दृष्टि गुरुकुल की ओर आकृष्ट न होती। श्रीयुत रैम्ज़े मैक्डानल्ड के शब्दों में "सरकारी अफ़सरों के लिये गुरुकुल एक पहेली है। गुरुकुल के शिक्षकवर्ग में एक भी अंग्रेज़ नहीं है। यहां शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी नहीं है। पंजाब यूनिवर्सिटी में इंगलिश साहित्य पढ़ाने के लिए जो पुस्तकें प्रयोग में आती हैं। गुरुकुल उन्हें अपनी पाठ्य पुस्तकें नहीं बनाता। यहां का एक भी विद्यार्थी सरकारी यूनिवर्सिटियों की परीक्षा देने नहीं जाता। गुरुकुल अपनी पृथक् उपाधि (डिग्री) प्रदान करता है। सचमुच यह सरकार की भारी अवज्ञा है। यह स्वाभाविक है कि घबराए हुए सरकारी अफ़सर के मुख से पहली बात इस के लिए यही निकले कि यह 'राजद्रोही है।"

निःसन्देह पहले पहल सरकार ने गुरुकुल को राजद्रोही संस्था समझा। सरकारी यूनिवर्सिटियों से सर्वथा स्वतन्त्र

सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा के लिए किया गया यह अद्भुत प्रयत्न था। गुरुकुल राजद्रोही है, सरकार का यह विचार तब तक दूर नहीं हुआ, जब तक संयुक्तप्रान्त के लेफ्टनेन्ट गवर्नर श्रीयुत सरजेम्स मेस्टन इस संस्था को अपनी आंखों से नहीं देख गए। श्रीयुत सर जेम्स मेस्टन गुरुकुलमें चार वार आये, उनकी गुरुकुल यात्रा का उद्देश्य यही था कि वे स्वयं गुरुकुल का अवलोकन कर इस बात का निर्णय करें कि सरकारी अफ़सरों में गुरुकुल के राजद्रोही होने का जो विचार फैला हुआ है, वह कहां तक ठीक है। ६ मार्च १९१३ को श्रीयुत सरजेम्स मेस्टन पहली वार गुरुकुल आए। अभिनन्दन पत्र का उत्तर देते हुए अपने भाषण में उन्होंने कहा—"न केवल संयुक्तप्रान्त अपितु सम्पूर्ण भारत में शिक्षा के क्षेत्र में जो परीक्षण किए गए हैं, गुरुकुल उन में सब से अधिक मौलिक और महत्त्वपूर्ण है। सरकारी कागज़ात में गुरुकुल को एक शाश्वत, भयंकर और अज्ञात ख़तरे का मूल बताया जाता रहा है। इसका सब से उत्तम जवाब मेरी यहां उपस्थिति है" श्रीयुत सरजेम्समेस्टन गुरुकुलको देखकर इतने प्रभावित हुए कि अपनी दूसरी-यात्रा में (१९ फरवरी १९१४) उन्होंने गुरुकुल के सम्बन्ध में यह सम्मति दी—

This is my idea of an ideal university.

दो वर्ष बाद भारत के वायसराय तथा गवर्नर जनरल लार्ड चेम्सफोर्ड भी गुरुकुल पधारे। और इस अद्वितीय

संस्था का अवलोकन कर अत्यन्त प्रभावित हुए। ब्रह्मचारियों के स्वस्थ और सुदृढ़ शरीरों की वायसराय महोदय ने बहुत प्रशंसा की और इस संस्था के सम्बन्ध में अपनी हितैषिता को प्रकट किया।

भारतीय सरकार के इन उच्च राज कर्मचारियों का स्वागत करते हुए भी गुरुकुल ने अपनी विशेषताओं को नहीं छोड़ा। गुरुकुल आर्य जाति की एक-मात्र राष्ट्रीय संस्था थी। उसे किसी भी दशा में भारतीयता और राष्ट्रीयता को नहीं छोड़ना चाहिए था। यही कारण है कि वायसराय महोदय का अभिनन्दन संस्कृत श्लोकों द्वारा किया गया। उनके भोजन के लिए तुलसी की चाय, फल, पकौड़े और भारतीय मिठाइयों का आयोजन किया गया। गुरुकुल में जो भी विदेशी यात्री आते थे वे ब्रह्मचारियों के साथ भोजन भण्डार में आसन के ऊपर बैठ कर भारतीय ढंग से भोजन करते थे। गुरुकुल आकर उन्हें गुरुकुलीय बनना होता था। गुरुकुल की कुछ अपनी विशेषताएं हैं। गुरुकुल वैदिक धर्म, भारतीय सभ्यता और आर्यसंस्कृति के पुनरुज्जीवन के लिए खोला गया है। बड़े से बड़े राजपदाधिकारी के लिए गुरुकुलने अपनी राष्ट्रीय संस्कृति का परित्याग नहीं किया।

गुरुकुल राजद्रोही न था। गुरुकुल को राजद्रोही समझना सरकार की भूल थी। पर इस में सन्देह नहीं, कि

गुरुकुल भारत के राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन के लिए स्थापित किया गया था। राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन और राजद्रोह एक बात नहीं है। यही कारण है कि जब कभी धर्म, जाति व देश के लिए किसी सेवा व त्याग की आवश्यकता हुई, गुरुकुल सब से आगे रहा। १६०७ के व्यापक दुर्भिक्ष, १९०८ के दक्षिण हैदराबाद के जल-विप्लव और १६११ के गुजरात के दुर्भिक्ष के अवसर पर गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने अपने भोजन में कमी कर के पीडितों की सहायता के लिए दान दिया। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दासों का सा व्यवहार होता था। उसके विरुद्ध महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह संग्राम प्रारम्भ किया गया। भारत में श्रीयुत गोखले ने इस सत्याग्रह संग्राम के लिए सहायता की अपील की। गुरुकुल के विद्यार्थियों ने अपना घी दूध छोड़ कर, मजदूरी कर इस फण्ड में सहायता की। उन दिनों हरिद्वार से ऊपर गंगा का एक बड़ा बांध बांधा जा रहा था, जो 'दूधिया बन्ध' के नाम से प्रसिद्ध है। गुरुकुल के विद्यार्थी वहां साधारण मजदूरों की तरह टोकरी ढोकर मजदूरी प्राप्त करते थे और उसे दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रहियों के लिए भेजते थे। इस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने मजदूरी द्वारा कमा कर और अपने घी दूध में कमी कर १५००) दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के लिए प्रदान किया। महात्मा गान्धी गुरुकुल के ब्रह्मचारियों की इस भावना और त्याग से बड़े प्रभावित

हुए। यही कारण है कि जब महात्मा गान्धी अपने सत्याग्रह आश्रम के विद्यार्थियों के साथ भारत आए तो अहमदाबाद में पृथक् आश्रम खुलने तक अपने विद्यार्थियों के लिए सर्वोत्तम स्थान उन्होंने गुरुकुल समझा और उनके विद्यार्थी कई मास तक गुरुकुल रहे। गुरुकुल के विद्यार्थी राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन और सेवा के जिस वातावरण में रहते थे, उस में इस भावना का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था।

गुरुकुल की ख्याति खूब बढ़ती जाती थी। शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकल एक नई क्रान्ति था। जनता में इसका आकर्षण निरन्तर बढ़ रहा था। यही कारण है कि गुरुकुल स्थापित होने के कुछ ही वर्षों बाद इसकी शाखाएं पंजाब के भिन्न २ स्थानों पर खुलनी प्रारम्भ हुईं। गुरुकुल शिक्षा की मांग बहुत अधिक थी। एक गुरुकुल कांगड़ी इस मांग को पूरा कर सकने में असमर्थ था। इसी लिए अन्य स्थानों पर शाखा गुरुकुल खुलने प्रारम्भ हुए। सब से पहली शाखा मुलतान में खुली। मुलतान शहर से तीन मील की दूरी पर तारा कुण्ड के समीम एक रमणीक स्थान पर यह गुरुकुल स्थापित है। इसकी स्थापना २३ फरवरी सन् १९०९ को हुई थी। तब से यह गुरुकुल निरन्तर उन्नति करता गया और धीरे २ इसमें दस श्रेणियां हो गईं। अधिकारी परीक्षा पास कर इस के विद्यार्थी उच्च शिक्षाके लिए गुरुकुल काङ्गड़ी जाने लगे।

मुलतान के दो वर्ष बाद गुरुकुल की दूसरी शाखा कुरुक्षेत्र में खुली। सन् १९१० में थानेसर शहर के सुप्रसिद्ध रईस ला० ज्योतिप्रसाद के मन में यह शुभ विचार उत्पन्न हुआ कि वे भी गुरुकुल कांगड़ी की शाखा अपने यहां खुलवायें। इन्होंने अपने यह विचार महात्मा मुन्शीराम जी के सामने रखे। ला० ज्योतिप्रसाद ने प्रारम्भ में १० हजार नकद और १०४८ बीघा भूमि गुरुकुल के लिए महात्मा जी के अर्पण की। सन् १९११ में थानेसर के समीप महाभारत काल की प्रसिद्ध युद्ध भूमि कुरुक्षेत्र में गुरुकुल की स्थापना होगई गुरुकुल की आधार शिला रखते हुए महात्मा मुन्शीराम जी ने अपने भाषण में कहा था—"आज से ५००० वर्ष पूर्व इसी कुरुक्षेत्र भूमि में आर्यावर्त के नाश का बीज बोया गया था। आज उसी भूमि में आर्यावर्त की उन्नति के लिए यह बीज बोया गया है।"

सन् १९१२ में देहली के सुप्रसिद्ध सेठ रघूमल जी ने एक लाख रुपया इस निमित्त दिया कि इस से देहली के समीप एक गुरुकुल की एक शाखा खोली जाय। इस के फल स्वरूप देहली से १० मील की दूरी पर गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की स्थापना हुई।

सन् १९१५ में हरियाणा प्रान्त में श्री चौधरी पीरूसिंह जी आदि उत्साही सज्जनों द्वारा जिला रोहतक के मटिण्डू ग्राम के समीप यमुना की एक छोटी नहर के किनारे अत्यन्त

रमणीक स्थान पर गुरुकुल की एक और शाखा खोली गई, जो गुरुकुल मटिण्डू के नाम से प्रसिद्ध है।

इस प्रकार गुरुकुल रूपी वृक्ष निरन्तर फलफूल रहा था। सन् १९०२ में जिस गुरुकुल का बीजारोपण किया गया था वह १५ वर्ष के थोड़े से समय में ही एक विशाल वृक्ष के रूप में परिवर्तित हो गया था, जिस की छाया के नीचे सैंकड़ों विद्यार्थी विद्याभ्यास कर रहे थे। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली निरन्तर लोकप्रिय होती जाती थी। गुरुकुल कांगड़ी और उसकी शाखाओं के अतिरिक्त अन्य गुरुकुल भी खुलने लगे। वृन्दावन, सिकन्दराबाद, हरपुरजान, होशंगाबाद, शान्ताक्रूज, बंबई वैद्यनाथधाम आदि कितने ही स्थानों पर गुरुकुलों की स्थापना हुई। केवल आर्य समाज ही नहीं, अपितु सनातनी, जैन, और ईसाई तक भी गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को अपना-कर उसी के ढंग पर अपने शिक्षणालय खोलने लगे। महर्षि दयानन्द के शिक्षा सम्बन्धी आदर्शों की यह महान् विजय थी

महात्मा मुन्शीराम जी गुरुकुल की स्थापना के समय से ही उसके प्रधान संचालक रहे गुरुकुल की स्थापना का मुख्य श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उन्होंने अपना तन, मन, धन और सर्वस्व गुरुकुल के लिए अर्पण किया। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली पर उन्हें अटल विश्वास था, इसी लिए जहां उन्होंने अपने दोनों पुत्र गुरुकुल के अर्पित किये, वहां साथ ही अपनी सारी सम्पत्ति गुरुकुल को दान करदी। उनके पास

जो कोठी, प्रेस तथा अन्य सम्पत्ति थी, वह गुरुकुल के लिए अर्पण कर दी। महात्मा जी का यह "सर्वमेध यज्ञ" वस्तुतः अद्वितीय है। गुरुकुल के स्थापना काल से सन् १९१७ तक निरन्तर १५ वर्ष महात्मा मुंशीराम जी गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता रहे। इस बीच में गुरुकुल ने जो उन्नति की, उसकी कथा हम ऊपर लिख चुके हैं।

१५ वर्ष तक गुरुकुल का संचालन कर सन् १९१७ में महात्मा मुंशीराम जी ने संन्यासाश्रम में प्रवेश किया। वैदिक आश्रम मर्यादा के अनुसार महात्मा जी के लिए संन्यास लेना आवश्यक था। गुरुकुल निवास महात्माजी का वानप्रस्थ आश्रम था। सन् १९१७ के वार्षिकोत्सव के बाद उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और 'मुंशीराम' से 'श्रद्धानन्द' होगये। सन्यासी होकर महात्मा जी अधिक विस्तृत क्षेत्रमें प्रविष्ट हुए और गुरुकुल के निवासियों ने भरे हृदय से अपने कुलपिता को विदा दी।

सन् १९१७ में महात्मा मुंशीराम जी के विदा होते समय गुरुकुल की क्या दशा थी, इस पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना उपयोगी है। सन १९१७ में गुरुकुल कांगड़ी में विद्यार्थियों की कुल संख्या ३४० थी, जिन में से २७६ विद्यालय विभाग में और ६४ महाविद्यालय विभाग में शिक्षा प्राप्त करते थे। महाविद्यालय विभाग में वेद, दर्शन, संस्कृत साहित्य और आंगल भाषा का पढ़ना प्रत्येक विद्यार्थी के

लिए अनिवार्य था। इन के अतिरिक्त विस्तृत वैदिक साहित्य, आर्यसिद्धान्त, रसायन, इतिहास, अर्थशास्त्र, पाश्चात्य दर्शन, कृषि और गणित ये सात ऐच्छिक विषय थे जिनमें से कोई विषय एक विद्यार्थियों को लेना होता था। जो विद्यार्थी विस्तृत वैदिक साहित्य को ऐच्छिक विषय के रूप में ले, उसे स्नातक होने पर वेदालंकार की, आर्यसिद्धान्त लेने वाले को सिद्धान्तालंकार की, और शेष सब को विद्यालंकार की उपाधि दी जाती थी। महाविद्यालय विभाग में इन विविध विषयों को पढ़ाने के लिए १५ उपाध्याय नियत थे। विद्यालय विभाग के अध्यापकों की संख्या २० थी। मुख्याध्यापक के पद पर गुरुकुल के स्नातक पं० यज्ञदत्त विद्यालंकार नियत थे, जो बड़ी योग्यता से विद्यालय विभाग का संचालन करते थे। ब्रह्मचारियों की चिकित्सा के लिए गुरुकुल का अपना हास्पिटल था। उसके मुख्य चिकित्सक डा० सुखदेव जी थे। डा० सुखदेव जी बड़ी ही लगन और सेवा वृत्ति के चिकित्सक थे। उनका सारा समय ब्रह्मचारियों के स्वास्थ्य की उन्नति में लगता था। गुरुकुल का आन्तरिक प्रबन्ध लाला नन्दलाल जी के हाथ में था। लाला जी अत्यन्त योग्य प्रबन्धकर्ता थे वे सहायक मुख्याधिष्ठाता के पदपर नियत थे, और गुरुकुल के आन्तरिक प्रबन्ध को व्यवस्थित करने के लिए बहुत प्रयत्नशील थे। गुरुकुल कार्यालय लाला मुरारीलाल जी के हाथ में था, जो रात दिन एक कर गुरुकुल

की सेवा में तत्पर रहते थे। आश्रम के अध्यक्ष मा० सुख-राम जी थे, जो अपना जीवन गुरुकुल के लिए अर्पण कर त्याग का अनुपम आदर्श विद्यार्थियों के सम्मुख रख रहे थे। अभिप्राय यह है कि महात्मा मुन्शीराम जी के गुरुकुल से विदा होने के समय गुरुकुल ऐसी अवस्था में पहुंच चुका था जब उसका प्रत्येक विभाग अत्यन्त योग्य हाथों में था, और सब लोग मिलकर गुरुकुल की उन्नति के लिए तत्पर थे।

महात्मा मुंशीराम जी के विदा होने के साथ गुरुकुल के इतिहास का 'मुन्शीराम-काल' समाप्त होता है। गुरुकुल के अगले विकास का वृत्तांत हम 'वर्तमान काल' में लिखेंगे।

अनाथालय

ईसाई धर्म के प्रचार का एक साधन अनाथालय रहे हैं। जिस बालक अथवा बालिका का कोई संरक्षक न हो, उस का किसी विधर्मी के हाथ में पड़ जाना और फिर धीरे-धीरे अपने पैतृक धर्म को छोड़ बैठना साधारण-सी बात है। आर्य जाति पर यह एक कलंक था कि यह अपने अनाथ बालकों की रक्षा का प्रबन्ध स्वयं नहीं करती थी। ऋषि ने अजमेर तथा फ़ीरोज़पुर में अपने जीवन-काल ही में अनाथालय खुलवा दिये थे। जलन्धर के अनाथाश्रम का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। इन संस्थाओं के लिए नियमित आन्दोलन करने का श्रेय उन्हीं पं० गंगाराम को है जिन्हों ने दलितोद्धार के सामूहिक रूप का प्रथम सूत्र-पात किया था। पण्डित जी का दयार्द्र हृदय कहीं भी किसी पीड़ित को देख कर तुरंत द्रवित हो जाता था। फिर अनाथ तो पीड़ा की मूर्तियाँ थे। दलितोद्धार की तरह अनाथ-रक्षा को भी इन्हों ने अपने जीवन का ध्येय बना लिया।

ओडों की शुद्धि के पश्चात् उन की शिक्षा के लिए मुज़फ़्फ़रगढ़ में पाठशाला खुल चुकी थी। १६०५ में सिन्ध का एक अनाथ बालक वहाँ आ निकला। उसे उसी पाठशाला में प्रविष्ट कर लिया गया और उस के भरण-पोषण का प्रबन्ध समाज की ओर से हो गया । इस स्वल्प आरंभ से अनाथालय की नींव पड़ी। १६०७ में अनाथालय खोल दिया गया। धीरे-धीरे इस संस्था का विस्तार होने लगा। पण्डित जी ने अनुभव किया कि सरकार की सेवा करते हुए अनाथालय का काम नहीं हो सकता। पहिले दीर्घावकाश लिया और फिर पूरी छुट्टी प्राप्त कर ली। अब पण्डित जी का कार्य इन अनाथों के लिए भिक्षा माँगना तथा उन की शिक्षा का प्रबन्ध करना ही हो गया। इस के लिए इन्हों ने लंबी-लंबी यात्राएँ कीं और पर्याप्त धन लाए।

१६१६ में अनाथालय की एक शाखा लाहौर में खोल दी गई। १६२६ तक यह शाखा चंगड़मुहल्ले में रही। १६२७ में इसे रावी रोड पर लाया गया। म० शालिग्राम ने अपना "वेद-मन्दिर" नाम का स्थान अनाथालय के लिए दान कर दिया। लाहौर की इस शाखा की स्थिति स्वभावतः मुज़फ़्फ़रगढ़ की मूल-संस्था से अधिक बड़ी हो गई। १९२७ में "अनाथ-संरक्षिणी सभा" की स्थापना हो कर इस की रजिष्टरी करा ली गई। लाहौर का अनाथालय "केन्द्रीय अनाथालय" बना दिया गया और संरक्षिणी सभा इस की स्वामिनी हो गई।

१६११ में पण्डित जी ने गुरुकुल बेटसोहनी स्थापित

किया। इस गुरुकुल का उद्देश्य अनाथों तथा अछूतों को निश्शुल्क शिक्षा देना था। पहिले यह गुरुकुल मुजफ़्फ़रगढ़ के अनाथालय की प्रबन्ध-समिति के अधीन था परन्तु १९३० से पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा के सीधे अधिकार में है।

पण्डित जी ने इस के पश्चात् लायलपुर, झंग, मंटगुमरी, तथा बसोहली में भी अनाथालय खोले। वे मुन्शीराम-काल के पश्चात् की संस्थाएँ हैं। पण्डित जी के इस कार्य का उल्लेख एक स्थान पर कर देने के लिए हम ने इन सब का वर्णन यहीं कर दिया है।

पण्डित जी के इस शुभ उद्योग से अनेक अरक्षित बालक तथा बालिकाएँ सुरक्षित हो गई हैं। उन्हें विविध प्रकार के धँधे सिखा कर स्वतन्त्र आजीविका कमा सकने के योग्य बना दिया गया है। जहाँ उन्हें विधर्मी होने से बचा लिया गया है, वहाँ वे आर्य जाति के भी उपयोगी अंग बन गये हैं। इन मातृ पितृ-हीन शिशुओं के माता-पिता पण्डित गंगाराम हैं। प्रत्येक सुशिक्षित अनाथ पण्डित जी की आत्मा को धन्यवाद देता है।

राज-विद्रोह के आरोप
तथा
पटियाले का अभियोग

आर्य समाज तथा उस के कार्य-कर्त्ताओं पर अभियोग बहुत पुराने समय से चल रहे थे। बनारस में स्वयं ऋषि दयानन्द का व्याख्यान रोक दिया गया था परन्तु फिर सरकारी अफ़सरों ने अपने आप अपनी यह आज्ञा लौटा ली थी। इस का कारण वह प्रबल प्रतिवाद था जो उस समय के समाचार-पत्रों तथा शिक्षित समुदाय की ओर से हुआ।

पं० लेखराम के विरुद्ध मुसलमानों की ओर से कई मामले उठाए गये। पहिले तो पण्डित जी को बिना बुलाए ही सब आरोप रद्द कर दिये जाते थे। पीछे कुछेक मामलों में पूछ-ताँछ हुई भी, परन्तु पण्डित जी हमेशा निर्दोष प्रमाणित हुए।

१८६४ में ज़ि० सहारनपुर के अन्तर्गत तीतरोन गांव के कुछ मुसलमानों ने एक विशेष स्थान पर आर्य समाज

का मन्दिर बनाए जाने का विरोध किया। मैजिस्ट्रेट ने यह विश्वास करने से इन्कार कर दिया कि आर्य समाज-सा "शान्ति-प्रिय और नियमों का पालन करने वाला समुदाय" शान्ति-भंग कर सकता है। मुसलमानों की प्रार्थना तुरन्त ख़ारिज कर दी गई।

विरोधियों की ओर से इन टेढ़ी रीतियों का अवलम्बन बतला रहा था कि सीधे रास्ते से वे असफल हुए हैं। तर्क की लड़ाई में उन्हें विजय नहीं हुई, नहीं हुई। मीर्ज़ा ग़ुलाम-अहमद क़ादियानी तथा पं० लेखराम के केवल लिखित विवादों ही का नहीं, "मुबाहिले" का वर्णन भी ऊपर आ चुका है। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने वाला कोई भी पाठक इस बात को स्वीकार किये बिना नहीं रहेगा कि ज़ियादती हमेशा विपक्षियों की ओर से होती थी। परन्तु आर्य समाज का प्रचार नया था। इस के लिए इन ज़ियाद-तियों का सहन करना आवश्यक था। विपक्षियों का भी वास्तविक हित तो सत्य के अंगीकार करने में था। परन्तु प्रत्येक सम्प्रदाय में केवल जनता ही नहीं होती। फिर जनता पर भी अधिक प्रभाव पुरोहितों तथा मुसलमानों का होता है। ये धर्म-जीवी लोग स्वार्थ वश अपनी प्रचलित रूढ़ियों को चिमटे रहते हैं। अपने रीति-रिवाजों को स्थिर रखने के लिए ये कुछ भी कर गुज़रें—इन की ओर से कोई बात असम्भव नहीं है।

जब इस प्रकार के मुक़द्दमों से भी काम नहीं चला तो विपाक्षियों ने एक और शस्त्र का प्रयोग करना आरंभ

किया। उन्हें सब से बड़ी शक्ति सरकार प्रतीत होती थी। यदि किसी प्रकार वह समाज के विरुद्ध हो जाय तो समाज का विनाश अनिवार्य है। यह निश्चय कर विरोधी सरकार को उकसाने के मनसूबे बाँधने लगे। इस का प्रकार एक ही था। वह यह कि आर्य समाज को राज-विद्रोह का दोषी ठहराया जाय।

१२ नवंबर १८९६ की लाहौर आर्य समाज की अन्तरंग सभा में नैशनल लीग की एक चिट्ठी पेश हुई थी। उस में समाज से प्रार्थना की गई थी कि वह भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में भारतीयों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए वाइसराय की सेवा में निवेदन-पत्र पेश किये जाने के मामले में सहायता करे। समाज ने सर्व-सम्मति से निश्चय किया कि "चूंकि यह मामला पुलिटिकल है और पुलिटिकल मामलात में दखल देना अग़राज़ इ-समाज (समाज के उद्देश्यों) से बाहर है" इस लिए "यह समाज इस मामले में कुछ कार्रवाई नहीं कर सकती।"

यह निश्चय उस समय का है जब कि राजनैतिक आन्दोलन अभी अत्यन्त मन्द था और सरकार को उस के विरोध का सपना भी नहीं आया था। प्रतिनिधि सभा अभी अपनी स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त कर ही रही थी और लाहौर समाज ही समाजों में शिरोमणि था। उस समय की निर्धारित नीति पर न तो पीछे की सरकार की दमन-नीति का प्रभाव है और न राजनैतिक आन्दोलन की प्रियता या अप्रियता का।

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में राजनीति का वर्णन पाया जाता है। स्वयं वेद के सूक्त के सूक्त और अध्याय के अध्याय राजनीति-परक हैं। धर्म का उद्देश्य मानव जीवन के संपूर्ण अंगों में मार्ग प्रदर्शन करना है। और राजनीति मानव जीवन का प्रमुख तथा प्रबलतम भाग है। जो धर्म इस विषय पर प्रकाश डालने से चूक जाय, वह नितान्त अपूर्ण है। राजनीति वैदिक धर्म का प्रमुख अंग है। उस में राजा-प्रजा दोनों के धर्म का सविस्तर उल्लेख है। तो भी किसी सिद्धान्त को किसी धर्म-पुस्तक में उल्लेख होना और बात है, और उस के लिए क्रियात्मक आन्दोलन करना और बात। ऋषि दयानन्द ने प्रत्येक राष्ट्र के लिए स्वराज्य का विधान किया है। प्रत्येक देश अपने ही शासन में सुखी तथा समृद्ध हो सकता है। ऋषि के अनुयायिओं का इस सिद्धान्त पर प्रबल विश्वास है परन्तु इस के लिए प्रयत्न अकेला आर्य समाज नहीं कर सकता। स्वराज्य की प्राप्ति के उपाय भिन्न-भिन्न हैं और उन का अवलंबन संपूर्ण देश को करना चाहिए। इस संवन्ध में मत-भेद तथा दल-विभाग हो जाना अवश्यंभावी है। आर्य समाज अपने सैद्धान्तिक तथा सामाजिक आन्दोलन के कारण ही पर्याप्त विरोधी पैदा करता है। इस विरोध के विद्यमान रहते राजनैतिक सहकारिता कठिन है। फिर राजनैतिक क्षेत्र में स्वयं राजनीति-परक विरोध पैदा हो जाने की संभावना भी स्वाभाविक है। विरोध के अंदर विरोध पैदा करने की जटिलता को दूर करने का उपाय यही है

कि राजनैतिक आन्दोलन के लिए स्वतन्त्र संघ स्थापित किया जाय जिस में सभी धार्मिक विश्वासों के सभासद् एकत्रित हो सकें।

इस से ऊँचे दृष्टि-विन्दु से देखा जाय तो कहना होगा कि धर्म की इकाई मनुष्य है और राष्ट्रवाद की इकाई राष्ट्र-विशेष का नागरिक। अपने-अपने स्तर पर दोनों संघों के काम करने से ही मानवीयता का अबाधित विकास हो सकता है। एक ही सोसाइटी के एक-साथ दो भिन्न स्तरों पर काम करने से उस की सत्यता बाधित होगी और उस के कार्यों में संगति नहीं रहेगी। कभी तो मानवीयता की ऊँची चोटी पर चढ़ जाना और कभी राष्ट्रियता की भूमिका पर बैठ कर काम करना दो विषम पहियों पर एक ही गाड़ी चलाना है।

लाहौर समाज की अन्तरंग सभा के उपर्युक्त प्रस्ताव से स्पष्ट है कि समाज की नीति आरंभ-काल से ही राजनैतिक आन्दोलनों से अलग-अलग रहने की थी। परन्तु विपक्षियों को इस तटस्थता पर भी आक्षेप था। समाज राजनैतिक हो या न हो, विपक्षियों का काम उसे राजनैतिक ही नहीं, राजद्रोही कहने से ही चल सकता था।

हम किसी पिछले अध्याय में स्वा० आलाराम का वर्णन कर चुके हैं। ये पहिले तो आर्य समाज ही के प्रचारक थे, फिर समाज के विरोधी हो गये। पश्चिमोत्तर प्रान्त में इन्हों ने कई बार समाजियों और सनातनियों में वैमनस्य पैदा करने का प्रयत्न किया। शाहजहाँपुर तथा कानपुर

में झगड़ा होते-होते रह गया। दोनों ओर के प्रमुख सज्जनों ने मिल-मिला कर आपस में समझौता कर लिया। आख़िर १९०२ में स्वयं सरकार ने आलाराम पर मुक़द्दमा चलाया। इस अभियोग के चलते-चलते पता लगा कि इन स्वामी जी ने एक गुप्त पत्र द्वारा सरकार के अफ़सरों को यह सूचना की थी कि समाज एक विद्रोही संस्था है। यही बात इन्हों ने अपनी एक पुस्तिका में लिखी। वह पुस्तिका स्वामी जी की उन कृतियों में से थी जिन के आधार पर अभियोग चलाया गया था। डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मि० हैरिसन ने इस पुस्तिका में दिये गये सत्यार्थप्रकाश आदि के उद्धरणों पर विचार कर निर्णय किया कि "इन सब उद्धरणों में मैं कहीं भी विद्रोह की उत्तेजना का कोई चिह्न नहीं पाता हूँ। इन में इस बात पर करुण क्रन्दन किया गया है कि विभिन्न धार्मिक तथा नैतिक कारणों से हिन्दू एक अधीन जाति बन गये हैं। दयानन्द के उपदेश का सामान्य झुकाव सुधार के लिए प्रेरणा करने की ओर है जिस का अन्तिम उद्देश्य संभवतः यह हो कि शासन अन्त में देश-वासियों के अपने हाथ में आ जाय। दयानन्द ने क्रियात्मक रूप से यह स्वीकार किया है कि आधुनिक हिन्दुओं में कुछ ऐसे स्वाभाविक दोष हैं जो उन्हें स्वयं राज्य करने के अयोग्य बनाते हैं।

उस (दयानन्द) की प्रेरणाएँ और प्रार्थनाएँ विदेशी राज्य के तुरन्त उलट देने के लिए नहीं किन्तु इस प्रकार के सुधार के लिए हैं जो हिन्दुओं को शायद भविष्य में

स्वयं राज्य करने के योग्य बना दे। गोरक्षा की ओर संकेत भी मुझे अपने आप में विद्रोह के उत्तेजक प्रतीत नहीं होते। इस के विपरीत वे ऐसे राजा की प्रशंसा करते हैं जो गोवध का निरोध कर दे। (इन लेखों में) न शस्त्र-ग्रहण की कोई प्रेरणा की गई है और न युद्ध का कोई नाद ही बुलंद किया गया है।"

इन दो व्यवस्थाओं ने आर्य समाज की स्थिति सहसा सुरक्षित-सी कर दी। परन्तु फिर भी विरोधी अपने प्रयत्न में लगे रहे। १६०७ में ला० लाजपतराय को माँडले निर्वासित किया गया। लाला जी समाज के भी नेता थे, कांग्रेस के भी। सरकार के लिए यह विवेक करना कठिन हो गया कि एक व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न समुदायों में रह कर एक-साथ उन समुदायों की पृथक्-पृथक् मर्यादा का पालन कर सकता है। किसी मुसलमान अथवा ईसाई के राजनैतिक कार्य करने से समूची मुसलमान अथवा ईसाई जाति राजनैतिक नहीं हो जाती। और तो और, ब्राह्म समाजी क्रान्तिकारियों तक को फाँसी से पूर्व उन के धार्मिक पुरोहितों से आध्यात्मिक आश्वासन प्राप्त करने का अवसर दिया जाता रहा है परन्तु आर्य समाजी सभी विद्रोही हैं क्योंकि आर्य समाज के एक प्रमुख पुरुष पर विद्रोह का आरोप है!

१६ जून १९०७ के "सिविल ऐंड मिलिटरी गज़ट" में एक "भारतीय" का पत्र छपा जिस में सत्यार्थप्रकाश के उद्धरणों से प्रमाणित करने का यत्न किया गया कि आर्य समाज वास्तव में विदेशियों के बहिष्कार ही के लिए

स्थापित हुआ है। उदाहरणतया सत्यार्थप्रकाश में लिखा था कि राज्य का अधिकार क्षत्रियों का है। अब क्षत्रिय भारत के बाहर का तो हो ही नहीं सकता। इस से विदेशी शासन का विरोध स्पष्ट है! सत्यार्थप्रकाश में मनु के प्रमाण से लिखा है :—

योऽवमन्येत द्विजो मूले स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

इस से निस्सन्देह विदेशियों का भारत से बहिष्कार अभिप्रेत है!

"भारतीय" महोदय का सब से बुरा आक्षेप यह था कि ला०लाजपतराय के कारावास से आर्य समाज ने अपनी नीति बदल ली है। समाज की यह घोषणा कि वह एक विशुद्ध धार्मिक सभा है, इस कारावास का परिणाम है। लाहौर समाज की अन्तरंग सभा के १८८६ के निश्चय के आधार पर हम सिद्ध कर चुके हैं कि यह आक्षेप अशुद्ध है। समाज की विशुद्ध धार्मिकता की घोषणा राजनैतिक घोषणा नहीं।

इस लेख के उत्तर में म० मुंशीराम के तीन और प्रो० (इस समय सर) गोकुलचन्द नारंग एम० ए०, पी० एच० डी० का एक पत्र प्रकाशित हुआ। इन पत्रों में ऋषि की विश्व-व्यापक शिक्षा की—जिस का किसी देश-विशेष से नहीं, किन्तु संसार भर की सभी जातियों से एक-सा सम्बन्ध है—विशद व्याख्या की गई। दोनों महानुभावों ने प्रतिपादित किया कि वेद तथा दयानन्द का "क्षत्रिय" भारत का "खत्री" नहीं, किन्तु किसी भी देश का बांकुरा

वीर है । प्रत्येक देश की बाग-डोर ऐसे ही लोगों के हाथ में होनी आवश्यक है । इन सब प्रश्नों पर आर्य समाज एण्ड इटस डिट्रैक्टर्स (Arya Samaj & its Detractors) में बड़ा प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक के लेखक महा० मुंशीराम और आचार्य रामदेव थे। यह पुस्तक पटियाला अभियोग की समाप्ति पर लिखी गई। इस पुस्तक की चर्चा बहुत रही। पार्लियामेण्ट के सदस्यों तक यह पहुँची। भारतीय सरकार (Government of India) की वार्षिक रिपोर्ट में इसका वर्णन था और विलायत के सुप्रसिद्ध पत्रों में भी इसकी चर्चा रही। विलायत के सुविख्यात त्रिमासिक पत्रिका Round Table में इस पुस्तक की समालोचना कई पृष्ठों में की गई। उस समय इस पुस्तक की बड़ी चर्चा थी। भारतवर्ष पर जिन योरोपियन महोदयों ने पुस्तकें लिखीं उनमें से बहुतों ने इस में से उद्धरण दिए।

१९०८ तथा १९०९ के वच्छोवाली आर्य समाज के उत्सव के अवसर पर महा० मुंशीराम के दो ऐतिहासिक व्याख्यान हुए। १९०८ के व्याख्यान में उन्होंने निम्न-लिखित घटनाओं का वर्णन किया :—

(१) गुलाबचन्द एक सिख रजमैंट में लेखक था। वह कर्तव्य परायण तथा सत्य-प्रिय और परिश्रमी था। परन्तु साथ ही अधिकारियों को उत्तर देने में निर्भीक भी था। पहिले तो उस की इस बात की प्रशंसा होती थी परन्तु अब उस का यही गुण काँटे की तरह खटकने लगा और उसे इस लिए पृथक् कर दिया गया कि वह

"आर्य समाजी" है। इस प्रकार आर्य समाजी का अर्थ हुआ निर्भीक अर्थात् उद्दण्ड।

(२) ज़ि० करनाल के तीन ज़ैलदारों में से एक आर्य समाजी था। उस की डायरी में लिख दिया गया कि "वह ज़ैलदार तो अच्छा है परन्तु उस का निरीक्षण किया जाना चाहिए क्योंकि वह आर्य समाजी है।"

(३) एक डिपुटी कमिश्नर ने एक स्थान के प्रमुख पुरुषों को बुला कर कहा कि यदि तुम्हारे यहाँ कोई आर्य समाजी रहता हो तो उसे निकाल दो। स्वयं उन प्रमुख पुरुषों ही में दो आर्य समाजी थे। उन्हों ने पूछा कि आर्य समाजियों के विरुद्ध क्या किया जाय? डिपुटी कमिश्नर ने कहा:—"कुछ करो, तुम्हारे विरुद्ध कोई कार्यवाही न होगी।" वे बोले:—आप स्पष्ट सहायता करें तो आज्ञा का पालन किया जा सकता है और यदि आप ही स्पष्ट कार्यवाही करने से डरते हैं तो फिर हम में यह साहस कहाँ?"

(४) एक रजमेंट के सिपाही आर्य समाजी थे। उन्हें यज्ञोपवीत उतार देने की आज्ञा दी गई। वे जाति के जाट थे। उन्हों ने जाट सभा द्वारा निवेदन-पत्र भिजवाया। इसे आपत्ति-जनक समझा गया।

(५) एक मुसलमान जमादार ने एक यूरोपियन लेफ़टिनैंट को विवाद में हरा दिया। इस की शिकायत हुई और मुसलमान को डाँट कर कहा गया:—तुम आर्य समाजी हो। उस ने उत्तर दिया:—मैं तो मुसल-

मान हूँ। अधिकारी ने उसे और डाँटा और कहा:—तुम मुसलमान आर्य समाजी हो।

(६) आर्य समाज के प्रचारक पं० दौलतराम झाँसी गये। वहाँ उन्हों ने सिपाहियों को भी उपदेश किया और उन से अनाथालय के लिए चंदा लाये। उस पर अभियोग चलाया गया और दण्ड यह दिया गया कि या तो झाँसी या उस के पाँच मील के अन्दर रहने वाले तथा सरकार को १००) मालिया या २०००) की आय पर कर देने वाले दो सज्जनों की ज़मानतें दिलाए या १ वर्ष कठोर कारावास का दण्ड भुगते। यों तो दौलतराम आगरा के खाते-पीते घर का था परन्तु झाँसी में वह अजनबी-सा था। इस लिए उसे कारावास भुगतना पड़ा।

(७) जोधपुर में वायसराय महोदय पधारे थे। उन के मार्ग में समाज मन्दिर पड़ता था। पोलीस ने समाज वालों से कहा:—अपना फट्टा तथा झंडा उतार लो। उन के इनकार करने पर पोलीस ने स्वयं ये दोनों चिह्न उतार लिये।

ये सब घटनाएँ समाज के प्रति उस समय के कुछ सरकारी कर्मचारियों की कठोर दृष्टि पर स्पष्ट प्रकाश डाल रही हैं। समाज के अधिकारी सरकार से मिलते नहीं थे और सरकार इन की इस झिझक को सन्देह की दृष्टि से देखती थी। महात्मा जी ने अपने व्याख्यान में समाज की स्थिति एक संन्यासी की बतलाई जिस का प्रचलित राजनीतिक आन्दोलनों से कुछ सम्बन्ध नहीं। समाज राजा-प्रजा दोनों

के प्रति अपना कर्तव्य पालन कर देगा पर झुकेगा किसी के आगे भी नहीं। जोधपुर की घटना का वर्णन करते हुए जब महात्मा जी ने कहा :—ओ३म् का झंडा हमारे हृदयों पर आरोपित है, संसार की सब दिशाओं में ओ३म् अंकित है; सब शक्तियों, सब क्रियाओं पर ओ३म् की शोभा है; इस ओ३म् को कौन मिटा सकता है? यह सुनते ही जनता पर एक समाँ बँध गया। हृदय बल्लियों उछलने लगे। निरुत्साह हृदयों को साहस तथा धैर्य मिला। महात्मा जी का शब्द-शब्द सच्ची धर्म-भावना में भीजा हुआ था। उस में गर्व तो था पर विनय से सुशोभित। उस में विनय था पर आत्माभिमान से विभूषित।

इस राजविद्रोह-काण्ड की कुछ और घटनाएँ भी उल्लेख के योग्य हैं :—

पंजाब की एक ब्रिगेड में आज्ञा दी गई कि आर्य समाज अथवा किसी अन्य राजनैतिक सभा में न जाया करें।

एक भारतीय रजमेंट के एक डाक्टर को उस के आफ़िसर ने त्याग-पत्र का मसविदा लिख कर दिया कि इस के द्वारा समाज से संबन्ध-विच्छेद कर लो। यह आज्ञा न मानने के कारण आखिर उसे सेवा छोड़नी पड़ी।

रोहतक में किसी ने डौंडी पिटवा दी कि आर्य समाज का मन्दिर सरकार ने ज़ब्त कर लिया है। समाज के प्रधान के पूछने पर डिपुटी कमिश्नर के कार्यालय ने लिखा कि ऐसी डौंडी सरकार की आज्ञा से नहीं पीटी गई परन्तु

तो भी इस के विरुद्ध सरकार ने अपनी ओर से घोषणा तक करना स्वीकार नहीं किया।

इन्द्रजित् शाहजहाँपुर की ज़िला-कचहरी में काम करता था। उस ने रोगी होने के कारण अवकाश लिया। वह आर्य समाज का उत्साही कार्यकर्त्ता था। उसे आज्ञा दी गई कि या तो समाज का प्रचार करे या सरकार की सेवा।

इन्दौर आर्य समाज का प्रधान लक्ष्मणराव शर्मा पोलीस के इन्स्पेक्टर जनरल के कार्यालय में हैड एकौंटट था। उसे ने समाज के जलूस की आज्ञा माँगी। इस पर उसे समाज छोड़ देने को कहा गया। ऐसा न कर सकने के कारण उसे सरकार की सेवा छोड़ देनी पड़ी।

ये केवल उदाहरण हैं। इन से स्पष्ट है कि आर्य समाजी होना उन दिनों कितने जोखिम का काम था। आर्य पुरुष कुछ बहुत धनवान् नहीं थे। उन की आजीविका साधारण थी। परन्तु अब वह साधारण आजीविका भी सुरक्षित न थी। धर्म उस की भी बलि माँगता था। सचमुच वे लोग धन्य थे जिन्हों ने धन की, जन की, तथा मन की यह बलि खुशी-खुशी दे दी। उन का वह धर्म वास्तव में बहुमूल्य था, जिसे उन्हों ने अपनी बहुमूल्य बलि के दामों खरीदा। कोई जेल में डाल दिया गया, इस लिए कि वह आर्य समाजी है। किसी के बाल बच्चों तक की रोटी छीन ली गई, इस लिए

कि वह वेद और दयानन्द का भक्त है। यह भक्ति कैसी महँगी थी? कितने आत्मोत्सर्ग से कमाई गई?

सच्चा, कर्तव्य-परायण, निर्भीक—ये सब "आर्य सामाजिक" के पर्याय थे पर साथ ही "विद्रोही" भी इन सब पर्यायों का एक और सार-भूत पर्याय था। आर्य सत्यता, आर्य कर्तव्य-परायणता, आर्य निर्भीकता दण्डनीय थी, इस लिए कि वह राज-विद्रोह का दूसरा नाम थी। विद्रोह का यह आरोप असत्य था परन्तु फिर भी प्रसन्नता-पूर्वक सहन किया जा रहा था क्योंकि इस सहन द्वारा ही प्यार धर्म के प्यार की परख हो रही थी।

ये सब घटनाएँ भिन्न-भिन्न स्थानों पर हो रही थीं परन्तु इनके पीछे एक संघटित सूत्र काम कर रहा था। मौलवियों और पादरियों की चाल चल गई थी। अंग्रेज़ के हृदय में सन्देह का विष घोल दिया गया था और अब वह यत्र-तत्र उपद्रव पैदा कर रहा था। महात्मा मुन्शीराम ने अपने १९०८ के व्याख्यान में इन घटनाओं की ओर जनता तथा राज-कर्मचारियों का ध्यान खेंचा। उनके इस व्याख्यान की रिपोर्टें ली गईं। उसका अनुवाद आंगल भाषा में कर उसका .खूब प्रचार किया गया। महात्मा जी का वह भाषण निर्भीक विनम्रता का नमूना है। महात्मा जी ने हैदराबाद दाक्षिण से स्वामी नित्यानन्द जी के निर्वासन का वर्णन कर अपने विशेष मस्ताना अदाज़ें में कहा :—

इस अत्याचार के पश्चात् वहाँ के आर्य सामाजियों ने हैदराबाद राज्य की विप्लव-ग्रस्त जनता की सहायता के

लिए धन एकत्रित किया जिस में गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने भी अपने भोजन के व्यय में कमी कर के अपना अंश प्रदान किया। यह है आर्य समाज का धर्म ! अत्याचारियों के साथ भी दया ही का व्यवहार—यही आर्य-धर्म का सच्चा सार है। आर्य समाज के पास प्रत्येक प्रकार के अत्याचार का प्रतिकार यही है, यही है।

यह आग, जिस की चिनगारियाँ स्थान-स्थान पर प्रकट हो रही थीं, पटियाला स्टेट में एकाएक ज्वाला के रूप में प्रकाशित हो उठी। अक्तूबर १६०९ में एक साथ ८४ आर्य सभासदों पर राज विद्रोह का अभियोग चला दिया गया। महाराज को राज-सिंहासन पर बैठे अभी थोड़ा ही समय हुआ था। उनके राज-तिलक से पूर्व से ही एक अंग्रेज़ वार्बर्टन नाम से पोलीस-विभाग का मुख्याधिकारी तथा डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट था। वयोवृद्ध होने के कारण उसे हटा देने का प्रस्ताव हो रहा था। अपने सेवा काल को बढ़वा लेने के लिए उस ने यह राज-विद्रोह का भूत खड़ा किया। उसका विचार था कि इस अभियोग के रहते उसे हटाया नहीं जा सकेगा। उसने अपनी गुप्त सूचनाओं के आधार पर महाराज को खबर की कि उनके राज्य में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध षड्यन्त्र किया जा रहा है। कौंसिल के प्रधान सरदार गुरुमुखसिंह वार्बर्टन को रियासत के लिए अहितकर समझते थे। इस कारण उन्हें अपने पद से अलग हो जाना पड़ा। नये शासन

में इस अभियोग की स्वीकृति दे दी गई और चौरासी महानुभावों को झट-पट निगृहीत कर हवालात में डाल दिया गया।

अभियोग वैयक्तिक नहीं था। एक ओर सरकार थी तो दूसरी ओर संपूर्ण समाज। चोट व्यक्तियों पर नहीं, संपूर्ण आर्य समाज पर थी। प्रश्न आर्य समाज के जीवन-मरण का था। कालेज-विभाग तथा गुरुकुल-विभाग इस मामले में एक हो गये। दोनों विभागों की संयुक्त "आर्य रक्षा समिति" बनाई गई जिस ने मामला चलाना अपने हाथ में ले लिया।

राज्य की ओर से लाहौर बार के मुख्य एडवोकेट मि० ग्रे की सेवाएँ प्राप्त कर ली गईं। अभियुक्तों की तरफ़ से ला० रोशनलाल, बैरिस्टर-ऐट-ला, दीवान बद्रीदास, एम० ए० और ला० मुन्शीराम पेश हुए। आगे जा कर ला० द्वारिकादास भी शामिल हो गये। मामला एक विशेष न्यायालय (Special Tribunal) के सामने रखा गया। मि० ग्रे के अभिमान के क्या कहने थे? महाराज का वकील होने के कारण वह न्यायालय की किसी भी आज्ञा की पर्वाह नहीं करता था। उस के लिए यह बताने की भी आवश्यकता न थी कि अभियोग का आधार क्या है? गिरिफ़्तारियाँ उस के कथनानुसार राजाज्ञा द्वारा हुई थीं। परन्तु वह राजाज्ञा गुप्त थी और उस का न्यायालय में लाया जाना राज-हित के विरुद्ध था। न्यायाधीशों के अनुरोध पर जब वह आज्ञा प्रकट की गई तो ज्ञात हुआ

कि उस में निगृहीत पुरुषों में से ८ के नाम ही नहीं थे। इन में से चार के लिए तो नई आज्ञा ले ली गई और शेष चार को बिना मामला चलाए मुक्त कर दिया गया। लगभग दो महीने वे मुफ़्त में बँधे रहे। ३० अभियुक्तों पर से मुक़द्दमा उठा लिया गया। इन में से एक सज्जन ऐसे थे जिन के घर उन की अनुपस्थिति में प्रसव हुआ। बच्चा तो पूरी देख-रेख न होने के कारण झट मर गया और उस की माता बीमार रह-रह कर पति की राह देखने लगी। उस के पति बैजनाथ, बी० ए०, बी० टी० की ज़मानत के लिए लाख प्रयत्न हुए परन्तु किसी ने सुना ही नहीं। और अब बिना अभियोग चलाए वे मुक्त कर दिये गये। बेचारे की पत्नी ख़्वाह-मख़्वाह ख़राब हुई। बच्चे की जान वार्बर्टन साहब के नख़रों पर न्यौछावर हो गई। एक और अभियुक्त के बालक की आँखें जाती रहीं। एक की माता का देहान्त हो गया। एक की लड़की अतिसार से सख़्त बीमार हो गई। एक के चचा और पत्नी की मृत्यु हो गई। कारण यह कि इन का देखने वाला कोई न था। इन गिरिफ़्तारियों के कारण शहर में ऐसा त्रास छाया कि स्त्रियाँ किसी भी अपरिचित को देखते ही अंदर भाग जाती थीं।

अभियुक्तों में मुख्य ला० ज्वालाप्रसाद स्टेट ऐंजिनियर थे। इन की सेवाएँ यू० पी० सरकार की ओर से पटियाला को उधार दी गई थीं। अभियोग की समाप्ति के पश्चात् ये फिर यू० पी० में ऐंजिनियर हो गये और अपनी योग्यता के कारण उन्नति को प्राप्त होते गये यहाँ तक कि

पिछले दिनों चीफ़ एंजिनियर के पद से रिटायर हुए हैं। ला० नन्दलाल तथा ला० मुरारीलाल P. W. D. में थे। इन्हों ने मि० वार्बर्टन के कुछेक कार्यों पर आपत्ति उठाई थी। अभियोग के पश्चात् ला० नन्दलाल गुरुकुल के सहायक मुख्याधिष्ठाता हो गये और ला० मुरारीलाल कार्यालयाध्यक्ष। गुरुकुल की कार्यालय-सम्बन्धी क्षमता इन्हीं दो महानुभावों की दक्षता का परिणाम है। एक और निर्वासित पुरुष म० लक्ष्मणदास थे। ये गुरुकुल विद्यालय के मुख्याध्यापक हो गये।

अभियोग का आधार कुछ पुस्तकें तथा पत्र पत्रिकाएँ थीं। एक कुमार-सभा का नाम लिया गया जो आचार-सुधार सभा में परिणत हो गई थी। तलाशियाँ बहुत किंडी हुई। अभियुक्तों के घर में पुस्तकों तथा काग़ज़ों के छकड़े भर-भर कर लाये गये परन्तु उन में थे "प्रकाश", "सद्धर्म-प्रचारक" तथा "इन्द्र" आदि के अंक, कुछ धार्मिक पुस्तकें, और कुछ निजू पत्र-व्यवहार। सत्यार्थप्रकाश की अनेक प्रतियाँ उठा ली गईं।

मि० ग्रे को मानना पड़ा कि इन पत्रों का मँगाना अपने आप में अपराध नहीं परन्तु। दण्ड-नीति की किसी विशेष धारा के नीचे ये कार्य नहीं आते परन्तु। न्यायालय को घटनाओं नहीं, उनकी प्रवृत्तियों पर ध्यान देना चाहिए। नियमों का विस्तृत अर्थ लेना चाहिए इत्यादि-इत्यादि।

एक म० रामदास के व्याख्यानों पर बड़ा आक्षेप था। कहा गया कि वह अजीतसिंह आदि के साथ विदेश भाग

गया है। परन्तु वह गिरिफ़्तार हो चुका था और अब बिना मामला चलाए उसे छोड़ दिया गया।

१२ जनवरी को पंजाब के लाट साहब का एक पत्र पंजाब के पत्रों में प्रकाशित हुआ। यह पत्र लाहौर समाज के प्रधान मा० दुर्गाप्रसाद के पत्र के उत्तर में लिखा गया था। उस में यह स्पष्ट घोषणा कर दी गई कि सरकार आर्य समाज को विद्रोही समाज नहीं समझती और उस की इच्छा इस पर समुदाय-रूप में मुक़द्दमा चलाने की नहीं है।

इस चिट्ठी के लिखे जाने के चार ही दिन पीछे अर्थात् १६ जनवरी को ला० ज्वालाप्रसाद से पटियाला सरकार के विश्वस्त पुरुष मिलने लगे। उन्हों ने कहा कि यदि अभियुक्त क्षमा-याचना कर लें तो अभियोग हटा लिया जायगा। इस क्षमा-याचना का मसविदा तय्यार हुआ। इस मसविदा के तय्यार करने में मुख्यतया आचार्य रामदेव का हाथ था जो पटियाला के अभियोग के आरम्भ में ही सर्वदा महात्मा जी के साथ रहे। और भारत के समाचार पत्रों में जो आन्दोलन होता था, उसके सूत्रधार यही थे। वादी की ओर से कई नियम भंग किए गए जिन का सविस्तृत वर्णन महा० मुन्शीराम और आचार्य रामदेव लिखित पुस्तक में किया गया है जिस का वर्णन पूर्व आ चुका है। पटियाले का अभियोग सन्देह की नीति का परिणाम था और आर्य समाजियों के धर्म-प्रेम की कड़ी परख थी। सारे आर्य जगत् में सनसनी फैल गई। स्वयं अभियुक्तों ने और विशेषता श्री नन्दलाल ने अपूर्व

साहस दिखलाया। पटियाला राज्य ब्रिटिश सरकार को पता लग गया कि आर्य समाज यद्यपि सामाजिक रूप से प्रचलित राजनीति में भाग नहीं परन्तु यदि उन के धार्मिक अधिकारों पर चोट लगती दृष्टिगोचर हो तो आर्य जनता हर प्रकार के बलिदान के लिए तय्यार हो जाती। इस दृष्टि से देखा जाय तो यह अभियोग भी आर्यों के लिए एक प्रकार का अमृत का प्याला था।

मि० ग्रे के शब्दों में आरोपितों ने अपना अपराध स्वीकार किया ही नहीं। केवल सम्भावनाओं के लिए दुःख प्रकट किया और विश्वास दिलाया कि आगे को अधिक सावधान रहेंगे। इस के बदले में आश्वासन तो यह दिलाया गया था कि उन्हें फिर से अपनी पूर्वावस्था पर पहुँचा दिया जायगा। इस की प्रतीक्षा महीना-भर होती रही। महाराज इस बीच में बहावलपुर जा कर पंजाब के गवर्नर महोदय से मिल आये। आखिर १७ फ़रवरी १९१० को आरोपितों का आश्वासन स्वीकार हुआ। उन पर से अभियोग उठा लिया गया किन्तु केवल इस लिए कि "हमारे राज्य में ऐसे पुरुष नहीं रहने चाहिएँ जिन के विरुद्ध ज़रा भी राज-विद्रोह का सन्देह किया गया हो" उन्हें तुरन्त रियासत-निकाला दे दिया गया। कुछ समय बीतने पर पटियाला निवासियों के लिए यह आज्ञा भी लौटा ली गई। इस से स्पष्ट हो गया कि वह अभियोग सर्वथा निराधार था।

समाज के लिए गर्व की बात यह थी कि इन आपत्तियों में सामाजिक लोग प्रायः भयभीत तथा निरुत्साह

नहीं हुए। महात्मा मुन्शीराम ने अपने १६१० के व्याख्यान में सुनाया ही तो था कि जब वे मुक़द्दमे की पैरवी के लिए पटियाले गये तो गिरिफ्तार हुए-हुए आरोपितों ने उन्हें सन्देश भेजा कि आप हमारी नहीं, अपने स्वास्थ्य की चिन्ता कीजिये। निर्भीकता की यह पराकाष्ठा थी। और तो और, समाज के चपरासी पर पोलीस ने दबाव डाला कि इन निगृहीतों के विरुद्ध कुछ कह दे। वह घोर विपत्ति में रहा परन्तु असत्य कहने को तय्यार नहीं हुआ। यह भी समाज के चपरासी तक की शान !

आर्यों के अदम्य उत्साह के सम्मुख सन्देह के, संशय के, संकट के सभी बादल अपने आप हट गये। व्यापक विपत्ति की इस चलनी में खोटे-खरे की परख भी खूब हुई। जहाँ समाज अपने सामूहिक रूप में निर्भीक सिद्ध हुआ, वहाँ कुछ काली भेड़ें हल्ले में पड़ कर अपने आप छँट गईं। यन्त्रणा की आग में पड़ कर सोना कुंदन हो गया और मुलम्मा मुलम्मा रहा।

आर्य समाज अग्नि-परीक्षा में पड़ा और विशुद्ध कुन्दन सिद्ध हुआ। इस से, आगे की सफलताओं की तय्यारी हुई। एक निर्बल समूह ने कड़ी कठिनाइयों का सामना किया और उन्हें अभिभूत कर अपने आन्तरिक बल की परिचिति प्राप्त की। अब वह नये अखाड़ों में उतर सकता था; नये शत्रुओं को चुनौती दे सकता था। अब वह देश की सभी बड़ी शक्तियों से दस्त-पंजा कर चुका था। ऋषि के निर्वाण ने उसे तर्क की भट्टी में डाला और उस पर आँच न आई।

विधर्मी शास्त्रार्थ में परास्त हो कर शस्त्रार्थ पर उतर आए। उन्हों ने खण्डन मण्डन में ज़ियादती स्वयं की पर दोष आर्य समाज पर लगाया। मारते भी थे, रोते भी। उन्हों ने कई बार अदालत का द्वार खटखटाया पर वहाँ भी सत्य के सम्मुख वे हार गये। जब यह दाँव भी न चला तो हिंसा पर उतर आए। आर्यों ने हँसते-हँसते प्राण दे दिये पर अपने प्रण पर क़ायम रहे। विपक्षियों का अन्तिम हथियार था विद्रोह का आरोप। उसे पहिले तो किसी ने सुना ही नहीं पर एक ही बात को फिर-फिर दोहराते जाओ, अन्त को वह सच्ची प्रतीत होने लगती है। कान असत्य का प्रमाण अपरिचय ही को मानता है। कोई नई बात विश्वास के योग्य नहीं होती। ज़रा पुरानी हो जाय, कान उस के अभ्यस्त होने लगें, वह धीरे-धीरे विश्वास के योग्य होने लगती है। "विद्रोही" आर्य समाजियों के गुण ही एकाएक अवगुण हो गए। उन पर यत्र-तत्र सन्देह होने लगा और उन के सामने जीवन और धर्म का विकल्प रख दिया गया। उन्हों ने जीवन को धर्म पर न्यौछावर किया। ऐहिक सुख छोड़े और परलोक को पसन्द किया। यही धर्म की पहचान थी। इस अभियोग ने आर्य समाज को कई उत्साही कार्य-कर्त्ता दिये। गुरुकुल के कार्यकर्त्ताओं का नाम ऊपर आ चुका है। लुधियाना समाज के प्रधान डा० बख़्तावरसिंह तथा देहली के ला० नारायणदत्त इसी बवण्डर की देन हैं। ऋषि के भक्त ऋषि ही के रास्ते पर जा रहे थे। यह आर्य समाज की सामूहिक दीपमाला थी, सामूहिक मृत्यु-विजय।

पटियाले का दूसरा अभियोग

"खालसा पंथ की हक़ीक़त"

दूसरे धर्मों के अनुयायियों की तरह सिख भी आर्य समाज के विरुद्ध लिखित तथा मौखिक प्रचार करते रहते थे। उन्हों ने आर्य धर्म के विरुद्ध दर्जनों पुस्तकें प्रकाशित

कीं। समाचार-पत्रों में प्रकाशित किये गये उन के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि वे अत्यन्त अश्लील थीं। उस समय विरोधियों के आक्षेप का सब से बड़ा निशाना "नियोग" था। नियोग पर उन्हों ने कई पुस्तकें लिख कर प्रकाशित कराईं। ऋषि दयानन्द के वंश तथा जीवन पर उन पुस्तकों में निराधार तथा असत्य लांछन लगाये गये थे।

भिदौड़ आर्य समाज के प्रधान म० रौनक़राम शाद उर्दू के कवि तथा अच्छे गायक थे। वे अपनी कविताओं तथा गीतियों के द्वारा आर्य-धर्म का प्रचार करते रहते थे। आजीविकार्थ वे दूकानदारी करते थे। पटियाले के राज-विद्रोह के अभियुक्तों में वे भी थे।

सिखों की पुस्तकों के उत्तर में म० रौनक़राम ने "खालसा पंथ की हक़ीक़त" नाम से पुस्तक लिखी। वह छः मास तक बाज़ार में बिकती रही और उस का अच्छा प्रचार हुआ। एक अध्याय में नियोग का प्रकरण था। उस में स्वयं सिखों के इतिहास से सिद्ध करने का यत्न किया गया था कि गुरु महाराज उस आपद् धर्म के विरोधी न थे। इस उल्लेख को आधार बना कर स० मानसिंह ने आन्दोलन करना आरम्भ किया कि म० रौनक़राम ने सिख धर्म का अपमान किया है। उन्हों ने इस

पुस्तक की बहुत-सी प्रतियाँ सिंह-सभाओं आदि में भेजीं। अन्त को लायलपुर के "लायल-गज़ट" ने एक

म० रौनकराम तथा म० विश्वम्भरदत्त

उत्तेजना-पूर्ण लेख लिखा और सब ओर से पुस्तक के विरुद्ध प्रतिवाद होना आरम्भ हो गया। अन्ततः २३ जून १९१४ को म० रौनक़राम को गिरफ़्तार कर हवालात में ठाँस दिया गया। इस के १५ दिन पश्चात् म० विश्वम्भरदत्त को जो भिदौड़ से चार कोस की दूरी पर स्थित एक ग्राम के आर्य सभासद थे, निगृहीत कर हवालात में डाल दिया गया। अभियुक्तों को यह भी न बताया गया कि उन का अपराध क्या है? म० रौनक़राम की दूकान की तलाशी लेते हुए पोलिस ने कहा जाता है कि कई अनियम पूर्वक कार्य किये।

१६ अगस्त को अर्थात् गिरिफ़्तारी के एक मास पश्चात् ख़ाँ बहादुर मौ० फ़ज़ल-इ-मतीन के सामने अभियुक्तों की पेशी हुई। फज़ल-इ-मतीन नाज़िम थे। उनके पास और काम भी पर्याप्त था। वे यथावकाश इस मामले को सुनने लगे। ज़मानत के लिए प्रार्थना-पत्र दिये गये परन्तु वे स्वीकार नहीं हुए। १० मास तक मुक़द्दमा चला। अभियुक्तों की ओर से ला० रौशनलाल, ला० वज़ीरचन्द और ला० पृथिवीचन्द वकील थे। ला० पृथिवीचन्द बर्नाले में रहते थे। वे भी राज-विद्रोह के पिछले अभियोग में पकड़े गये थे और तभी से उन्हों ने रियासत की सेवा छोड़ अपना स्वतन्त्र कार्य आरम्भ कर दिया था। अभियोग की सारी तय्यारी उन्होंने और न्यायालय की बहस ला०वज़ीरचन्द ने की। ला० वज़ीर-चन्द रावलपिंडी से पटियाले जाते थे। यात्रा के कष्ट के अति-रिक्त वे अपने वकालत के कार्य का भी बड़ा हर्ज करते थे। लाला जी उन्हीं ला० रलाराम के सुपुत्र हैं जिन्होंने गुरुकुल

की पहिली नियमावली लिखी थी। लाला जी की बहस खूब तर्क-युक्त तथा पाण्डित्य-पूर्ण थी । कुछ सिखों ने अभियुक्तों के पक्ष में साक्षी दी । वे अपनी पुस्तकों का ठीक वही अर्थ करते थे जो म० रौनक़राम। ज्यों-त्यों कर के दस मास बीते और अदालत ने निश्चय लिया कि अभियुक्त अपराधी हैं। उन्हें एक-एक वर्ष का कारावास और दो-दो सौ रुपये जुर्माना और यदि जुर्माना अदा न हो तो चार-चार मास और कारावास का दण्ड दिया गया । पटियाला से बाहर के प्रत्येक वकील से जो प्रति पेशी २०) कर लिया गया, वह इस के अतिरिक्त था। अपील की गई पर उस से कुछ लाभ नहीं हुआ।

मुकद्दमा लड़ने का लाभ यह हुआ कि आर्य जनता ने एक बार फिर सिद्ध कर दिया कि यदि उनके भाई तकलीफ़ में हों तो उनका साथ नहीं छोड़ते और उनको न्याय दिलाने का यत्न करते।

ला० वज़ीरचन्द की बहस से यह भी प्रमाणित हो गया कि सिख पंथ कोई सर्वथा नया आविर्भाव नहीं था। वह सनातन आर्य धर्म में सुधार का एक प्रयत्न था। अग्निहोत्र, यज्ञोपवीत आदि संस्कार स्वयं गुरुओं ने किये थे। उन का रहन-सहन, चाल-ढाल सब उस समय के हिन्दुओं ही की थी। उन के विवाह तथा दाय-भाग के नियम भी वही थे। हिन्दुओं से सिखों की पृथक् सत्ता स्थापित करने का यत्न नया है। श्री गुरु नानकदेव जी महाराज का भाव वही था जो पुराने ऋषियों मुनियों का

था। और उन्हों ने अपने समय के हिन्दुओं का ध्यान प्राचीन ऋषियों के मार्मिक सिद्धान्तों की ओर खेंचा था। रहत-नामों तक आर्य शास्त्रों से संगृहीत हैं। नियोग के सम्बन्ध में सफाई का यह पक्ष था कि यह रीति अपने विशुद्ध रूप में वही है जो वेद-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित है। यह व्यभिचार नहीं, विशुद्ध संयम है। श्रेष्ठ पुरुषों ने उसी का आचरण किया है। साधारण लोगों ने इसे 'करेवे' का का रूप दे दिया है। यह नियोग का विकृत प्रकार है।

एक साधारण विरोध ने किस प्रकार साम्प्रदायिक झगड़े का रूप धारण कर लिया? किस तरह दो मित्र-समुदाय एक दूसरे के अमित्र हो गए। एक समाचार-पत्र ने ज़रा सी चिनगारी फेंक कर चारों ओर आग लगा दी। जो नेताओं के प्रयत्न करने पर भी नहीं बुझी। ये सब ऐसे तथ्य हैं जो इस अभियोग के पन्ने-पन्ने पर अंकित हैं। आर्य समाज के नेताओं ने कई बार प्रस्ताव किया कि दोनों ओर के मुख्य पुरुषों को बुला कर आपस में निर्णय कर लो परन्तु इस शान्ति-मय प्रस्तावों को उन कोलाहल के दिनों में सुनता ही कौन था। अदालत का दृश्य भी देखने के लायक था। ला० वजीरचन्द अभियोगियों की युक्तियों का का प्रतिपादन भी करते जाते थे और हँस-हँस कर चोटों को सहते जाते थे। 'भगवान् दयानन्द' के सम्बन्ध में उनके उस समय के भक्ति के उद्गार आज भी पाठक के हृदय को द्रवीभूत कर देते हैं। यह अभियोग भी आर्य समाज के इति-

हास एक भाग इस लिए बन गया कि यह पटियाले में हो आर्य समाज की दूसरी परीक्षा थी।

प्रचार-कार्य

आर्य समाज का प्रचार-क्षेत्र बढ़ता जा रहा था। वेद-प्रचार निधि के पृथक् स्थापित हो जाने से इस कार्य की प्रगति स्वभावतः अधिक तेज़ हो गई। जैसे हम "सभा के प्रबन्ध" के प्रकरण में दिखाएँगे, इस निधि की आय उत्तरोत्तर बढ़ती गई जिस के परिणाम-स्वरूप उपदेशकों की संख्या और उन के कार्य की मात्रा भी बढ़ गई। मुन्शीराम-काल में स्वयं महात्मा मुन्शीराम तो गुरुकुल के आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता हो गये। इन के द्वारा स्थापित की गई वेद-प्रचार निधि अन्य योग्य हाथों में थी।

१८९८–९९ में प्रो० शिवदयालु, एम० ए० मन्त्री निर्वाचित हुए। मास्टर जी के शिमला-प्रचार का वर्णन हम लेखराम-काल में कर ही चुके हैं। इन के मन्त्री बनते ही समाचार आया कि मद्रास में शनार और मारवाड़—इन दो जातियों का, मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध में, झगड़ा हो गया है। साधारण वैमनस्य से आरम्भ कर यह कलह दंगे का रूप

धारण कर गया और उस में सहस्रों मनुष्यों का प्राणान्त हो गया। लाखों का माल-असबाब नष्ट हुआ। प्रतिनिधि सभा ने अपने मन्त्री को इस मामले की जाँच कर रिपोर्ट करने के लिए मद्रास भेजा। इन्हों ने बम्बई, हैदराबाद, सिकन्दराबाद, मद्रास, त्रिचनापली, मदुरा आदि स्थानों में व्याख्यानों तथा ट्रैक्टों द्वारा प्रचार किया। त्रिचनापली में समाज स्थापित हो गया। पं० गंगादत्त भी इस यात्रा के बीच में मदुरा में मास्टर जी के साथ जा मिले। सभा की अपील पर पेशावर समाज ने ११००) एकत्रित कर दिया जिस से सत्यार्थप्रकाश के मा० दुर्गाप्रसाद कृत अनुवाद की प्रतियाँ मद्रास में वितीर्ण की गईं और श्रीयुत सोमनाथ राव को उधर के लिए उपदेशक नियत किया गया। ये महानुभाव तेलगू भाषा के पण्डित हैं। आगे जा कर इन्हों ने तेलगू भाषा में सत्यार्थप्रकाश का उलथा किया। इस शुभ उद्योग द्वारा मद्रास-प्रचार की नींव पड़ी। १६११ में प्रो० रामदेव वहाँ गये। समाज तो वहाँ स्थापित था परन्तु काम नहीं हो रहा था। अब के दो उपदेशक वहाँ रखे गये।

१६०३ में देहली में लार्ड कर्ज़न का दर्बार हुआ। वहाँ सब प्रान्तों के सहयोग से प्रचार का प्रबन्ध किया गया। एक डेपुटेशन राजा-महाराजाओं की सेवा में उपस्थित हुआ और उन्हें उस ने आर्य समाज का साहित्य भेंट किया। इस अवसर पर सर्व धर्म-सम्मेलन की भी आयोजना की गई।

प्रचारक कुछ तो पुराने ही चले आते थे। माई भगवती का देहान्त १८९९ में हुआ। पं० आर्यमुनि ने उपनिषदों,

दर्शनों, रामायण, गीता आदि का भाष्य कर आर्य सामाजिक साहित्य की श्रीवृद्धि की। मा० आत्माराम का "वैदिक विवाहादर्श" इसी काल में लिखा गया। स्वा० नित्यानन्द तथा स्वा० विश्वेश्वरानन्द ने १९०५ में अपनी प्रसिद्ध वेदों की पदानुक्रमणियों का प्रणयन आरम्भ किया। ये स्वामी जी कई बार पंजाब पधारे। १९०४ में इन्हों ने सनातन धर्म के पं० जगत्प्रसाद का अंबाले से शिमले तक
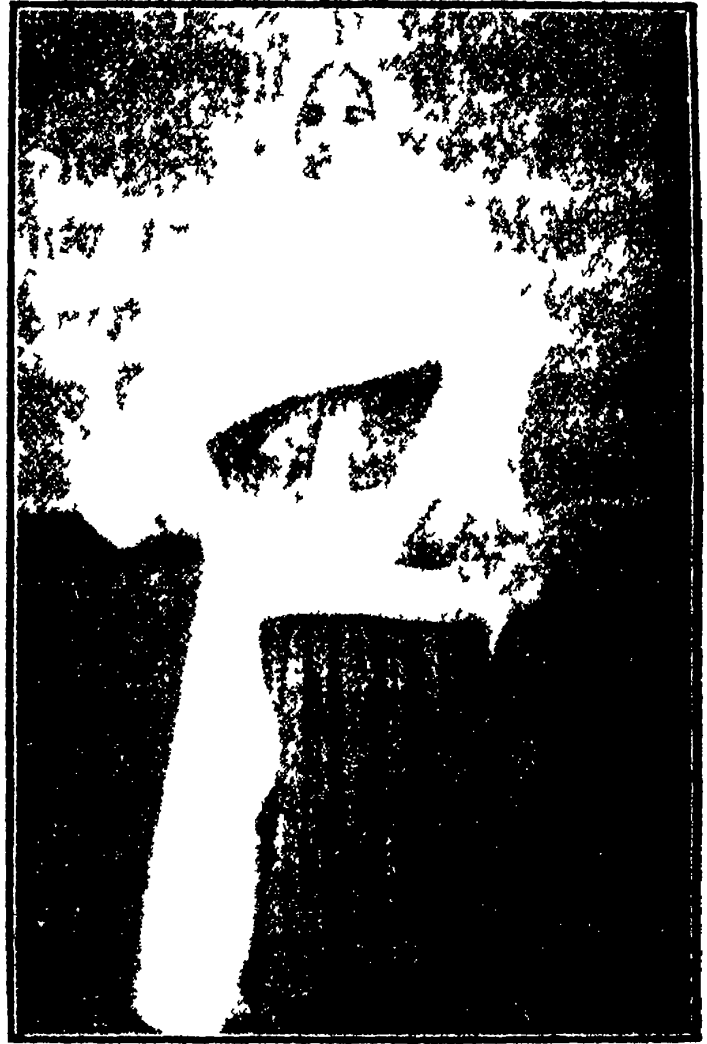
माई भगवती

पीछा किया और वहाँ उन के द्वारा बुलाये गये सनातन धर्म के पंडितों से शास्त्रार्थ कर वैदिक धर्म की विजय पताका फहराई। १९०३ के देहली दरबार में ये स्वामी जी भी उपस्थित थे। ये वहाँ की सब आयोजनाओं के अगुआओं में थे। १९०५ में रावलपिण्डी के ला० कृपाराम साहनी द्वारा बनवाये गये २०,०००) की लागत के समाज मन्दिर का प्रवेश-संस्कार इन्हों ने कराया। १९१४ में इन स्वामी जी का देहान्त हो गया।

आर्य समाज के दो विभागों में विभक्त हो जाने की कहानी हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। हम कह आये हैं कि आर्य समाज में एक समुदाय ऐसा था जो सिद्धान्तों के संबन्ध में उस समय के नेताओं की नीति तथा वैयक्तिक आचरण से असन्तुष्ट था। क्रान्ति का मूल-कारण वही लोग थे। ग्राम चौरासी के डा० चिरंजीलाल उन युवकों में से एक थे। वे आर्य समाज में अत्यन्त कट्टरता के पक्षपाती थे। समाज के विभक्त हो जाने पर वे धर्मात्मा-दल के साथ हो गये परन्तु इस दल के धार्मिक तथा सामाजिक व्यवहार से भी वे सन्तुष्ट नहीं थे। और जब पं० लेखराम के बलिदान के पश्चात् दोनों दल एक हो गये तो उन्हें आर्य समाज से पृथक् हो कर स्वतन्त्र आन्दोलन करने का एक युक्ति-युक्त कारण मिल गया। उन का यह कथन यथार्थ था कि मेल किसी सिद्धान्त के नहीं, केवल भावना ही के आधार पर हुआ है। आर्य समाज का नेतृत्व बिना किसी नैतिक परिवर्तन के उन्हीं पुराने नेताओं के हाथ में दे दिया गया है। दूसरे शब्दों में लेखराम के बलिदान के अवसर पर पैदा हुए श्मशान-वैराग्य ने पं० गुरुदत्त के देहान्त के समय की क्रान्ति पर पानी फेर दिया है। इन लोगों का यह प्रबल मत था कि आर्य समाज से पर्दे की प्रथा हट जानी चाहिए। कई स्थानों पर इन युवकों ने वे चिकें, जो पर्दे के लिए लाई गई थीं, उत्सव के बीच ही में गुम कर दीं। प्रबन्धक परेशान हुए पर तात्कालिक सुधार तो हो ही गया। ये लोग स्त्री-पुरुष दोनों को सामाजिक जीवन में

बराबर का साथी बनाने के पक्षपाती थे। ये चाहते थे कि आर्य घरों में संस्कार पूर्ण वैदिक रीति से हों। उन में पौराणिकता का कोई अंश न रहे इसके लिए आवश्यक था कि स्त्री पुरुष सभी कट्टर सामाजिक हों। आर्य सामाजियों के विवाह आर्य सामाजियों ही में हों। ऐसा न होने की अवस्था में गंगा-जमनी चलनी स्वाभाविक थी। जात-पात के ये विरोधी थे। विधवा-विवाह को ये शूद्रों के लिए विहित समझते थे। सार यह कि ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों तथा सिद्धान्तों के अक्षर-अक्षर का अनुकरण ही इस समुदाय का ध्येय था। आर्य समाज को इस ध्येय के सम्बन्ध में इन्होंने अपने विचार से अनुचित समझौता करता देख, अपना एक अलग संघ-सा स्थापित कर लिया। उसके लिए प्रवेश-संस्कार रचा गया जिसका आरम्भ सिर मुँड़ाने से होता था। लोग अपने पिता-माता के देहान्त पर सिर मुँड़ाते थे। उन्हीं दिनों आर्य समाज के एक प्रमुख पुरुष ने ऐसा किया भी था। प्रवेश संस्कार की यह विधि उस पौराणिक रीति के विरुद्ध क्रियात्मक प्रतिवाद का एक अत्यन्त प्रचण्ड रूप थी। लोगों ने इस संघ का नाम ही "सिरमुन्नी" सभा रख दिया जिसका संशोधित संस्कार "आर्य शिरोमणि सभा" हुआ। संस्कार के साथ दीक्षार्थी का नाम भी बदल दिया जाता था। डॉ० चिरंजीलाल का नाम चिरंजीव भारद्वाज रखा गया। नौनदराय धर्मवीर बने। ये महानुभाव आजकल लाहौर के एक प्रसिद्ध डाक्टर हैं। गुरुबख्शसिंह को गुरुदेव, राधाकृष्ण को लक्ष्मवीर तथा

लब्भूराम को महावीर बना दिया गया। कुछ दिनों यह बात चली परन्तु इस समुदाय के नेता प्रायः इंगलैंड चले गये और उनकी अनुपस्थिति में वह पहिला-सा उत्साह जाता रहा। विलायत जाने से पूर्व डॉक्टर जी ने बड़ोदा में ढढ परिवारों को आर्य समाज में प्रविष्ट किया था। इसका वर्णन ऊपर दलितोद्धार प्रकरण में हो चुका है।

डॉ० चिरंजीव के चले जाने पर शिरोमणि सभा का स्थान आर्य-भ्रातृ सभा ने ले लिया। मा० रामदास (जिन का नाम पीछे रामदेव हुआ) इस सभा के जनरल सेक्रेटरी थे। पं० पूर्णानन्द इसके एक उत्साही सदस्य थे। विधुर हो जाने पर उनका दूसरा विवाह हुआ। उन्होंने यह विवाह एक विधवा से किया। पं० पूर्णानन्द जी आर्य समाज के उपदेशकों में एक विशेष स्थान रखते थे। अधिकारी गण उनको बड़े मान्य की दृष्टि से देखते थे। महात्मा मुन्शीराम के तो वे मित्र थे। आर्य समाज पर दीवान थे और वैदिक-धर्म प्रचार के लिए सदा उत्सुक रहते थे। वे लगातार समाज की सेवा करते रहे और मरते समय आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को ही अपनी सन्तान का संरक्षक बनाया।

डॉ चिरंजीव ने विलायत में रहते हुए सत्यार्थ प्रकाश का अंग्रेज़ी अनुवाद करने की आवश्यकता समझी। छटे समुल्लास के उल्थे में एक सैनिक मित्र की सहायता ली। सातवें समुल्लास से आगे का उल्था विलायत से आ कर मा० रामदेव की सहायता से पूर्ण किया और १९०६ में उसे

प्रकाशित करा दिया। आज यह उल्था आर्य समाज के आंगल-भाषा के साहित्य का एक महत्व-पूर्ण भाग है।

१६०४ में विलायत से लौट कर डॉक्टर जी ने शिरोमणि सभा को पुनरुज्जीवित किया। परन्तु अब वह चल नहीं सकी। इस बार इस सभा के मन्त्री म० धर्मपाल बने। ये पहिले मुसलमान थे। इन की शुद्धि का वर्णन हम आगे चल कर करेंगे। डॉक्टर जी अपने विचारों को किस प्रकार झट क्रियान्वित कर देते थे—इस का एक उदाहरण इस नवार्य का मन्त्री बनाया जाना था। धर्मपाल डॉक्टर जी के घर खुला आता जाता था। उस से ये किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखते थे। यह और बात है कि वह इस विश्वास का पात्र नहीं निकला। डॉक्टर चिरंजीव विलायत से आ कर लाहौर आर्य समाज के प्रधान हो गये। वे अपने स्वभाव के अनुसार आर्य समाज में भी कट्टरता लाये। इस समय की एक घटना से उन के चरित्र-बल का .खूब परिचय मिलता है। उन की प्रधानता में आर्यों तथा मुसलमानों का शास्त्रार्थ हो रहा था। आर्य वक्ता ठीक उत्तर नहीं दे रहे थे। डॉक्टर जी से कहा गया कि उन की आवाज़ के दोष का बहाना कर किसी और को खड़ा कर देना चाहिए। डॉक्टर जी ने वक्ता तो तुरन्त बदल दिया परन्तु उस का कारण यही बताया कि उन का भाषण सन्तोष-जनक नहीं है। इस के फल-स्वरूप उन को सख़्त विरोध का सामना करना पड़ा परन्तु वे यह बात सुन ही नहीं सके कि आर्य समाज का प्रधान असत्य-भाषण करे। इन के समय में समाज आदि

के नियमों का कट्टरता से पालन होता था।

डा० जी नखसिख आर्य समाजी थे। पं० गुरुदत्त के शिष्यों में से थे। अष्टाध्यायी पर मस्त। कई बार प्रातः काल उठ कर कई अध्यायों का पारायण किया करते थे। वे गुरुकुल के भक्त थे। एक बार वे गुरुकुल में सेवा के लिए भी चले गए थे। दूसरी बार वे फिर जाने को तय्यार हो गए परन्तु गुरुकुल से असम्बद्ध ऐसे कई कारण थे जिन्होंने उस की इच्छा को पूर्ण नहीं होने दिया।

१६१० में डॉक्टर जी बर्मा चले गये और १६१२ में उन्हों ने मारिशस द्वीप की ओर प्रस्थान किया। वहाँ उन का काम खूब चला। परन्तु वे केवल शरीर के ही चिकित्सक न थे, उन के मन में तो आर्य समाज की लगन ही बल रही थी। चिकित्सा के साथ-साथ उन्हों ने प्रचार का काम भी तन्मयता से किया। दोनों कार्यों में उन्हें अच्छी सफलता हुई। ४५ आर्य समाज बन कर उन की प्रतिनिधि सभा भी स्थापित हो गई। हिन्दी में "आर्य पत्रिका" निकाली गई। पोर्ट लुई के उत्सव में उन्हों ने दान के लिए बाल्टी उठाई और सब से पूर्व अपनी धर्मपत्नी के आगे पेश की। इन्हों ने अँगूठी उतार दी। इन की देखा-देखी और नर-नारियों ने भी दिल खोल कर चन्दा दिया। एक महानुभाव ने पैंसिल पेश की जो नीलाम हो कर ८०) में बिका। एक और महाशय की टोपी के दाम ५०) पड़े। डॉक्टर जी का अपना त्याग संक्रामक सिद्ध हुआ।

प्रचार के कार्य में विरोध होना स्वाभाविक है। व्याव-सायिक स्पर्धाओं ने इस विरोध को और भी तीव्र बना दिया। आखिर डॉक्टर जी को चिकित्सा और प्रचार में चुनाव करना पड़ा। थोड़े ही समय में वे एक उच्च कक्षा के धनी-मानी पुरुष से साधारण सम्पत्ति के साधारण पुरुष रह गये। इस अवस्था में उन का धैर्य प्रशंसनीय था। धन के अभाव में श्रीमती सुमंगली देवी ने सलाह दी कि मारिशस छोड़ दें। डाक्टर जी ने ईश्वर-भरोसे रह जाने की सम्मति दी। इतने में एक प्रसव का केस आ गया जिस से दो सौ रुपया प्राप्त हो गया। ऐसे ही एक अवसर पर इन्हें वैक्सीनेशन का काम मिल गया जिस से निर्वाह चल पड़ा। डॉक्टर जी का ब्राह्मणत्व इस निर्धनता की आग में पड़ कर चमक उठा।

दिसंबर १६१५ में वे मारिशस से लौट आये। अब उन की चिकित्सा का ढंग विशुद्ध वैदिक—पुराने समय के ब्राह्मण वैद्यों का सा—था। उन्हें अब फ़ीस से नहीं, रोगी के रोग की निवृत्ति से ही काम था। निर्धन रोगियों के पथ्यादि का प्रबन्ध भी वे अपने व्यय से कर देते थे।

१६०८ में उन्हें प्रतिनिधि सभा का मन्त्री निर्वाचित किया गया। उन की सैद्धान्तिक कट्टरता ने सभा की कार्य-वाही-पंजिका को फिर से उर्दू से हिन्दी में परिवर्त्तित करा दिया। सभा पर उन के मन्त्रित्व की यह स्थिर छाप है। लाहौर आर्य समाज में एक हज़ार से अधिक आय हो जाना भी उन्हीं के पुरुषार्थ का फल था। उन के प्रधान होने से पूर्व समाज की वार्षिक आय एक हज़ार से ऊपर

नहीं बढ़ती थी। चन्दे की इतनी अधिक वृद्धि का श्रेय उन को और उन के मन्त्री म० कृष्ण को है।

१६१६ में डॉक्टर जी का देहान्त हो गया। लाहौर की जनता इन के उपकारों को याद कर गहरे शोक में निमग्न थी। शारीरिक रोगी इन की शारीरिक चिकित्सा के और आध्यात्मिक रोगी इन के धर्म-प्रेम तथा आध्यात्मिक साहित्य-सेवा के ऋणी थे। डॉक्टर जी के जीवन की साधना सत्य-प्रियता थी। उन्हों ने अपनी सन्तान का नाम भी सत्यव्रत, सत्यकाम और सत्यनिष्ठा रखा। ये उन के सत्य-प्रेम के स्मारक हैं। मारिशस में उन के नाम का एक पुस्तकालय स्थापित है।

१६१६ में स्वा० स्वतन्त्रानन्द जी मारिशस पहुँचे। ये १६०५-६ से प्रचार का कार्य कर रहे थे। संन्यासी होने के कारण इन के लिए आजीविका का प्रश्न ही नहीं था। लुधियाने में संन्यास-सुलभ भिक्षा-वृत्ति से इन्हों ने एक सुदीर्घ काल बिता दिया था। मारिशस में भी इन की वृत्ति एक वीत-राग साधु की ही रही। वहाँ से भारत लौट कर यहाँ की प्रजा को वेद का सन्देश सुनाने लगे। पैदल-यात्रा का इन्हें चसका-सा है। लंबी-लंबी यात्राओं में प्रचार भी करते जाते हैं, ऐतिहासिक गवेषणा भी। इन के व्याख्यानों में ऐतिहासिक कथाओं की भरमार रहती है। उपदेशक विद्यालय का इन का आचार्यत्व वर्तमान-काल की घटना है।

स्वामी सर्वदानन्द जी बस्सीकलाँ (ज़ि० होशियारपुर) में पैदा हुए। इन का जन्म-नाम चन्दूलाल था। ये उच्च

ब्राह्मण-कुल के हैं। इन के पूर्वज हिकमत किया करते थे। ये बाल्यावस्था में शैव थे। एक दिन पुष्प-पूजित शिवलिंग का, कुत्ते द्वारा निरादर होता देख ये शिव-पूजन से उपरत हो गये। इस के पश्चात् वेदान्ती बने। संन्यास का ग्रहण इसी वेदान्त ही की लहर में किया। तब इन की आयु ३२ वर्ष की थी। साधु हो कर घूमने लगे। यात्रा करते-करते चित्रकूट पहुँचे और वहाँ रोग की अवस्था में किसी आर्य समाजी ने इन की जी-जान से सेवा की। जब चंगे हो कर जाने लगे तो उस आर्य भक्त ने रेशमी रोमाल में लपेट कर सत्यार्थप्रकाश भेंट किया और प्रार्थना की कि इस का आद्योपान्त पाठ करने की कृपा करें। वचन-बद्ध, इच्छा न रखते हुए भी इन्हों ने पुस्तक का अध्ययन किया। इस से वेदान्त का विश्वास जाता रहा और ये आर्य समाजी हो गये। फ़ारसी का तो पहिले ही अच्छा अभ्यास था। अब संस्कृत का अध्ययन कर वैदिक धर्म के प्रचार में लग गये। न तो निरन्तर यात्रा से और न निरन्तर भाषण से ही इन का जी ऊबता है। एक-एक दिन में तीन-तीन व्याख्यान और वह भी डेढ़-डेढ़ दो-दो घंटे के, बिना परिश्रम देते चले जाते हैं। स्वामी जी का सब से बड़ा गुण पर्यवेक्षण है। नित्य-प्रति की साधारण घटनाएँ इन के लिए नैतिक शिक्षा रखती हैं।

काली नदी का पुल (डा० खा़० हरदोआ गंज ज़ि० अलीगढ़) में स्वामी जी का आश्रम है। विश्राम करना हो तो वहीं चले जाते हैं। वहाँ अन्य साधु भी निवास करते हैं जिन में से कुछेक स्वामी जी के शिष्य हैं।

सम्भवतः मुन्शीराम-काल की सब से पहिली सफलता स्वामी सत्यानन्द जी का आर्य समाज में प्रवेश हो। इस से पूर्व वे एक जैन गुरु थे। जैन सम्प्रदाय में इन की अच्छी प्रतिष्ठा थी। वे सब साधन ये कर चुके थे जो जैन महात्मा करते हैं परन्तु उन से इन की सन्तुष्टि नहीं होती थी। रह-रह कर ईश्वर का विचार आता था। जब जैन मत को तिलांजलि देने का विचार प्रबल हुआ तो इन्हों ने छः मास तक उस के सम्बन्ध में चर्चा करनी बन्द कर दी और मन ही मन अपने इस संकल्प पर विचार करते रहे। अन्त को दिसम्बर १८९९ में इन्हों ने वैदिक धर्म की दीक्षा ले ली। संन्यासी तो थे ही। साधन-सम्पन्न भी ये आरम्भ ही से थे। आर्य समाज में आ कर इन्हों ने जैन-मत पर ख़ूब प्रकाश डाला। वच्छोवाली समाज में रह कर इन्हों ने पुराणों का अध्ययन किया। फिर वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण तथा महाभारत पर कथाएँ करने लगे। ये कथाएँ आर्य समाज के प्रचार का प्रबल साधन बन गईं।

जगराँव के पं० कृपाराम के प्रचार का वर्णन लेखराम-काल में किया जा चुका है। ये नित्यानन्द नाम से पहिले भी संन्यासी हो गये थे परन्तु इन के पिता इन्हें घर लौटा लाये थे। १९०१ में इन्हों ने फिर संन्यास ले लिया और अब इन का नाम दर्शनानन्द हुआ। प्रचार की लगन इन्हें कहीं चैन नहीं लेने देती थी। यह समाचार मिल जाय सही कि कहीं शास्त्रार्थ होना है, फिर चाहे किसी अवस्था में हों, चल देंगे। इन के शास्त्रार्थ सनातनियों, ईसाइयों, मुसलमानों

तथा जैनों—सब के साथ हुए। सब ने इन की अकाट्य युक्तियों का लोहा माना। देहान्त से दो वर्ष पूर्व इन्हों ने "भारत सुदशा प्रवर्त्तक" में सब धर्मों के विद्वानों को चैलेंज दे दिया था कि चाहे किसी विषय पर किसी भी स्थान में वाद-विवाद कर लें। इस प्रकार जहाँ इन के मौखिक प्रचार में व्यवधान नहीं आता था, वहाँ इन की लेखनी भी अविरत गति से पुस्तकों तथा पुस्तिकाओं की रचना करती जाती थी। "दर्शनानन्द-ग्रन्थमाला" ने अनगिनत प्रचारकों को आर्य समाज के दार्शनिक विचार का पाठ पढ़ाया है।

स्वामी जी का ईश्वर-विश्वास कभी-कभी विचित्र रूपों में प्रकट होता था। शरीर रोगी है परन्तु ये चिकित्सा नहीं करायँगे। संस्था में धन नहीं परन्तु ईश्वर-भरोसे ये उसे चलाये जायँगे। निश्चिन्तता की इस विधि का अनुसरण कर इन्हों ने अनेक गुरुकुलों की सृष्टि कर डाली। ११ मई १९१३ को इन का प्राणान्त हो गया। ये कई महीनों से रोगी थे परन्तु औषधि-सेवन नहीं करते थे। इन की दृष्टि में औषधि-सेवन का अर्थ था ईश्वर में अविश्वास।

पं० गणपति शर्मा का देहान्त १९१२ में हुआ। ज्वालापुर महाविद्यालय के एक उत्सव के अवसर पर इन्हों ने अपनी धर्मपत्नी के सभी भूषण दान कर दिये। एक बार १०३ दर्जे के ज्वर में भी व्याख्यान दे रहे थे कि किसी ने रोका। इन्हों ने उत्तर दिया—यदि प्रचार करते-करते शरीर छूट जाय तो इस से अच्छी और क्या सद्गति हो सकती है?

पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ पहिले तो उपदेशक रहे और फिर गुरुकुल में वेद के उपाध्याय नियत किये गये। पण्डित जी ने वेद-तत्व-प्रकाश नाम से एक ग्रन्थमाला की रचना की। इस में ओंकार-निर्णय, श्राद्ध-निर्णय, त्रिदेव-निर्णय, जाति-निर्णय, वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय—ये पुस्तकें प्रकाशित हुईं। पण्डित जी की ये कृतियाँ आर्य साहित्य का एक पाण्डित्य-पूर्ण अंग हैं। पण्डित जी पीछे जा कर रुग्ण हो गये और सभा उन्हें सहायता देती रही।

पं० हरनामसिंह एक बड़े डील-डौल के आर्य उपदेशक थे। इन के व्याख्यान प्रायः ब्रह्मचर्य पर होते थे। इन के शरीर का तेज इन के व्याख्यानों को चमका देता था। एक बार ज़ि० करनाल के वहानूखेड़ी नामक ग्राम में प्रचार कर रहे थे कि एक ग्यारह वर्ष की लड़की का विवाह एक ६५ वर्ष के वृद्ध से होने का समाचार मिला। लड़की तथा उस की माता इस विवाह के विरुद्ध थीं। उन्हों ने द्वार बंद कर लिया और बरातियों को खाली-हाथ लौटना पड़ा। पण्डित जी ने अपने व्याख्यानों से हवा ही ऐसी बाँध दी कि जनता इस विवाह के विरुद्ध हो गई। लड़के (?) वालों ने अवसर पा कर इन्हें लाठियों से पीटा परन्तु ये अपने विरोधी आन्दोलन से नहीं हटे। फिर उन्हों ने घूस द्वारा इन्हें वश में करना चाहा। इन पर यह दाँव भी नहीं चला। वह अनमेल विवाह नहीं हुआ, नहीं हुआ। पं० हरनामसिंह के प्रचार-प्रकार का उदाहरण यह चिर-स्मरणीय घटना है।

राय ठाकुरदत्त धवन राय पैड़ाराम के भाई थे। ये भी सरकार की मुलाज़िमत में थे। पहिले ई० ए० सी० थे, फिर जज हो गये। इन के लिखे "वैदिक धर्म प्रचार" नामक ग्रन्थ का ऊपर वर्णन आ चुका है। वेद के स्वाध्याय में इन्हें विशेष अनुराग था। "पब्लिक स्पिरिट" नाम से अँग्रेज़ी भाषा में लिखी गई इन की "संगच्छध्वं संवदध्वम्" इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या बहुत पसंद की गई। इन के सभी उपदेश वेद-मन्त्रों की व्याख्या के रूप में ही होते थे।

पं० पूर्णानन्द तथा स्वा० योगेन्द्रपाल इस काल के प्रसिद्ध शास्त्रार्थी हैं। पंडित जी सनातन-धर्मियों और स्वामी जी मुसलमानों से स्थान-स्थान पर लोहा ले रहे हैं।

लेखराम-स्मारक निधि के उपदेशक हकीम सन्तराम तथा पं० हरनामसिंह हैं। पं० रामरत्न एक सरल स्वभाव प्रचारक हैं। इन का बे-लाग जीवन अपने आप धर्म का क्रियात्मक प्रसार कर रहा है।

पं० लेखराम की स्मृति में एप्रिल १८९७ ही में "आर्य मुसाफ़िर" का प्रकाशन स्वीकार कर लिया गया था। पहिले यह पत्र "सद्धर्म-प्रचारक" के परिशिष्ट के रूप में निकाला गया। इस के संपादक ला० बदरीदास, एम० ए० थे। अक्तूबर १८९८ में इसे एक मासिक के रूप में प्रकाशित किया गया। इस का संपादन-कार्य ला० मुन्शीराम को सौंपा गया। ला० वज़ीरचंद उपसंपादक नियत हुए। १९०१ में ये संपादक हो गये। "आर्य मुसाफ़िर" ने समाज

की अच्छी साहित्यक सेवा की। इसलाम की समीक्षा में इस के लेख मार्के के होते थे।

मा० लक्ष्मण रामनगरी अपने स्कूल के अध्यापकों सहित दौरा कर प्रचार कर आते थे। ला० काशीराम वैद्य के व्याख्यानों तथा शास्त्रार्थों की ख़ूब चर्चा है। महता जैमिनि स्वयं भी भाषण करते हैं और अन्य प्रचारकों के भाषण का प्रबन्ध भी। गुरुकुल के सहायकों में इन का नाम विशेष तौर पर आता है। मा० बख़शीशराम, बा० शीघ्राराम चैटर-जी, ला० सीताराम तथा ला० वज़ीरचन्द की वक्तृताओं का जगह-जगह वर्णन मिलता है। पटियाले के अभियोग द्वारा ला० वज़ीरचन्द की कीर्त्ति सारे समाज में फैल रही है।

पं० जगन्नाथ निरुक्तरत्न, पं० विष्णुदत्त प्लीडर तथा मा० रामलाल बी०ए० के व्याख्यानों का वर्णन सभा के वृत्तान्तों में फिर फिर किया गया है। स्वा० ओंकार सच्चिदानन्द की उपहास-पूर्ण व्युत्पत्तियाँ अपने-पराये सब को हँसा रही हैं। पं० धनीराम तथा पं० मेलाराम के उपदेशों की अच्छी चर्चा है। चन्द्र कवि के भजन ख़ूब प्रसिद्धि पा रहे हैं।

१६१४ में जापान में एक धर्म-सम्मेलन की आयोजना हुई। सभा ने आर्य समाज की ओर से पं० रामभजदत्त को भेजना निश्चित किया। पण्डित जी प्रस्थान भी कर गये। रास्ते में समाचार मिला कि सम्मेलन रुक गया है। पण्डित जी बंबे आदि स्थानों में प्रचार कर लौट आए।

इस काल के मस्तक पर एक वीर-गति का तिलक भी है। फ़रीदकोट स्टेशन पर पं० तुलसीराम स्टेशन मास्टर थे। इन

के प्रबन्ध से नगर में समाज का प्रचार हो जाया करता था। १९०३ में इन्हों ने पं० हरनामसिंह के व्याख्यान कराए। उन में सनातन धर्म तथा जैन सिद्धान्तों का खण्डन किया गया। इस से गोपीराम नाम का एक सनातनी आवेश में आ गया। यह किसी काम से स्टेशन पर गया तो स्टेशन मास्टर से उलझ पड़ा। स्टेशन का स्वामी तो स्टेशन मास्टर ही होता है। वहाँ स्वभावत: गोपीराम अपमानित हुआ। इस का बदला उस ने पं० तुलसीराम के शहर आने पर इस प्रकार लिया कि उन की आँखों में अकस्मात् मिर्चें डाल कर उन्हें कुछ समय के लिए देखने के अयोग्य बना दिया और इस अवस्था में झट उन के पेट में छुरी भोंक

पं० तुलसीराम

दी। तुलसीराम का इस प्रहार से प्राणान्त हो गया। गोपीराम पर अभियोग चला। उसे १० वर्ष के कारावास का दण्ड मिला परन्तु थोड़े ही समय के पश्चात् उसे छोड़ दिया गया। उसे

छुड़वाने में रियासत के जैन अधिकारियों का हाथ था। इस से आर्य समाज के इस सन्देह को पुष्टि मिली कि बलिदान की तह में संभवतः जैनियों की उकसाहट थी। कुछ हो, आर्य समाज की वीर-माला में एक नये वीर-रत्न की वृद्धि हुई। तुलसीराम का नाम आर्य इतिहास में पं० लेखराम के साथ अमर हो गया।

अमृतसर की महिला समाज ने श्रीमती गंगा देवी को उपदेश कार्य पर नियत किया। ये देवी फिर-फिर कर उपदेशिका का कार्य करने लगीं।

लाहौर यूनीवर्सिटी-शिक्षा का केन्द्र है। कालेजों में शिक्षा पा रहे विद्यार्थियों की आर्य कुमार-सभा इस से पूर्व भी कार्य कर रही थी। १९०५ में इसे आ० प्र० सभा ने अपने संरक्षण में ले लिया और इसे नियम पूर्वक सहायता दी जाने लगी। समाज के सभी विद्वान् और प्रचारक सभा की ओर से व्याख्यान देते थे। कुमार-सभा जहाँ विद्यार्थियों में प्रचार का प्रबन्ध करती थी, वहाँ गुरुकुल के लिए धन की भी एक अच्छी राशि एकत्रित कर देती थी।

मेलों के अवसर पर आर्य प्रचारक हमेशा से अपना सन्देश सर्व-साधारण को सुनाते आ रहे थे। अम्बाला ज़िले में मुस्तफ़ाबाद नामक स्थान में बावन द्वादश के मेले पर, पानीपत में फल्गू के मेले पर, मियाँमीर में गुरु मानक के तथा कोटअद्दू में काशीगिर के मेले पर प्रचार का प्रबन्ध किया गया। उसमान पीर तथा जिन्दपीर के मेले भी प्रचार का साधन बने। इन सब से बढ़ कर १९०२

तथा १९१४ में हरिद्वार में कुम्भ हुआ। उस में सभा के सभी बड़े-बड़े उपदेशक पहुँचे। जहाँ बड़े बड़े महन्तों तथा मठाधीशों के अखाड़े लगे हुए थे, वहाँ आर्य समाज का मण्डप अपनी बिना-आडम्बर की शान दिखा रहा था।

इस काल के दलितोद्धार के अर्पण तो एक अलग अध्याय ही किया जा चुका है। अन्य मतों के लोगों का आर्य समाज में प्रवेश भी इस काल में यथापूर्व होता रहा। मुरादाबाद के मु० इन्द्रमणि ऋषि दयानन्द के समकालीन थे। वे इसलामी साहित्य पर पूरा आधिपत्य रखते थे। चाँदापुर के शास्त्रार्थ में वे ऋषि के साथ थे। सत्यार्थ-प्रकाश का चौदहवाँ समुल्लास ऋषि ने निरीक्षण के लिए उन्हीं के पास भेजा था। "इन्द्रवज्र" का लेखक होने के कारण उन पर वह प्रसिद्ध अभियोग चला था जिस में स्वयं ऋषि ने उन की सहायतार्थ समाजों द्वारा धन एकत्रित कराया था। भाग्य का फेर देखिये! उन्हीं मु० इन्द्रमणि का पोता भगवत्प्रसाद मुसलमान हो गया। उस के पिता बा० नारायणदास वकील उसे लाहौर आर्य समाज में लाये। जनवरी १९०० में उस की शुद्धि कर उसे फिर से आर्य धर्म की दीक्षा दी गई।

१९०३ में गुजराँवाले में एक विशेष शुद्धि हुई। तात्कालिक पत्र-पत्रिकाओं में इस की चर्चा बड़े ज़ोर-शोर से दी गई है। शिरोमणि सभा के प्रकरण में हम श्रीयुत धर्मपाल का वर्णन कर चुके हैं। यह नवयुवक एक मुसलमान ग्रेजुएट था। पहिले कुछ समय ईसाई, फिर ब्राह्म-

समाजी और फिर देव समाजी रह कर यह एकाएक आर्य धर्म में दीक्षित हो गया। दीक्षा से पूर्व यह इसलामी स्कूल का हेड मास्टर था। आर्य समाज में इस प्रकार के उच्च शिक्षा-प्राप्त मुसलमान का यह सब से पहिला प्रवेश था। आर्य जगत् ने इसे हाथों हाथ उठा लिया। मियाँ अब्दुलग़फ़ूर ब्रह्मचारी धर्मपाल बन गये। आर्यों के तीर्थ गुरुकुल में इन का निवास हुआ। पीली धोती तथा खड़ावें पहने ये ब्रह्मचारी जी श्रद्धालु आर्यों के विशेष मानास्पद हो गये। चटकीली उर्दू के ये उस्ताद थे। तर्क-इ-इसलाम, नख़्ल-इ-इसलाम आदि कई सनसनी पैदा करने वाली पुस्तकों की रचना कर इन्हों ने ख़ूब प्रसिद्धि प्राप्त की। चुल-बुला कौतूहल इन की नस-नस में भरा था। खंडन और घृणा इन की घुट्टी में थी। प्रत्येक धार्मिक रूढ़ि इन्हें उपहास तथा कटाक्ष के योग्य प्रतीत होती थी। आर्य समाज में आ कर पहिले तो इन्हों ने अपने पिछले परित्यक्त मतों का खण्डन अश्लील ढंग से किया और फिर आर्य समाज के कार्य-कर्त्ताओं और अन्त में स्वयं आर्य समाज के सिद्धान्तों पर भी बरस पड़े। डॉ० चिरंजीव भारद्वाज ने इन्हें अपने घर में आश्रय दिया था। आख़िर उन पर व्यर्थ दोष लगा न्यायालय द्वारा दण्डित हुए। महात्मा मुन्शीराम को ये पिता कहा करते थे, पर इन की ग्रामीण उद्दण्डता से वे भी नहीं बच सके।

धर्मपाल की शुद्धि आर्य समाज को कई अंशों में जागरूक तो कर ही गई परन्तु इस शुद्धि की प्रसिद्धि तथा धर्म-

पाल की अनधिकृत प्रतिष्ठा ने यह भाव भी अवश्य पैदा किया कि आर्य समाज में किसी भी जाति तथा मत में पैदा हुआ मनुष्य अपने गुण-कर्मानुसार ऊँची से ऊँची पदवी को प्राप्त कर सकता है। उदारता की उत्सुकता ने आर्य जगत् को कुछ अधीर-सा बना दिया था। शुद्धि-आन्दोलन की सफलता की ख़ुशी में पात्र-अपात्र की जाँच का भी ध्यान नहीं रखा गया। धर्मपाल को साधारण आर्य न बना कर लेखक तथा प्रचारक का उत्कृष्ट आसन पेश कर दिया गया। यदि उसे अपनी सीमा में रखा जाता तो संभव है, वह खप ही जाता। इस समय तो, मत-मतान्तर की होड़ में धर्म-सभाएँ अपनी सुध-बुध किस प्रकार भुला बैठती हैं? इस का एक नमूना ही यह घटना है।

१६०६ में देहली समाज के उत्सव पर मि० डेकी नाम के यूरोपियन की शुद्धि हुई। इन का आर्य नाम धर्मदेव रखा गया। ये महानुभाव शिमले जा कर एक काष्ठ-व्यापारी के पास काम करने लगे।

ईस्ट अफ्रीका में आर्य समाज का सन्देश लाहौर के युवक म० बद्रीनाथ ले गये। वे नैरोबी में पी० डबल्यू० डी० में अकौंटैंट थे। उन्हों ने शाकाहारी सहभोजों द्वारा भारतीय सज्जनों को एकत्रित कर ५ जुलाई १६०३ को समाज स्थापित कर दिया। १६०६ में म० फ़क़ीरचन्द के उद्योग से किसूमू समाज की स्थापना हुई। मुम्बासा समाज पर १६१६ से पूर्व राजनैतिक आपत्ति आई। आपत्ति ग्रस्तों में पंजाबी युवक थे। १६१६ में इसे पुनरुज्जीवित किया गया।

धीरे-धीरे अन्य समाज भी स्थापित हुए। पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा से इन सब समाजों का अनियमित-सा सम्बन्ध बन गया। अब तक इस सभा के उपदेशक इस प्रदेश में प्रचार करने जाते रहते हैं। १६०८ में पं० पूर्णानन्द और ठाकुर प्रवीणसिंह वहाँ गये।

डॉ० केशवदेव शास्त्री को छोटी अवस्था से ही प्रचार कार्य में लगन थी। चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे अमेरिका गये। १९१४ में उन्हों ने लिखा कि उन के तथा उन के साथियों के उद्योग से वहाँ दो समाज स्थापित हो गये हैं।

इस प्रकार पंजाब तथा अन्य प्रान्तों में यह सभा वैदिक धर्म का सन्देश पहुँचा रही थी। विदेश में प्रचार करने की क्षमता भी इस में पूर्व की अपेक्षा अधिक थी। दलितोद्धार तथा शुद्धि का कार्य ज़ोरों पर था। पुस्तक-निर्माण की प्रगति अपूर्व थी। राजा-प्रजा समाज की शक्ति को अनुभव करते थे। अभियोगों ने इस की सत्यता का सिक्का छोटों-बड़ों सब पर बैठा दिया था।

यह सफलता उस समय थी जब गुरुकुल की स्थापना हो चुकी थी और सभा की शक्ति का मुख्य भाग इस संस्था के अर्पण किया जा रहा था। गुरुकुल के आन्दोलन ने सभा के प्रचार-कार्य को भली प्रकार पुष्ट किया। ला० मुन्शीराम की धर्म-यात्रा ने समाजों को नया जीवन प्रदान किया। पं० लेखराम के बलिदान ने ही संपूर्ण समाज में एक अद्भुत जागृति पैदा कर दी। फिर महात्मा मुन्शीराम के

अनथक उद्योग ने सब ओर एक नया पांचजन्य-सा फूँक दिया था। इस पर स्वा० नित्यानन्द जैसे आदर्श साधुओं और पं० पूर्णानन्द जैसे वीत-राग प्रचारकों का परिश्रम आर्य समाज के काम को चार-चाँद लगा रहा था। शुद्धि और दलितोद्धार की सफलता ऋषि के सन्देश को चारों ओर सर्व-प्रिय बनाती जा रही थी।

मुन्शीराम-काल हर एक दृष्टि से लेखराम-काल की परिणति था।

सभा का प्रबन्ध

सभा के प्रधान-पद के लिए १८९७ से १९०१ तक ला० मुन्शीराम तथा ला० रलाराम का पर्याय रहा। हम ला० रलाराम तथा राय ठाकुरदत्त की इस सम्मति का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं कि आर्य समाज का काम सामान्य शिक्षा देना नहीं, केवल वेद-प्रचार करना है। शिक्षा के लिए पृथक् विद्या-सभा होनी चाहिए। गुरुकुल के प्रबन्ध के विषय में राय ठाकुरदत्त का यही विचार था। यह असहमति बढ़ते-बढ़ते वैमनस्य में परिणत हो गई। इस के अतिरिक्त और भी कई कारण थे जिन से महात्मा जी उस समय के दूसरे नेताओं के साथ मिल कर काम न कर सकते थे। कुछ स्वभावों और प्रवृत्तियों का विरोध था और कुछ रीति-नीति के विषय में मत-भेद। इस विरोध से तंग आ कर महात्मा जी ने इन दो तीन वर्षों में ही अनेक बार त्याग-पत्र दिये। ये बार-बार कहते थे कि इन की इच्छा न सभा का प्रधान रहने की है न गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता। १९०२

में इन का त्याग-पत्र स्वीकार कर पं० रामभजदत्त को प्रधान बना दिया गया। ३१ मई १६०३ की सभा में ला० रलाराम को, और यदि वे स्वीकार न करें तो, राय ठाकुरदत्त को मुख्याधिष्ठाता बनने की प्रार्थना की गई। परन्तु दोनों ने असमर्थता प्रकट की। महात्मा जी पर जनता की श्रद्धा थी। इन के सदृश सर्वस्व त्याग कर दिन-रात समाज की सेवा में तत्पर रहने वाला कोई और था ही नहीं। कार्य का भार फिर-फिरा कर इन्हीं के ऊपर आ पड़ता था। इस अवस्था में इन का त्याग-पत्र इन्हें अजेय बना देता था। १६०३ में राय ठाकुरदत्त सभा के प्रधान निर्वाचित हुए। १६०४ के जनरल सभा के चुनाव के लिए दोनों पक्षों में होड़ चली। नियम-भंग अधिक हो गये। प्रधान की निर्णायक सम्मति द्वारा एकत्रित हुई सभा को स्थगित कर दिया गया। इस का प्रभाव अधिकारियों के विरुद्ध हुआ। अक्तूबर १६०४ की स्थगित की हुई सभा फिर फ़रवरी १६०५ में हुई। इस से पूर्व दोनों पक्षों के नेताओं में समझौता हो चुका था। उस की अवहेलना कर सभा ने महा० मुन्शीराम को प्रधान निर्वाचित कर दिया। ये इस से पूर्व समाज के संपूर्ण संघटन से ही पृथक् हो जाने की घोषणा कर चुके थे। मा० आत्माराम द्वारा संपादित "हितकारी" इन के विरुद्ध लेख प्रकाशित कर रहा था। ला० रलाराम और राय ठाकुरदत्त के आरोप उसी में प्रकाशित हुए। महात्मा जी की सहायता के लिए "प्रकाश" का जन्म हुआ। "प्रचारक" तो पहिले से विद्यमान था ही। इस संघर्ष ने

राय ठाकुरदत्त और उन के साथियों को सभा से अलग कर दिया। जुलाई १९०५ की अंतरंग सभा में महा० मुन्शीराम का त्याग-पत्र स्वीकार हुआ और ला०रामकृष्ण प्रधान चुने गये। तब से वही प्रधान रहने लगे। इस चुनाव के पश्चात् सभा का यह नियम-सा बन गया कि एक ही व्यक्ति एक-साथ सभा के किसी विभाग का अधिष्ठाता तथा प्रधान न रहे।

मन्त्री १८९७ में ला० जयचन्द्र, १८९८ में ला० खुशीराम १८९९ तथा १९०० में प्रो० शिवदयाल एम० ए०, १९०१ में ला० मुरलीधर, १९०२-३, ५-७, १०-११ में ला० केदारनाथ, १९०४ में ला० रौशनलाल, १९०८-९ में डा० चिरंजीव और डा० परमानन्द और १९१४-१९१७ तक म० कृष्ण बी० ए० रहे।

वेद प्रचार निधि के संबन्ध में १९१३ की (१९७० वि०) रिपोर्ट में लिखा है :—

"वेद-प्रचार फ़ंड वैसे तो सभा के स्थापना-दिन से ही क़ायम है, परन्तु पहिले कुछ वर्षों में इस की अवस्था बहुत साधारण रही है। १८९५-९६ को वेद-प्रचार फ़ंड के लिए एक विशेष वर्ष समझना चाहिए क्योंकि इस के पश्चात् १९१२-१३ तक कोई वर्ष ऐसा नहीं आया जिस में दस हज़ार से इस फ़ंड की आय बढ़ी हो और इस सिलसिला के आख़िरी साल (सं० १९६८) में तो ६१९५) प्राप्त हुए। सं० १९६९ के अधिकारियों ने वेद-प्रचार फ़ंड की आर्थिक अवस्था सुधारने की ओर विशेष ध्यान दिया जिस का परिणाम यह हुआ कि

म० कृष्ण जी बी० ए० उपमन्त्री सभा की अनथक कोशिशों से वेद-प्रचार फ़ंड में १३९७१) की एक अच्छी राशि आई। सं० १९६९ में तो यह राशि इकट्ठी हो गई लेकिन ख़याल था कि यह राशि चूँकि म० कृष्ण जी उपमन्त्री की अनथक कोशिशों का परिणाम है और पहिले कभी इतनी राशि से प्राप्त नहीं हुई, इस लिए १९७० में इतनी राशि का आना कठिन होगा। इस ख़याल को सितम्बर १९१३ के बैंकों के दीवाले की खेद जनक घटना ने और भी पुष्टि दे दी। लेकिन ला० धर्मचन्द जी बी० ए० (एल० एल० बी) अधिष्ठाता वेद-प्रचार फ़ंड के सुप्रबन्ध और यत्न का यह फल है कि १९६९ के १३९७३) के मुक़ाबले में इस वर्ष १६१४५) प्राप्त हुआ अर्थात् २१७२) की विशुद्ध वृद्धि हुई।

वेद-प्रचार फ़ंड के लिए धन एकत्रित करने के निमित्त डेपुटेशन निकाला जिस में ला० धर्मचन्द जी अधिष्ठाता, म० कृष्ण जी बी० ए०, मा० लक्ष्मणदास जी आदि महाशय शामिल रहे।"

वेद-प्रचार फ़ंड की स्थापना का श्रेय म० मुन्शीराम ही को देना चाहिए। इस का प्रारम्भिक प्रणयन उन्हों ने किया था। उस के पश्चात् इसे पाँच-दस हज़ार की हैसियत से उन्नीस हज़ार की अवस्था तक पहुँचाने का श्रेय म० कृष्ण को है। इन्हों ने पहिले उपमन्त्री रह कर और फिर मन्त्री बन कर इस की मात्रा में अच्छी वृद्धि की। ये संख्याएँ मुन्शीराम-काल की है। इस के पश्चात् वर्तमान-

काल में यह राशि बीस हज़ार से भी ऊपर चली गई है। १६३२ मे इस निधि की आय ३०१६०) थी। तब भी मन्त्री महाशय कृष्ण ही थे। जैसे महात्मा जी को सभा के कार्य में "सद्धर्म-प्रचारक" द्वारा सहायता मिलती थी, ऐसी ही म० कृष्ण को "प्रकाश" द्वारा। महाशय जी का सफल वक्तृत्व भी उन की इस सफलता का साधन है।

उपदेशकों की संख्या इसी अनुपात से बढ़ती गई है। १८९७ में १५ उपदेशक काम करते थे और १६१७ में २४ उपदेशक और १५ भजनीक।

लेखराम-स्मारकनिधि में इक्कीस हज़ार रुपये इकट्ठे हुए। इस निधि की कामयाबी में राय ठाकुरदत्त का बड़ा हाथ था। इस से "आर्य-मुसाफ़िर" के प्रकाशन के अतिरिक्त ला० वज़ीरचन्द तथा पं० तुलसीराम की विधवाओं को सहायता दी जाती रही।

आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग-सभा दूसरे शब्दों में आर्य समाजों की शासन-सभा थी। स्वयं सभा का कार्य करते हुए भिन्न-भिन्न कार्यकर्त्ताओं में मत-भेद और उस के फल-स्वरूप वैमनस्य हो जाना स्वाभाविक था उन के पारस्परिक आरोपों का निर्णय करने के लिए न्याय-सभा की आवश्यकता थी।

१९०४ में राय बहादुर ठाकुरदत्त ने एक विशेष प्रकार के परम नेता-मण्डल की स्थापना का प्रस्ताव महात्मा जी के सामने रखा। यह प्रस्ताव महात्मा जी को स्वीकृत न था।

१९१६ में जब लाहौर आर्य समाज में कलह बढ़ा तब विचारास्पद विषयों में से एक न्याय-सभा की स्थापना भी थी। समाज ने अपने प्रतिनिधियों के चुनाव में अल्प-पक्ष को शिकायत का अवसर दिया था। इस पर सभा ने एक कमिश्शन की स्थापना की जिस के मन्त्री पं० विश्वंभरनाथ, बी० ए०, एल० एल० बी० थे। समाज के प्रधान राय ठाकुरदत्त थे। समाज पर इन के पक्ष का आधिपत्य था परन्तु सभा में इन की संख्या अल्प थी। सभा के अन्तरंग सभासदों की संख्या उन दिनों २१ होती थी जिन का निर्वाचन जनरल सभा द्वारा होता था। इस स्थिति में अल्प-पक्ष का सभा के शासन से सर्वथा बहिष्कृत किया जाना तक सभव था। इस त्रुटि को हटाने के लिए अन्तरंग सभा का एक भाग समुदायों द्वारा निर्वाचित कराये जाने के विषय पर पत्र-व्यवहार हुआ। इस पत्र-व्यवहार का उस समय कुछ फल नहीं हुआ परन्तु दोनों पक्षों की चिट्ठियों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सभा के उस समय के संचालकों के हृदयों में सभा के प्रबन्ध में दक्षता लाने के लिए किस-किस प्रकार के विचार पैदा होते थे। समुदाय-प्रथा आगे चल कर चला दी गई और न्याय-सभा का प्रस्ताव समय आने पर पहिले तो प्रतिनिधि सभा द्वारा स्वीकृत हुआ और फिर सार्वदेशिक सभा द्वारा संशोधित उपनियमों का अंग बना दिया गया। ये दोनों सुधार वर्तमान काल के हैं। मुन्शीराम काल में इन का बीजारोप हुआ।

जैसे हम ऊपर कह आये हैं, समाज के आरंभ-काल से ही सारे भारत वर्ष का एक केन्द्रीय संघटन बनाने का

विचार चला आ रहा था। १६०८ में इस विचार को क्रियात्मक रूप दिया गया। इस वर्ष सार्वदेशिक सभा की स्थापना हुई। प्रान्तीय सभाओं को उन की स्थिति के अनुसार प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। पंजाब सभा के प्रतिनिधियों की संख्या सात नियत हुई। सार्वदेशिक सभा से जब भारत के बाहर की सभाएँ भी संबद्ध होने लगीं तो इस का रूप सार्वभौम हो गया।

आर्य समाज ने अपने प्रचार का माध्यम हमेशा आर्यभाषा ही को बनाया है। स्वयं ऋषि दयानन्द ने गुजराती होते हुए भी अपने ग्रन्थ हिन्दी और संस्कृत में लिखे थे। डी० ए० वी० कालेज ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा का माध्यम हिन्दी को बनाना निश्चित किया। फिर गुरुकुल में तो संपूर्ण शिक्षा हिन्दी ही में दी जाती रही है। सभा के उपदेशकों के व्याख्यान तथा उपदेश प्रायः हिन्दी में होते हैं। सभा के कार्यालय में हिन्दी का प्रवेश किस प्रकार हुआ, इस का इतिहास भी मनोरंजक है।

सभा की कार्यवाही पहिले तो उर्दू ही में लिखी जाती थी। १८६१ में भक्त ईश्वरदास मन्त्री हुए। उन के समय से यह कार्यवाही उर्दू तथा हिन्दी दोनों में लिखी जाने लगी। १६०२ तक ये दोनों भावनाएँ साथ-साथ चलती हैं। अक्तूबर १९०२ से अक्तूबर १६०८ तक की कार्यवाही केवल उर्दू में लिखी मिलती है। इस वर्ष डॉ० चिरंजीव भारद्वाज मन्त्री निर्वाचित हुए। उन्हों ने आते ही इस कार्यवाही का उल्लेख केवल हिन्दी में करना आरंभ कर दिया। उर्दू लिपि

दाईं से बाईं ओर को लिखी जाती है और नागरी इस के विपरीत बाईं से दाईं ओर को। इन वर्षों के रजिष्टर में यह विचित्र बात देखने में आती है कि अक्तूबर १६०८ से पूर्व की कार्यवाही उर्दू में होने के कारण, इस से आगे की नागरी में लिखी हुई कार्यवाही के पृष्ठों का क्रम भी दाईं से बाईं ओर चलता है।

प्रारंभ की हिन्दी में शब्द घड़ने का रोचक प्रयत्न दृष्टि-गोचर होता है। Non-voting को असंमत, बैनामा को व्ययनामा, प्रतिनिधि को स्थानापन्न, ज़िम्मेदारी को अनुयोगाधीनता, निरीक्षण को अधीक्षण, इस वर्ष को वर्तमानाब्द, सम्मेलन को संवाद, संमति को मति, नियुक्ति को नियति कहते थे। ये भारी-भर्कम परिभाषाएँ सभा के उस समय के प्रबन्धकों के परिश्रम की प्रमाण हैं। वे शब्द बनाते भी हैं, लिखते भी। धीरे धीरे इस भाषा में संशोधन होता है और अन्त में वर्तमान मुहावरे ही का प्रयोग होने लगता है।

सभा का कार्यालय वच्छोवाली समाज से एक किराये की इमारत में आ गया था। १६११ में गुरुदत्त भवन का निर्माण आरंभ हुआ। एक लाख बीस हज़ार की लागत से १६२० के पश्चात् यह भवन पूर्णता को प्राप्त हुआ। कार्यालय के अतिरिक्त इस भवन में गुरुदत्त विद्यार्थी-आश्रम को भी लाने की तजवीज़ थी। "विद्यार्थी" के भवन में विद्यार्थी

गुरुदत्त भवन

आश्रम का लाया जाना उचित ही था। इसी से इस नाम की सार्थकता थी।

महात्मा मुन्शीराम

महात्मा मुन्शीराम का जन्म १८५६ में जलन्धर ज़िले के तलवन नाम के क़सबे में हुआ। ये एक क्षत्रिय कुल के थे जिस में भक्ति और निर्भीकता की परम्परा चली आती थी। इन के पिता ला० नानकचन्द ने १८५७ के विद्रोह में सरकार की सेवा की थी। उस के पारितोपिक-रूप में उन्हें कोतवाल का पद प्राप्त हुआ था। उन के जीवन का अधिक समय पश्चिमोत्तर (संयुक्त) प्रान्त में बीता। वे कोतवाल के मिष से—बनारस, मीर्ज़ापुर, बलिया, बरेली, बदायूँ आदि स्थानों के राजा रहे। मुन्शीराम उन की सन्तान में सब से छोटा था, इस लिए इस से घर में सब से अधिक लाड़-चाव किया जाता था।

मुन्शीराम की प्रारंभिक शिक्षा पहिले तो पंडितों और मास्टरों के द्वारा घर पर और फिर नियमित रूप से एक हिन्दी स्कूल में हुई। तुलसी कृत रामायण का पाठ ला० नानकचन्द बड़े चाव से किया करते थे। मुन्शीराम

ने इस ग्रन्थ के कई स्थल कण्ठस्थ कर लिये। बड़े हो कर भी ये तुलसी के दोहों और चौपाइयों का उच्चारण मज़े ले-ले कर करते थे। एंट्रेंस की शिक्षा के लिए ये बनारस के स्कूल में भर्ती हुए। १८६४ में परीक्षा दी। इन का पास होना निश्चित था परन्तु एक विषय का पत्र प्रकट हो गया। उस की परीक्षा फिर हुई और ये उस में सम्मिलित न हो सके। ये अपने पूर्व से नियत समय-विभाग के अनुसार तलवन पहुँच गए। पहिले वर्ष के अध्ययन के भरोसे ये दूसरे वर्ष पुस्तकों से उपेक्षा किये रहे। विद्यालय जाना ही बंद कर दिया। उपन्यास तथा नाटक पढ़ने की चाट तभी से पड़ी। यह उपेक्षा-वृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि इस वर्ष परीक्षा में बैठ ही नहीं। आखिर अगले वर्ष अर्थात् १८६६ में एंट्रेंस पास की।

जिन दिनों मुन्शीराम इन परीक्षाओं की तय्यारी के लिए काशी में निवास करते थे, इन के पिता बलिया में थे। इस प्रकार ये स्वतन्त्र थे। कुश्ती, गतका तथा लाठी का अभ्यास इन्हों ने इस स्वतन्त्रता की अवस्था में किया। शरीर बलिष्ठ था। निर्बल लड़कों को गुण्डों से बचाने में बल का ख़ूब सदुपयोग हुआ। परन्तु उपन्यासों के अध्ययन और अनुचित संगति ने मदिरा-पान तथा हुक़्क़े की लत-सी पैदा कर दी। काशी के घाटों पर से दो देवियों को "राक्षसों" के हाथों से बचा लाए। आर्य साहित्य का अभ्यास होता तो इन के अपने कथनानुसार ये उन के राखी-बँधे भाई बन जाते। आंगल भाषा के नावलों ने उन देवियों में "प्रिया"

की भावना पैदा कर दी, जो इनके नैतिक पतन का कारण हुई।

१९७८ में मुंशीराम का विवाह हो गया। ला० देवराज की बहिन शिवदेवी उनकी धर्म पत्नी थी। यह देवी पुराने ढंग की सरल प्रकृति की सती साध्वी गृहिणी थी। ऐसी गृहणियाँ आज कल कम मिलती हैं। एक तो उस समय उन की आयु छोटी थी। दूसरे ला० मुंशीराम पर उस समय पाश्चात्यता सवार थी। वे एक सरल आर्य गृहणी की महत्ता को नहीं समझ सकते थे। सती का जौहर उन पर खुला तो उस समय जब वे मदिरा से उन्मत्त हो कर घर लौटे, किसी सहायक की सहायता से छत पर पहुँचे और वहाँ जाते ही क़ै कर दी। पति-परायणा शिवदेवी ने इस बीभत्स अवस्था में भी उन से घृणा के स्थान में पूर्ण प्रेम का व्यवहार किया। उन के वस्त्र बदलवाए, उन्हें कुल्ला कराया और सुला कर आधी रात गये तक पति-देव के सारे शरीर को दाबती रही। वे सो गये और यह जाग तथा भूखी रह कर उन की सेवा में तत्पर रही। उन्हों ने भूखा रहने का कारण पूछा तो सरल स्वभाव से बोली—पति-देव से पूर्व भोजन कैसे करती? उस रात दम्पति ने मिल कर उपवास किया। आर्य विवाह केवल कपड़ों की नहीं, हृदयों की गाँठ होती है—इस का अनुभव मुंशीराम को इस रात हुआ।

शिवदेवी की पति-भक्ति का दूसरा उज्ज्वल प्रमाण उस दिन मिला जब इसी सुरा-पान ही के व्यसन ने उन्हें सैकड़ों रुपयों का ऋणी बना दिया। वे रुपये की चिन्ता में चूर

बैठे थे कि अर्धाङ्गिनी ने अपने हाथों के कड़े ला दिये और कहा—इन्हें बेच कर ऋण चुका दो।

शराब पीने वाले देवियों पर कैसे घोर अत्याचार करते हैं?—इस का एक उदाहरण इन के एक हम-पियाला मित्र ही की बैठक में उस मित्र के अपने हाथों उपस्थित हो गया। यह देखते ही उन्हें सुरा-पान से घृणा हो गई। मूर्ति-पूजा से विमुख हो जाने का कारण भी एक ऐसी ही घटना हुई। पुजारी ने पैर छू रही एक महिला का हाथ पकड़ लिया और वह चिल्ला उठी—इस दृश्य ने मुंशीराम तथा उन के साथी को मन्दिरों से उपरत कर दिया। इस से पूर्व काशी के मन्दिरों में रेवा की रानी की उपस्थिति के कारण अन्य दर्शनार्थियों पर शिव जी के दर्शन का द्वार निरुद्ध पा कर ये सोचने लगे थे कि क्या परमेश्वर भी राजा और रंक में भेद करता है? इस प्रकार हिन्दू धर्म में इन्हें अनास्था हो गई और एक कैथलिक पादरी के साथ बप्तिस्मे का समय भी निश्चित कर लिया। परन्तु जब पादरी के घर गये तो वहाँ भी ऐसा ही दुराचार हो रहा था। इन की दृष्टि एकाएक उस घिनौने दृश्य पर जा पड़ी और इन्हों ने निश्चय किया कि धर्म-मात्र सदाचार का शत्रु है।

इधर बरेली में अपने पिता जी के साथ ऋषि दयानन्द के व्याख्यानों में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। ऋषि काशी पधारे थे तो इन की माता ने इस भ्रम से कि एक जादूगर आया है जो हिन्दुओं का धर्म

हर लेता है. इन्हें तथा इन के भाई को घर पर रोके रखा था। पर अब तो स्वयं पिता ही उस जादूगर की माया में फँस-से गये थे। ऋषि के एक दिन के शास्त्रार्थ के लेखकों में ला० मुन्शीराम थे। ऋषि के स्थान पर जा कर उन का शंका-समाधान सुनने का शुभ अवसर भी इन्हें उपलब्ध हो गया। ये सब घटनाएँ चुपके चुपके किसी विचित्र भविष्य की तय्यारी करा रही थीं। मुन्शीराम रिंद रह कर भी "महात्मा" बनने के परोक्ष संस्कार उपलब्ध कर रहा था। इन संस्कारों का परिपाक समय चाहता था जो प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने आप प्राप्त होता जा रहा था।

एफ़० ए० के पहिले वर्ष की परीक्षा तो मुन्शीराम ने पास कर ही ली परन्तु दूसरे वर्ष की परीक्षा एक बार बनारस से और दूसरी बार इलाहबाद से दी और उस में दोनो बार असफल हुए। दूसरी बार इन्हों ने तय्यारी भी अच्छी की थी। परन्तु रोगी होने के कारण एक विषय में ८ अंको की कमी रही, इस लिए ये अनुत्तीर्ण रहे।

पुत्र को इस प्रकार उच्च शिक्षा पाने में असमर्थ देख कर इन के पिता ने इन्हे बरेला का स्थानापन्न नाइब तहसीलदार बनवा दिया। एक मास इन्हो ने तहसीलदारी का काम भी किया परन्तु सेना की छावनी से इन के आदमियों को रसद की क़ीमत न मिली। इस पर इन्हों ने अपने आदमी कर्नल के देखते-देखते लौटा लिये। कर्नल को साफ़ कह दिया कि मूल्य के बिना रसद नहीं मिलेगी। डिपुटी कलेक्टर ने क्षमा माँगने को कहा परन्तु ये नहीं माने और पीछे चाहे

इन्हें निर्दोष निश्चित कर आरोप हटा लिया गया तो भी इन का जी इस अपमान की चाकरी से खट्टा हो गया और अब ये वकालत की परीक्षा के लिए तय्यार होने लगे ।

१८८३ में इन्हों ने मुख्तारी पास की और मुक़द्दमे लेने आरम्भ कर दिए। इस परीक्षा में एक वर्ष ५ उपस्थितियों की कमी के कारण और दूसरे वर्ष तय्यारी पूरी न होने के कारण ये रह गये थे। १८८६ में वकालत की पहिली परीक्षा दी। इस में दो अंकों की कमी के कारण अनुत्तीर्ण ही रहते परन्तु यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार लार्पेण्ट महाशय ने घूस लेकर कई परीक्षार्थियों को पास कर दिया। कुछ समय पंजाब यूनिवर्सिटी की विचित्र परिस्थिति थी। विशेष कर परीक्षा सम्बन्धी अराजकता उस समय बहुत थी इस सम्बन्ध में लार्पेण्ट साहब बहुत प्रसिद्ध थे। लार्पेण्टी ग्रेजुएटों के सम्बन्ध में कई गाथाएँ प्रसिद्ध हैं। परन्तु हमारा उनसे क्या मतलब। मुन्शीराम ने उन्हें अखबारों द्वारा सारी पोल खोल देने की धमकी दी। लार्पेण्ट ने डर के मारे इन्हें पास कर दिया। दूसरी परीक्षा दिसम्बर १८८६ मे दी। उस के परिणाम मे गड़-बड़ रही। सैनेट ने केवल एक विद्यार्थी पास किया। आख़िर जनवरी १८८८ में दूसरी बार इस परीक्षा में बैठ कर पास हो गये। परीक्षाओं के इन अनुभवों ने पिछले संस्कारों को और भी दृढ़ कर दिया। शिक्षा का सच्चा मान दण्ड परीक्षा नहीं है। इस की वर्तमान पद्धति मे न आकस्मिक आपत्तियों के ही प्रतिकार का

कोई स्थान है न विद्यार्थियों की विविध योग्यताओं के स्वतन्त्र विकास के लिए ही कोई अवसर है। म० मुन्शीराम इस सम्मति का परिणाम गुरुकुल की वर्तमान परीक्षा प्रणाली है जिसका निर्माण करने में आ० रामदेव जी का हाथ है। और प्रो सिन्हा का हाथ है जो अमेरिका में कई वर्ष तक पढ़कर गुरुकुल में कई वर्ष उपाध्याय रहे। महात्मा मुन्शीराम के व्यक्तित्व के निर्माण में यूनिवर्सिटी की शिक्षा तथा परीक्षाएँ असफल रहीं। इनका महान् जीवन कुछ और शक्तियों की कृति था। ये स्वभावतः उन्हीं को अधिक महत्व देते थे।

मुख्तारी की परीक्षा पास कर इन्हों ने वकालत का काम आरम्भ कर ही दिया था। वकालत की शिक्षा के लिए लाहौर जाना होता था। वहा ये आर्य समाज तथा ब्रह्म समाज दोनों के अधिवेशनों में सम्मिलत होते थे। पुनर्जन्म के विषय पर ये ऋषि का शास्त्रार्थ देख चुके थे। ब्राह्म समाज इस सिद्धान्त के विरुद्ध था। इस पर उन्होंने दोनों पक्षों के साहित्य का अनुशीलन कर निश्चय किया कि आर्य समाज का मत ठीक है। सत्यार्थप्रकाश का अध्ययन इसी निमित्त से किया। बस फिर क्या? ये झट आर्य समाज के सदस्य बन गए। ला० साईंदास अपने पक्ष की इस विजय पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने भविष्यवाणी की कि आज एक नई शक्ति का प्रवेश आर्य समाज में हुआ है। देखें, इस का परिणाम अच्छा होता है या बुरा? ला० देवराज ने जलन्धर समाज का प्रधान-पद इन के लिए रिक्त कर दिया और स्वयं मन्त्री बन गये।

मुन्शीराम का मांसाहार का त्याग भी सत्यार्थप्रकाश के अध्ययन का फल था। आर्य समाज की सभासदी ने मुन्शीराम के अध्ययन को एक निश्चित दिशा दे दी। अब ये अधिक समय आर्य साहित्य के स्वाध्याय में लगे रहने लगे। ऋषि-कृत ग्रन्थों का पाठ कर वेद-वेदांग के स्वाध्याय में प्रवृत्ति हुई। जलन्धर समाज में इन्हों ने धर्म-घटों तथा "रद्दी-फ़एड" की प्रथा जारी कर दी और शहर की गलियों में दुतारा ले कर संकीर्तन द्वारा धर्म का प्रचार करने लगे। सनातनी पण्डितों के मुक़ाबले में जब लाहौर से कोई पंडित न आया तो जवाबी-व्याख्यानों तथा शास्त्रार्थ का काम भी मुन्शीराम ही को करना पड़ा।

उधर वकालत चल रही थी और उस में यथा-सम्भव सत्य-परायणता का प्रयत्न किया जा रहा था। इस से रुपये की दृष्टि से हानि होती थी। इधर प्रचार कार्य की धुन इन्हें वादी-प्रतिवादी का नहीं, आर्य समाज का वकील बनाती जा रही थी। एक मुक़द्दमा इन्हें मिला ही इस लिए कि आर्य समाज में दिये गए इन के व्याख्यान का प्रभाव एक वादी पर बहुत अच्छा पड़ा। उस ने पुराने अनुभवी वकीलों को छोड़ कर इन्हीं को पसन्द किया और इन्हों ने उसे विजय दिला दी। पर ये लाभ अपवाद-रूप थे। साधारणतया वकालत और प्रचार—इन दोनों कार्यों का एक-साथ चलना कठिन था।

धार्मिक कट्टरता ने इन्हें घोर पारिवारिक विरोधों का ही सामना कराया। पिता जी पहिले तो रुष्ट हुए परन्तु

पीछे उन के अपने विचार ही सहसा परिवर्त्तित हो गये। ऋषि की पुरानी माया का जादू प्रेम के प्रभाव से ताज़ा हो गया। रुग्णावस्था में उन की सेवा कर इन्हों ने अपना प्रभाव बैठा लिया। पैतृक संपत्ति से इन की उपेक्षा और फिर यह प्रश्न कि क्या आप अपनी सन्तान से मक्कारी करायँगे?—मुन्शीराम के ये दो शस्त्र अमोघ सिद्ध हुए।

इन्हीं दिनों पण्डित गुरुदत्त से साक्षात् परिचय हुआ। यह संबन्ध उत्तरोत्तर घनिष्ठ होता गया। यहाँ तक कि मुन्शीराम पण्डित जी के अन्तरंग अनुरक्तों में हो गये। आर्य समाज में दोनों, सदाचार की प्रधानता चाहते थे। पहिले तो पण्डित जी को इन पर सन्देह था कि ये ब्राह्मो भावों के हैं परंतु साक्षात् बात-चीत से यह भ्रम दूर हो गया। किसी को क्या पता था कि गुरुदत्त की प्रवृत्तियों को क्रियात्मक रूप देने का भार आगे जा कर जलन्धर की इस "नई शक्ति" ही पर पड़ेगा। ला० साईंदास की भविष्य-वाणी गुरुदत्त की भावना की स्थिरता के सपनों से मानो संदेहापन्न हो रही थी।

१८८६ में स्वामी रामानन्द और स्वामी पूर्णानन्द जलन्धर आए। स्वामी रामानन्द ने उपदेशक-श्रेणी खोलने का विचार प्रकट किया। मुन्शीराम सहमत हो गये। नियमित श्रेणी तो नहीं खुली परन्तु ये स्वयं जिज्ञासुओं को शिक्षा देने लग पड़े। स्वामी पूर्णानन्द की दर्शनों की शिक्षा का प्रबंध कपूर्थले के एक पण्डित जी के पास हो गया। स्वामी (पश्चात् पंडित) जी को साथ लेकर ला० मुन्शीराम स्थान-

स्थान पर आर्य समाज का प्रचार करने लगे। लाला जी की प्रधानता में एक उपप्रतिनिधि सभा की भी स्थापना हो गई। इस सभा का काम दोआबे में प्रचार करना था।

जलन्धर के प्रत्येक कार्य में मुन्शीराम अग्रेसर रहते थे। कन्या-पाठशाला का प्रबन्ध, कन्या-अनाथालय का प्रबन्ध, रहतियों की शुद्धि, नगर-प्रचार, जिज्ञासुओं को शिक्षा-दान, जलन्धर से बाहर जा-जा कर उपदेश करना—ये सब कार्य ला० मुन्शीराम के भावी चौमुखे जीवन की मानो भूमिका-रूप थे।

१ वैशाख १९४६ (सन् १८८९) को "सद्धर्म प्रचारक" पत्र निकलना आरम्भ हुआ। ला० मुन्शीराम के हाथ में यह मानो कृष्ण का सुदर्शन-चक्र था। इस के प्रभावों ने समाज को कई ऊँच-नीच दिखाए। पहिले यह आठ पृष्ठ का था, फिर १६ का और फिर २० पृष्ठ का हो गया। पं० लेखराम की स्मृति में इस में चार पृष्ठ और बढ़ाए गये। इस परिशिष्ट का नाम "आर्य-मुसाफ़िर" रखा गया। १ मार्च १९०७ को "प्रचारक' को उर्दू से हिंदी कर दिया गया। उर्दू अक्षरों में भी "प्रचारक" की भाषा धीरे-धीरे हिंदी होती गई थी। ला० मुन्शीराम के प्रभाव को बढ़ाने तथा फैलाने में "प्रचारक" ने सब से प्रबल साधन का काम किया। उस ने संपूर्ण समाज में एक "प्रचारक-परिवार" स्थापित कर दिया जिस में केन्द्रीय स्थान ला० मुन्शीराम का था। कन्या-महाविद्यालय के लिए "प्रचारक" द्वारा प्रबल आंदोलन हुआ। और जब प्रतिनिधि सभा की बाग-डोर ही लाला

जी के हाथ में आ गई तब तो प्रचारक एक प्रकार से सभा ही का पत्र बन गया। सभा की नीति का निर्धारण तथा प्रचार इसी के द्वारा होता था।

३१ अगस्त १८६१ को ला० मुन्शीराम की धर्मपत्नी श्रीमती शिवदेवी का देहान्त हो गया। देहान्त का संपूर्ण दृश्य उस पति परायणा आर्य महिला के पूर्व चरित के सर्वथा अनुरूप था। ला० मुन्शीराम उस दिन से अपनी सन्तान के तो एक-साथ माता-पिता हो ही गये। इस के पश्चात् का उन का संपूर्ण जीवन इस मातृत्व के विस्तार की साधना-सी प्रतीत होती है। लाला जी की आयु इस समय ३५ वर्ष की थी। पुनर्विवाह के कई प्रस्ताव आए, पर सब व्यर्थ। इन के हृदय में जो प्रेम पहिले अर्धाङ्गिनी के लिए था, वह अब आर्य जगत् के लिए हो गया। पूर्वावस्थाओं में जो ब्रह्मचर्य से स्खलन हो गया था, उस का मानो प्रायश्चित्त आगे के अविच्छिन्न संयम के रूप में किया गया। महात्मा मुन्शीराम द्वारा किये गये ब्रह्मचर्य के प्रचार में सती शिवदेवी का बड़ा भाग है। सती के समर्पित जीवन तथा समर्पित मृत्यु ने मुन्शीराम को केवल ब्रह्मचारी ही नहीं किन्तु ब्रह्मचर्य की मर्यादा का पुनरुद्धारक बना दिया।

पत्नी ने अपनी आहुति पति के पवित्र चरणों में दे दी और पति ने झट अपने आप को धर्म की आग में स्वाहा कर दिया। यह आहुति पति की थी या पत्नी की? १८६२ से १८६५ तक ये निरन्तर प्रतिनिधि सभा के प्रधान निर्वाचित होते रहे। इन्हीं की प्रधानता में वेद-प्रचार निधि

की स्थापना हुई। वकालत के काम से जब भी इन्हें छुट्टी होती, ये प्रचार के कार्य में लग जाते। इस निमित्त से की गई यात्रा को ये धर्म-यात्रा कहते। ग्रीष्मावकाश तथा मुहर्रम की छुट्टियाँ इन धर्म-यात्राओं के समर्पण होतीं।

ला० मुन्शीराम की सब से लम्बी धर्म-यात्रा गुरुकुल के लिए भिक्षा-मण्डलों के नेता के रूप में की गई थी। उस के फल-स्वरूप ३०,०००) से अधिक एकत्रित हो कर गुरुकुल की स्थापना हुई। ८ एप्रिल १६०० को लाहौर आर्य समाज ने इन का जलूस निकाला तथा अभिनन्दन-पत्र पेश कर इन्हें "महात्मा" पद से विभूषित किया। तब से ये ला० मुन्शीराम के स्थान में महात्मा मुन्शीराम कहलाने लगे और धर्मात्मा समाज का नाम भी महात्मा समाज हो गया।

इस से पूर्व १८६८ के नवम्बर तथा दिसम्बर मास में पं० गोपीनाथ के साथ "वेद", "मूर्त्ति-पूजा" तथा "वर्ण-व्यवस्था" विषय पर इन के शास्त्रार्थ हो चुके थे। इन से इन के स्वाध्याय तथा पाण्डित्य की धाक जम गई। छोटे-मोटे शास्त्रार्थ ये इस से पूर्व भी कर चुके थे। इन्हीं पं० गोपीनाथ की ओर से इन पर चलाए गये अभियोग का वृत्तान्त ऊपर आ चुका है। उस के अन्त पर किये गये इस के क्षमा-पूर्ण व्यवहार ने इन के महात्मा-पन को और पक्का कर दिया।

१९०१ के नवंबर मास में इन की दूसरी पुत्री अमृत-कला का विवाह लैया-निवासी डॉ० सुखदेव से हुआ। डॉक्टर जी जात के अरोड़ थे। उन से अपनी लड़की का लगन

निश्चित कर महात्मा जी ने जन्म की जात-पात को तोड़ देने का मूर्त उदाहरण स्थापित किया। इस पर बड़ी ले-दे हुई। इस कार्य से महात्मा जी की लोकप्रियता और भी अधिक बढ़ गई और उन का नाम चोटी के समाज-सुधारकों में हो गया। जन्म-मूलक जात-पात की कुरीति को उन के साहसी कार्य ने बड़ी चोट पहुँचाई। और आर्य समाज को समाज-सुधार के क्षेत्र का भी नेतृत्व मिल गया।

१६०२ में गुरुकुल की स्थापना हुई। महात्मा जी ने अपना पुस्तकालय तो उसी वर्ष, फिर १६०७ में सभा के अस्वीकार करने पर भी "सद्धर्म-प्रचारक प्रैस" और १६११ में अपनी जलन्धर की कोठी, जिस की बिक्री से लग-भग २०,०००) प्राप्त हुआ, गुरुकुल के अर्पण की। गुरुकुल के यज्ञ मे उन के सर्वमेध की यह अन्तिम आहुति थी।

महा० मुन्शीराम और ला० रलाराम और राय ठाकुरदत्त के जो पारस्परिक मतभेद थे उनका वर्णन ऊपर आ चुका है। गुरुकुल के संचालन के सम्बन्ध में भी दोनों पक्षों का मतभेद था। दूसरे पक्ष को ऐसा अनुभव होता था यदि महा० मुन्शीराम जी आर्य समाज के नेतृत्व को छोड़ दें तो सभा इन महानुभावों के साथ अनायास हो सकती। महा० जी कई बार नेतृत्व छोड़ने के लिये उद्यत भी हुए किन्तु जनता उनकी सेवाओं से वञ्चित होना नहीं चाहती थी। एक ओर जनता का भक्ति-पूर्वक और प्रेम-पूर्ण आग्रह था। दूसरी ओर राय ठाकुरदत्त आदि महानुभावों का घोर विरोध था। इन दो बातों के बीच में महा० मुन्शीराम

जी पिस रहे थे। विरोधी भी साधारण न थे। उन्होंने आर्य समाज की बड़ी सेवा की थी। महात्मा जी ने कई बार उनके साथ समझौते किए, सुलह की किन्तु वास्तविक भेद विचारों का था। विचारों के संघर्ष का निर्णय इतनी सुगमता से होता नहीं। महात्मा जी का त्याग भी अपूर्व था। आर्य समाज में इस अंश में वह उस समय अद्वितीय थे। उनके इस अपूर्व त्याग के कारण जनता में उनके प्रति भक्ति भी बहुत थी। स्वभावतया वे शान्ति-प्रिय पुरुष थे। किन्तु जनता एक नेता चाहती थी नहीं, नहीं, मुन्शीराम को नेता बनाना चाहती थी। उनके योग्य साथी संगियों को यह बात बुरी लगती थी। कि महा० मुन्शीराम का पक्ष ही चले और उनके पक्ष की अवहेलना की जाय। अतः यह युद्ध विचारों का युद्ध था इस लिए महा० मुन्शीराम और उनके विरोधी समय-समय पर इकट्ठे भी हो जाते थे। एक-दूसरे के दुःख-दर्द में भी सम्मिलित हो जाते थे। झगड़ा पदों का न था, संचालन की नीति का था। यदि दूसरा पक्ष पद भी चाहता था तो इस लिए कि उनकी नीति चल सके। आर्य समाज में प्रजातन्त्र राज्य था। प्रजा के हृदय पट पर महा० मुन्शीराम का आधिपत्य था, दूसरे पक्ष के नेता यद्यपि योग्य थे निःस्वार्थी थे, आर्य समाज के सच्चे हितैषी थे तथापि जनता उनके पीछे न लगती थी। क्योंकि जनता को उनकी नीति पसन्द न थी। इस बात की परख कई बार हो चुकी थी। जैसे कि हुआ ही करता है। "बड़े" आदमियों के साथ कुछ छोटे आदमी भी थे जो इस झगड़े को वैयक्तिक रूप देते थे।

अक्तूबर १९०४ की जनरल सभा को स्थगित कर दिया गया। १६ फ़रवरी १९०५ को सभा फिर बुलाई गई। इस बीच में ३० दिसम्बर १९०४ को दोनों पक्षों में समझौता हो चुका था। परन्तु जनरल सभा ने उस समझौते की अवहेलना कर महात्मा मुन्शीराम को प्रधान बना दिया। महात्मा जी इस से पूर्व सभा तो सभा, स्वयं समाज की सभासदी से त्यागपत्र दे चुके थे। उन की प्रधानता पर अवैध होने का दोष लगाया गया। सभा में पक्ष-विपक्ष में बहुत से भाषण हुए। उपसभा में दीवान बद्रीदास का भाषण मार्के का था। उन्हों ने पक्ष विपक्ष की युक्तियों का सुन्दर संग्रह किया। वास्तविक बात यह थी कि महात्मा जी ने त्याग की घोषणा तो अपने पत्र में करदी थी। सभा और समाज को त्यागपत्र भी न पहुँचा था। परन्तु यह त्याग-पत्र न सभा ने, न समाज ने स्वीकार किया था। प्रश्न यह था कि जिसका त्यागपत्र स्वीकार न हुआ हो, क्या घोषणा कर देने मात्र से त्यागपत्र स्वीकार समझा जा सकता है क्या कोई मनुष्य उस समय तक सभासद नहीं रहता जब तक उस का त्यागपत्र स्वीकार न किया गया हो या किसी सभा ने उस को पृथक् न कर दिया हो। यह राजनीति-सम्बन्धी मनोरञ्जन समस्या थी जिस पर राजनीति विशारद दीवान बद्रीदास ने प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। परन्तु सभा ने इन का चुनाव वैध निश्चित किया। कुछ समय पीछे इन्हों ने स्वयं त्यागपत्र दे दिया।

महात्मा जी १९१७ तक गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता तथा

आचार्य रहे। परन्तु इन का नाम गुरुकुल में प्रधान जी और सर्व-साधारण में महात्मा जी रहा।

१९१५ में गान्धी जी गुरुकुल पधारे। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों द्वारा अफ्रीका के सत्याग्रह-संग्राम में की गई १५००) की भेंट तथा उस के पीछे उन के अपने विद्यार्थिओं के गुरुकुल में निवास के कारण इस संस्था से उन का परिचय पहिले ही हो चुका था। साक्षात् दर्शन से महात्मा मुन्शीराम से उन का संबंध और भी घनिष्ठ हो गया।

१९१७ में महात्मा जी ने संन्यास ले लिया। अब उन का नाम स्वामी श्रद्धानन्द हुआ। श्रद्धानन्द मुन्शीराम से केवल नाम ही नहीं, अपने लोक-सेवा के क्षेत्र तथा प्रकार में भी एक भिन्न व्यक्ति से प्रतीत होते हैं। इस के पश्चात् वे केवल आर्य समाज को नहीं, सम्पूर्ण आर्य जाति को, केवल पंजाब को नहीं, सम्पूर्ण आर्यावर्त्त को अपनी सेवा का पात्र बनाते हैं। पंजाब के समाज में उनका स्थान है, पर वह नहीं जो महात्मा मुन्शीराम का था। पंजाब की प्रतिनिधि सभा से अब इनका साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहा। इस अवस्था में वे फिर गुरुकुल लौटते हैं और अपने परिवर्त्तित स्वरूप की छाया अपने जीवन की इस कृति पर डालते हैं। आर्य समाज के अन्य विभागों में भी उनका प्रभाव है। सार्वदेशिक सभा के प्रधान की हैसियत से वे सम्पूर्ण सामाजिक जगत् की व्यापक नीति का संचालन करते हैं। इस नाते वे सारे समाज के शिरोमणि हैं।

महात्मा मुन्शीराम पंजाब सभा के निर्माताओं में से

हैं। पं० गुरुदत्त को समय ही कम मिला, पं० लेखराम प्रचारक थे, प्रबन्धक नहीं। महात्मा जी दोनों थे। वेद-प्रचार, गुरुकुल, समाज-सुधार—इन सब कार्यों में वे अगुआ रहे। दलितोद्धार तथा शुद्धि के कार्य के प्रारम्भकों में भी महात्मा जी का महत्व विशेष है परन्तु इन कार्यों की पूर्ति और इन की वेदि पर बलिदान स्वामी श्रद्धानन्द का हिस्सा है। उस का वर्णन आगामी अर्थात् वर्तमान-काल में होगा। वर्तमान-काल बलिदानों का, शुद्धि का तथा दलितोद्धार का काल है। इस में श्रद्धानन्द अपने जीवन की पूर्णाहुति दे देते हैं। वह पं० लेखराम के साथ उन के पुराने सहयोग-सम्बन्ध की पूर्ति है। आज का संन्यास उस बलिदान की ओर क़दम है।

वर्तमान काल

१९७४—१९९२ वि०

१९१७—१९३५ ई०

गुरुकुल कांगड़ी

सन् १९१७ में महात्मा मुंशीराम जी संन्यास लेकर गुरुकुल से विदा हुए थे। उनके बाद आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान लाला रामकृष्ण जी गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता नियत हुए। वे जलन्धर रहकर ही गुरुकुल का प्रबन्ध करते थे और उनके प्रतिनिधि रूप में प्रो० सुधाकर जी गुरुकुल में रहते थे। आचार्य का काम प्रो० रामदेव जी को दिया गया। प्रो० रामदेवजी सन १९०५ में गुरुकुल आये थे, और कुछ वर्ष मुख्याध्यापक का कार्य करने के अनन्तर जब गुरुकुल में महाविद्यालय विभाग खुला, तो उपाचार्य के पद पर नियत हुये थे। गुरुकुल में कार्य करते हुये उन्हें ग्यारह वर्ष हो चुके थे और यहां का उन्हें अच्छा अनुभव था। इस समय सभा के प्रधान पं० विश्वम्भरनाथजी बने, जो बहुत समयसे उपप्रधान का कार्य कर रहे थे। गुरुकुल का यह प्रबन्ध १९२० तक

रहा। इस बीच में गुरुकुल की निरन्तर उन्नति हुई। सन १९१९ में लुधियाना जिला के रायकोट नामक स्थान पर गुरुकल की एक और शाखा खोली गई। इस के संस्थापक श्री गंगागिरि जी महाराज हैं। गुरुकुल रायकोट की आधार-शिला श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज द्वारा रक्खी गई थो

आन्तरिक दृष्टि से भी इस काल में गुरुकुल की अच्छी उन्नति हुई। सन १९१८ में गुरुकुल में राष्ट्रप्रतिनिधि सभा (पार्लियामेंट) का सूत्रपात हुआ। यह सभा ब्रह्मचारियों के मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट) द्वारा किसी गम्भीर विषय पर मसविदा पेश किया जाता है, और उसपर बाक़ायदा पार्लियामैन्टरी ढंग से वाद-विवाद होता है। सन १९१८ से आज तक राष्ट्र प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन प्रति वर्ष होते हैं, और इन अधिवेशनों में अनेक वार देश के नेता भी सम्मिलित हो चुके हैं।

इसी काल में कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन के प्रधान डा० सैडलर, सरआशुतोष मुकर्जी के साथ गुरुकल पधारे। गुरुकल का अवलोकन करके वे बहुत प्रभावित हुये। उन्होंने अपने एक पत्र में गुरकल के सम्बन्ध में ये विचार प्रकट किये थे " मैं समझता हूं कि जिस शिक्षा विधियों में मातृ-भाषा को प्रथम और सब से प्रमुख स्थान दिया जावे; वहीं

यह सम्भव है कि मन का स्वतन्त्र विकास होकर मानसिक वृत्तियों तथा भावों पर प्रभुत्व प्राप्त हो सके।......मेरी हार्दिक इच्छा है कि गुरुकुल का विकास राज्य द्वारा स्वीकृत एक स्वतन्त्र विश्वविद्यालय के रूप में हो सके।

डा० सैडलर के अतिरिक्त भूतपूर्व भारत सचिव मान्टेग्यू महोदय के प्राइवेट सेक्रेटरी श्रीयुत किश और राइट आनरेबल श्री श्रीनिवास शास्त्री महोदय गुरुकुल आये। श्रीयुत किश ने गुरुकल के सम्बन्धमें लिखा था 'प्रबन्धके साधनों की पूर्णता कार्यकर्त्ताओं के विश्वास और ब्रह्मचारियों की प्रत्यक्ष प्रसन्नता ने मुझ पर इतना प्रभाव डाला है, कि मैं उसको इन थोडी सी पंक्तियों में वर्णन नहीं कर सकता।'

श्री श्रीनिवास शास्त्री ने अपने एक भाषण में ये विचार प्रकट किये थे—"शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहे या भारतीय भाषायें, इस प्रश्न पर बहुत वादविवाद है। मेरा अपना विचार यह रहा है, कि विद्यालय विभाग में शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषायें ही रहनी चाहियें, परन्तु महाविद्यालय विभाग की पढ़ाई अंग्रेजी के माध्यम द्वारा ही होनी चाहिये। परन्तु अब गुरुकुल को देख कर मैं अपने इस विचार से परे हट रहा हूं।'

यह सचमुच गौरव की बात है, कि गुरुकुल ने श्री

श्रीनिवास शास्त्री जी जैसे गम्भीर विचारक को भी अपने मन्तव्यों पर पुनः विचार करने के लिये बाधित किया।

संन्यासी होने के बाद स्वामी श्रद्धानन्द जी ने आर्य-समाज का एक प्रामाणिक इतिहास लिखने का विचार किया। इस कार्य को वे गुरुकुल कुरुक्षेत्र में बैठ कर करना चाहते थे। पर प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामकृष्ण जी और गुरुकुल के आचार्य श्री रामदेव जी के आग्रह तथा अन्तरंग सभा की प्रार्थना पर स्वामी जी ने गुरुकुल कांगड़ी में ही बैठ कर इतिहास लिखने का निश्चय किया। इतिहास के लिए स्वामी जी ने बहुत सी सामग्री एकत्रित की। पर इसी बीच में गढ़वाल प्रान्त में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। यह प्रदेश गुरुकुल के समीप ही था। अतः संभव नहीं था कि गुरुकुल वासी इस की उपेक्षा कर सकें। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने दुर्भिक्ष निवारण के लिए एक अपील समाचार पत्रों में प्रकाशित की और स्वयं गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के साथ गढ़वाल प्रस्थान किया। स्वामी जी की अपील पर ७० हजार के लगभग रुपया नकद एकत्रित हुआ था। गुरुकुल के विद्यार्थियों को जनता की क्रियात्मक सेवा करने का यह बहुत उत्तम अवसर मिला था। उन्होंने इस का पूरा उपयोग किया और १९१८ की ग्रीष्मऋतु में गढ़वाल में खूब काम किया।

पर स्वामी श्रद्धानन्द जी देर तक गुरुकुल नहीं रह सके।

सन् १९१९ में भारत में रोलट एक्ट के विरुद्ध आन्दोलन हुआ। महात्मा गांधी ने सत्याग्रह की घोषणा की। अनेक स्थानों पर सरकार और जनता का संघर्ष हुआ। अमृतसर में जलियान वाला बाग का हत्याकाण्ड इसी समय हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द जी भी इस आन्दोलन में सम्मिलित हुये। दिसम्बर सन् १९११ में जब कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हुआ तो स्वामी जी उसकी स्वागत समिति के अध्यक्ष निर्वाचित हुवे। यह समय देश में तीव्र राजनीतिक आन्दोलन का था। सर्वत्र भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भावना प्रबल हो रही थी। ऐसी स्थिति में लोग राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता को भलीभांति अनुभव करने लगे थे और गुरुकुल का महत्व जनता की दृष्टि में बढ़ रहा था। ऐसे समय में गुरुकुल को एक अत्यन्त प्रभावशाली नेता की आवश्यकता थी। विस्तृत राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण करने के बाद भी स्वामी जी को गुरुकुल के हित की सदा चिन्ता रहती थी। जब गुरुकुल प्रेमी वार वार स्वामी जी से फिर गुरुकुल सम्भालने का अनुरोध करने लगे, तो फरवरी १९२० में स्वामी जी फिर गुरुकुल लौट आए, और पहिले की तरह मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य दोनों पदों का चार्ज ले लिया।

सन् १९२१ का वार्षिकोत्सव बड़े महत्व का हुआ। लाला लाजपतराय, पंडित मोतीलाल नेहरू, श्री विट्ठल भाई पटेल,

पंडित मदनमोहन मालवीय आदि बहुत से देश प्रसिद्ध नेता इस उत्सव में सम्मिलित हुए। चन्दा भी खूब आया। वायदे मिलाकर १ लाख ६२ हजार रुपया एकत्रित हुआ। नकद चन्दे की मात्रा भी १ लाख से ऊपर थी। देश में राष्ट्रीय जागृति के साथ २ गुरुकुल का महत्व भी जनता की दृष्टि में बढ़ रहा था। यह इससे भलीभांति स्पष्ट हो जाता है।

गुरुकुल के इतिहास में सन् १९२१ का बड़ा महत्व है। गुरुकुल का स्वरूप क्या हो, इस विषय में प्रतिनिधि सभा के नेताओं में देर से मतभेद चला आता था। गुरुकुल का विकास एक स्वतन्त्र विश्वविद्यालय के रूप में हो रहा था। उस के संस्थापकों ने भारत में प्रचलित शिक्षा को दूषित समझ कर ऋषि दयानन्द के शिक्षा सम्बन्धी आदर्शों को क्रिया में परिणत करने के लिए गुरुकुल की स्थापना की थी। पर कई लोगों का यह विचार था, कि गुरुकुल केवल एक धार्मिक विद्यालय (डिवीनिटी कालेज) है। सामान्य शिक्षा देना गरुकुल का काम नहीं है। अब सन् १९२१ में इस वाद विवाद और मतभेद का अन्त कर गुरुकुल के स्वरूपको सर्वसम्मत रूपसे निर्णीत करने का प्रयत्न किया गया और इसी के अनुसार २२ मार्च १९२१ को आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल के सम्बन्ध में निम्न लिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया:—

शिक्षा सम्बन्धी क्षमता को बढ़ाने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है कि वर्तमान गुरुकुल को ऐसे विश्वविद्यालय के रूप में परिणत किया जाय, जिस से भिन्न २ विषयों में शिक्षा दी जा सके। इस लिए निश्चय हुआ कि इस विश्व विद्यालय के साथ निम्न लिखित महाविद्यालय सम्बन्धित होंगे।

क. वेद महाविद्यालय,
ख. साधारण महाविद्यालय,
ग. आयुर्वैदिक महाविद्यालय,
घ. कृषि महाविद्यालय,
ङ. व्यवसाय महाविद्यालय,

(२) सं० क, ख का गुरुकुल में पहिले से परस्पर संबंध अधिक रहा है, अब वह उचित परिवर्तन के पश्चात् कांगड़ी में पृथक् पृथक् चलाये जावें। उन का वार्षिक व्यय विद्यालय के ऊपर लगभग बराबर हुआ करे। अब तक का एकत्रित धन व सम्पत्ति या जो आगे को प्राप्त हो, इन्हीं के अर्पित रहे, जिस का नाम गुरुकुलधन होगा, सिवाय उस के जो किसी विशेष कार्य के लिये प्राप्त हुआ हो।

(३) सं० ग, घ, ङ महाविद्यालय उन के सम्बन्धी उचित धन प्राप्त होने पर प्रारम्भ किये जावेंगे जब यह सभा संचित धन और स्थानादि का विचार करके आज्ञा दे।

(४) सब विद्यालय जो सभा की ओर से या सभा की

आज्ञानुसार गुरुकुलों के नाम से खोले हुए हों या खोले जांय सं० ख. महाविद्यालय से सम्बन्धित होंगे।

(५) ग, घ, ङ महाविद्यालय कांगड़ी से बाहर खोले जावें और उन में गुरुकुल विद्यालय और अन्य विद्यालयों के छात्र अन्तरङ्ग सभा के बनाये नियमानुसार प्रविष्ट होंगे।

(६) आयुर्वैदिक और कृषि महाविद्यालयों के पृथक् पृथक् खुलने तक इन विषयों की जो पढ़ाई अब होती है, वह केवल विशेष विषय के रूप में ही साधारण महाविद्यालय में होती रहेगी परन्तु आवश्यक (Compulsary) विषयों में इन विद्यार्थियों की योग्यता न्यून न हो और उन्हें कोई पृथक् प्रमाणपत्र नहीं दिया जायगा। और इन विषयों पर वही धन व्यय होगा जो इन के लिये प्राप्त हो गुरुकुल धन से जो वार्षिक व्यय अब होता है, वह दस वर्ष में १० प्रति शत के हिसाब से कम करके बन्द किया जायगा।

(७) इन सब की पाठविधि और नियम अन्तरंग सभा बनायेगी।

(८) इस विश्वविद्यालय के प्रबन्ध के लिए एक विद्या-सभा बनाई जावे। उस के बनने तक अन्तरंग सभा कार्य्य करेगी"।

गुरुकुलका क्या उद्देश्य है, गुरुकुल का स्वरूप क्या है, क्या गुरुकुल केवल धार्मिक विद्यालय है—आदि सभी प्रश्नों का निर्णय आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन में स्वीकृत हुवे

इस प्रस्ताव से हो जाता है । गुरुकुल एक विश्वविद्यालय है, जिस में भिन्न भिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती है और शिक्षा सम्बन्धी क्षमता को बढ़ाने के लिए सदा प्रयत्न किया जाता है। यह बात इस प्रस्ताव द्वारा बिलकुल स्पष्ट होगई है। साथ ही इस प्रस्ताव में यह भी निश्चय किया गया, कि गुरुकुल का संचालन करने के लिए एक पृथक् विद्यासभा का निर्माण किया जाय । यह निर्णय आगे चल कर किस प्रकार कार्य में परिणत हुआ, इस पर हम यथा स्थान प्रकाश डालेंगे।

स्वामी श्रद्धानन्द जी फरवरी १९२० से अक्तूबर १९२१ तक लगभग डेढ़ वर्ष गुरुकुल में रहे । इस काल में अनेक नवीन बातें गुरुकुल में शुरु हुईं । "सद्धर्म प्रचारक" के बन्द होजाने के बाद गुरुकुल का कोई मुखपत्र नहीं था । अब 'श्रद्धा" नामक नये साप्ताहिक पत्र का प्रारम्भक किया गया । श्रद्धा के सम्पादक स्वामी जी महाराज स्वयं थे। न केवल आर्यजगत् में, अपितु, बाहर भी "श्रद्धा" की खूब प्रसिद्धि हुई। गुरुकुल को लोकप्रिय बनाने में इस पत्र से बड़ी सहायता मिली । वेद सम्बन्धी अन्वेषण का कार्य गुरुकुल में प्रारम्भ करने का विचार तो बहुत दिनों से था पर उसे क्रिया में परिणत नहीं किया जा सका था । अब सन् १९२० में गुरुकुल में बाकायदा अनुसन्धान विभाग खोल दिया गया । एक योग्य स्नातक को "वैदिक कोष" तैयार करने को नियत किया गया। और श्री पं० देवशर्मा जी

वैदिक खोज के लिये विशेषरूप से रक्खे गये। यह भी यत्न किया गया कि विविध गुरुकुलों को एक सूत्र में बांधा जाय। गुरुकुल वृन्दावन के कार्यकर्ताओं से इस विषय में बातचीत का भी प्रारम्भ हुआ।

पर स्वामी जी देर तक गुरुकुल में न रह सके। इस समय देश में प्रबल असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ हो रहा था। महात्मा गांधी ने ६ मास में स्वराज्य प्राप्ति का प्रोग्राम देश के सम्मुख रक्खा था। सारे देश में एक नई जागृति, नई चेतना उत्पन्न हो रही थी यद्यपि स्वामी के महात्मा गांधी से अनेक विषयों में मतभेद थे। पर इस जागृति के काल में वह स्वराज्य आन्दोलन से अपने को पृथक नहीं रख सके। प्रधान रामकृष्ण जी को एक पत्र में उन्हों ने लिखा था—"इस समय मेरी सम्मति में 'असहयोग" की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि के भविष्य का निर्भर है। यदि आन्दोलन अकृतकार्य हुआ और महात्मा गांधी को सहायता न मिली, तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जाति के जीवन व मरण का प्रश्न हो गया है। इस लिये मैं इस काम में शीघ्र ही लग जाऊंगा"।

. असहयोग आन्दोलन में कार्य करने की हार्दिक प्रेरणा ही थी, जो स्वामी श्रद्धानन्द जी को गुरुकुल से बाहर ले गई। यदि स्वामी जी कुछ समय तक और गुरुकुल के कर्णधार रहते, तो अपने अनेक 'असिद्ध स्वप्नों' को पूर्ण

कर सकते । स्वामी जी गुरुकुल में आयुर्वेद, कृषि और व्यवसाय महाविद्यालय स्थापित करना चाहते थे। आयुर्वेद और कृषि की श्रेणियां तो खोल भी दी गई थीं । इन में से आयुर्वेद की श्रेणी इस समय एक पृथक् महाविद्यालय के रूप में परिवर्तित भी हो चुकी है। पर कृषि और व्यवसाय के महाविद्यालय अब तक गुरुकुल में नहीं खुल सके। स्वामी जी ने 'श्रद्धा' के पृष्ठों में बार बार अपनी यह इच्छा प्रकट की है, कि गुरुकुल मे व्यवसाय महाविद्यालय (Industrial College) शीघ्र खुल जाना चाहिये । कला भवन के लिये वे बार बार अपील कर चुके है । अपने बलिदान से दो ढ़ई मास पूर्व स्वामी जी ने 'माई स्पेशल अपील' शीर्षक से एक लेख अपने अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र 'लिबरेटर' में लिखा था। उस में उन्होंने शिल्प व व्यवसाय महाविद्यालय के लिये धन की विशेष रूप से अपील की थी ।

१९१७ में स्वामी श्रद्धानन्द जी के चले जानेपर पं० विश्वम्भरनाथ जी गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता नियत हुए । पण्डित जी आर्यसमाज के पुराने कार्य कर्ता थे। गुरुकुल की स्थापना के समय से ही आप गुरुकुल की स्वामिनी सभा के सदस्य थे और अनेक वार कोषाध्यक्ष तथा उपप्रधान के पद पर नियत हो चुके थे । महात्मा मुंशीराम जी के सन्यास लेने पर दो वर्ष के लिए वे सभा के प्रधान भी रहे थे। पण्डित जी सभा के ठोस कार्यकर्त्ता थे और महात्मा मुंशीराम जी को इन पर दृढ़ विश्वास था । जिस समय महात्मा जी सन्यास लेने लगे, तो पण्डित जी को गुरुकुल में आ कर कार्य संभालने के लिये. प्रेरणा करते हुए उन्होंने लिखा था कि उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, जो मेरे और तुम्हारे लिये इतना प्रिय रहा, तुम्हें साहस-पूर्वक बाहर निकल आना

चाहिये। अब १६२१ में पण्डित जी ने गुरुकुल का कार्य संभाला। आर्य समाज के वीतराग संन्यासी स्वामी सत्यानन्द जी आचार्य नियत हुए और शिक्षा सम्बन्धी उपाचार्य के रूप में प्रो० रामदेव जी के हाथ में रहा। १६२४ में स्वामी सत्यानन्द जी के त्यागपत्र दे देने पर प्रो० रामदेव जी आचार्य बने और उपाचार्य का कार्य पं० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार के हाथ में आया।

पं० विश्वम्भरनाथ जी १६२१ से १६२७ तक गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता रहे। यह काल गुरुकुल के इतिहास में बड़ा घटना-पूर्ण है। आन्तरिक प्रबन्ध और व्यवस्था की दृष्टि से इस समय में गुरुकुल की उन्नति हुई। पण्डित विश्वम्भरनाथ जी आर्थिक प्रबन्ध में बहुत दक्ष थे। उन्होंने गुरुकुल के बजट को नये ढंग से व्यवस्थित किया और गुरुकुल के व्यय को ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण और शिक्षा—इन दो विभागों में नियमित रूप से विभक्त कर यह नियम बनवा दिया कि एक का धन दूसरे विभाग में व्यय न हो। भरण-पोषण के लिए केवल वह रुपया व्यय हो जो संरक्षकों से फीस द्वारा या छात्रवृत्तियों की आमदनी से प्राप्त होता है। शिक्षा के लिए दान तथा उपाध्यायवृत्तियों के सूद का धन ही खर्च हो। साथ ही खर्च को कम करने के लिए और गुरुकुल के आय तथा व्यय को

बराबर करने के लिये बहुत उपयोग किया गया।

गुरुकुल को बाक़ायदा विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित कर देने का प्रस्ताव सन १९२१ में पास किया जा चुका था। अब १९२३ में शिक्षा-विषयक प्रबन्ध के लिए पृथक् शिक्षा-पटल (Board of Education) की स्थापना की गई। शिक्षा पटल में गुरुकुल के अध्यापकों के अतिरिक्त तीन अन्य तत्वों का समावेश किया गया—

१. अन्तरंग सभा के प्रतिनिधि,

२. स्नातक मण्डल के प्रतिनिधि,

३. बाहर के विद्वान्।

इस से गुरुकुल की शिक्षा विषयक क्षमता बढ़ने में बहुत सहायता मिली। शिक्षा-पटल के पहले मन्त्री (प्रस्तोता) गुरुकुल के योग्य स्नातक पं० महानन्द सिद्धान्तालङ्कार नियत किये गये।

इस काल में गुरुकुल की अनेक नई शाखायें खुलीं। १९२३ में दीवाली के दिन देहली नगर के दरियागञ्ज मुहल्ले में एक कोठी किराये पर लेकर कन्या-गुरुकुल की स्थापना हुई। गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना के समय से ही कन्याओं के लिये पृथक् गुरुकुल खोलने का विचार चला आता था। १९२३ में उसे क्रियारूप में परिणत होने का अवसर मिला। चार वर्ष तक कन्या गुरुकुल दिल्ली रहा. फिर उसे देहरादून ले जाया गया। कन्या-गुरुकुल आर्यसमाज की एक अत्यन्त

महत्त्व-पूर्ण संस्था है । गुरुकुल-कांगड़ी की शाखाओं में उस का महत्त्व सब से अधिक है । हम उस पर पृथक रूप से भी प्रकाश डालेंगे ।

गुजरात प्रान्त के निवासियों की चिरकाल से इच्छा थी कि गुरुकुल कांगड़ी की एक शाखा उन के प्रान्त में भी खोली जावे । पं० ईश्वरदत्त विद्यालङ्कार, श्री दयाल जी लल्लू भाई और श्रीयुत् झीणाभाई देवा भाई के अनथक परिश्रम से सन् १९२३ में गुरुकुल के लिए पच्चीस हज़ार रुपये नकद जमा हुवे और गुरुकुल सभा का निर्माण हुआ । सूरत ज़िले की बारदोली तहसील में पूर्णा नदी के रम्य तट पर १८ फ़रवरी सन् १९२४ को एक गुरुकुल की स्थापना की गई । सूपा ग्राम के निकट होने के कारण इस का नाम 'गुरुकुल सूपा' रखा गया । गुरुकुल की आधार-शिला श्री० स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के कर-कमलों द्वारा रखी गई थी । गुरुकुल सूपा की उन्नति बडी तेजी से हुई । अब इस में पूरी दस श्रेणियां हैं, और प्रतिवर्ष इस के विद्यार्थी गुरुकुल कांगड़ी की अधिकारी परीक्षा पास कर महाविद्यालय-विभाग में प्रविष्ट होते हैं ।

सन् १९२४ में ही हरियाणा प्रान्त में झज्झर नामक स्थान पर गुरुकुल की एक और शाखा स्थापित हुई । इस की स्थापना में वहां के महाशय विश्वम्भरनाथ जी, स्वामी

परमानन्द जी और स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने बड़ा पुरु-षार्थ किया।

सन् १९२४ में गुरुकुल कांगड़ी की एक] और शाखा भटिण्डा में खुली। इस की भी आधारशिला श्री० स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा रखी गई।

इस प्रकार गुरुकुल की चार नई शाखायें १९२३-२४ में स्थापित हुईं। गुरुकुल के विस्तार की दृष्टि से ये वर्ष बड़े महत्त्व के हैं।

सन् १९२४ में जहां गुरुकुल का इतना विस्तार हुआ, वहां गुरुकुल पर सब से बड़ी विपत्ति भी इसी वर्ष आई। गुरुकुल गंगा के तट पर स्थित था। सितम्बर १९२४ में असाधारण वर्षा के कारण गंगा में भयंकर बाढ़ आई और गुरुकुल की बहुत सी इमारतें नष्ट हो गईं। उन दिनों गुरुकुल में बड़ी छुट्टियां थीं। विद्यार्थी प्रायः बाहर गये हुए थे। जो व्यक्ति वहां थे, उन की बड़ी कठिनता से रक्षा हुई। इमारतों का एक लाख से ऊपर का नुकसान हुआ। इस भयंकर बाढ़ के कारण गुरुकुल के स्थान-परिवर्तन का प्रश्न बहुत महत्त्व पूर्ण होगा। प्रतिनिधि सभा में इस विषय में अनेक पक्ष थे। कुछ लोग गुरुकुल को पंजाब ले आना चाहते थे। कईयों का मत दिल्ली के समीप गुरुकुल बनाने का था। अनेक महानुभाव कांगड़ी ग्राम के समीप ही दूसरी जगह पर गुरुकुल की नई इमारतें बनाना चाहते

थे। पर पं० विश्वम्भरनाथ जी का पक्ष गंगा के पश्चिमीय तट पर सुरक्षित स्थान पर गुरुकुल रखने का था। पण्डित जी का पक्ष बहुमत से पास हो गया और गंगा की नहर के साथ गुरुकुल लिए नई भूमि खरीदी गई। अब तक इस नई भूमि पर पौने चार लाख की लागत की इमारत बन चुकी है और अनेक इमारतें अभी बननी अवशिष्ट हैं।

सन् १९२५ में गुरुकुल में 'व्रताभ्यास' की परिपाटी डाली गई। इस का उद्देश्य यह है कि ब्रह्मचारी अपने वैयक्तिक और सामाजिक कर्त्तव्यों को दण्ड के भय से नहीं, किन्तु उन की उपयोगिता और महत्व समझ कर पूरा करें। प्रत्येक ब्रह्मचारी के पास एक व्रताभ्यास पञ्जिका रहती है, जिस में वह प्रतिदिन यह स्वयं लिखता है कि किन २ नियमों का उसने पालन किया और किन २ का नहीं। जिन नियमों का पालन न किया हो, उन के सम्बन्ध में कारण भी देना होता है। मास के अन्त में इन पंजिकाओं के आधार पर अङ्क भी दिए जाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल का यह मौलिक परीक्षण है। अखिल एशियाटिक शिक्षा परिषद् में इस पद्धति को बहुत पसन्द किया गया और इसे सर्वत्र प्रारम्भ करने की सिफारिश भी की गई थी।

१९२४ में गुरुकुल को स्थापित हुए पूरे २५ वर्ष हो गये थे। अतः इस वर्ष का वार्षिकोत्सव रजतजयन्ती (सिल्वर जुबली) के रूप में बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया।

इस में ५० हजार से अधिक यात्री विविध प्रान्तों से सम्मिलित हुए। इनमें महात्मा गांधी, पं० मदनमोहन मालवीय, श्री निवास आयंगर, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, सेठ जमनालाल बजाज डा० मुंजे और श्री शंकरलाल बैंकर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन के अतिरिक्त प्रिंसीपल ध्रुव, साधुवर वास्वानी, डा० अविनाशचन्द्र दास, श्रीयुत् पीयूषकांति घोष आदि अनेक प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक भी जयन्ती महोत्सव में पधारे थे। आर्यसमाज के तो प्रायः सभी नेता संन्यासी और विद्वान् इस अवसर पर उपस्थित थे। गुरुकुल के २१ सालों के उत्सवों में यह पहला ही उत्सव था जब इस संस्था के संस्थापक श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज उपस्थित नहीं थे। जयन्ती महोत्सव से लगभग तीन मास पूर्व २३ दिसम्बर १९२६ को दिल्ली में उनका बलिदान हुआ था इस बलिदान के कारण जयन्ती महोत्सव के आनन्द पूर्ण समारोह में एक गम्भीर वेदना सी मिली हुई थी। जयन्ती महोत्सव बड़ी ही सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। उस अवसरपर १५३००००) नकद प्राप्त हुवे और १३००००) की प्रतिज्ञाएं हुईं। इन प्रतिज्ञाओं का प्रायः सारा धन पीछे से प्राप्त हो गया था।

रजतजयन्ती को सफलता के साथ पूर्ण करा के श्री पं० विश्वम्भरनाथ जी गुरुकुल से विदा हो गये। पण्डित जी का यह सिद्धांत है कि किसी व्यक्ति को एक संस्था में ५

वर्ष से अधिक संचालक रूप में नहीं रहना चाहिये। इसी के अनुसार उन्हों ने त्यागपत्र दे दिया और श्री आचार्य रामदेव जी उन के स्थान पर मुख्याधिष्ठाता नियत हुए।

आचार्य रामदेव जी सन् १६०५ में गुरुकुल आए थे। उन्होंने गुरुकुल का कार्य अंगरेजी के अध्यापक के रूप में प्रारम्भ किया था। पर वे लगन के पक्के थे और गुरुकुल शिक्षाप्रणाली पर उन्हें अगाध विश्वास था। गुरुकुल के लिये रात दिन एक कर कार्य करने में उन्हें आनन्द आता था। इसी का परिणाम हुआ कि गुरुकुल के सञ्चालन में उनका हाथ निरन्तर बढ़ता गया। वे अध्यापक से मुख्याध्यापक, फिर उपाचार्य,फिर आचार्य और अब १६२७में मुख्याधिष्ठाताके पद पर अधिष्ठित हुए। इन २२ वर्ष में वे शिक्षाविषयक प्रबन्ध के प्रायः कर्ताधर्ता ही रहे। यही नहीं, गुरुकुल के संचालन मे भी उनका प्रमुख भाग रहा । धन एकत्रित करने में वे महात्मा मुंशीराम जी के दांये हाथ थे। उनके व्याख्यानों की समाज मे धूम थी। उनमें एक प्रकार की अद्भुत शक्ति थी, जो अटल विश्वास त्याग और लगन से मनुष्य में विकसित होती है।

सन् १६२७ से १६३३ तक आचार्य रामदेव जी गुरुकुल में मुख्याधिष्ठाता रहे। इस काल में गुरुकुल की नई इमारत के लिए धन एकत्रित किया गया। आचार्य रामदेव जी के प्रयत्न से लाखों रुपया गुरुकुल को दान में मिला। नई भूमि

का क्रय कर उस पर इमारतें बननी शुरु हुईं सन् १६३० में गुरुकुल अपनी पुरानी भूमि को सदा के लिए नमस्कार कर नए स्थान पर आगया। गंगा के तटवाली उस पुरानी भूमि का कुलवासियों के हृदय में एक विशेष आकर्षण था। उस स्थान पर तपस्वी मुंशीराम ने अपने तप को सिद्ध किया था। भरे हृदयों से कुलवासियों ने उस स्थान का परित्याग किया और एक बृहद् यज्ञ के साथ नवीन भूमि में निवास का आरम्भ किया।

सन् १६३० में महात्मा गान्धी के नेतृत्व में सत्याग्रह संग्राम का प्रारम्भ हुआ। सारे भारत मे एक आग सी धधक उठी। हजारों की संख्या में देशभक्त लोग सत्याग्रह कर कैद होने लगे। सरकारी स्कूलों और कालेजों तक इसके प्रभाव से न बच सके। इस दशा में यह कैसे सम्भव था कि गुरुकुल पर इस देशव्यापी आन्दोलन का कोई प्रभाव न होता। गुरुकुल एक राष्ट्रीयता संस्था हैं। जब कभी देश, जाति व धर्म के लिए त्याग की आवश्यकता हुई, गुरुकुल कभी पीछे नहीं रहा। १६३० का सत्याग्रह संग्राम नवयुवकों को त्याग और तपस्या के लिए आह्वान कर रहा था। गुरुकुल के विद्यार्थी ऐसे समय में शान्त नहीं रह सके। उन दिनों ब्र० सर्वमित्र १३वीं श्रेणी में पढ़ते थे। वह एक अत्यन्त होन-हार विद्यार्थी था इसके नेतृत्व में गुरुकुल के विद्यार्थियों ने देश

के प्रति अपने कर्तव्य पालन का निश्चय किया। गुरुकुल के अधिकारी इसके लिए अनुमति नहीं दे सकते थे, क्योंकि गुरुकुल का एक संस्था के रूप में सत्याग्रह संग्राम में भाग लेना सम्भव नहीं था। अतः अधिकारियों से अनुमति प्राप्त न होने पर भी विद्यार्थियों ने स्वराज्य संग्राम में भाग लिया और विवश होकर कुछ महीनों के लिए गुरुकुल के महाविद्यालय विभाग में अवकाश करना पड़ा। बहुत से विद्यार्थी कैद होगए और ब्र० सर्वमित्र तथा उनके साथी ब्र० सत्यभूषण देहातों में काम करते हुए बीमार पड़े और स्वर्ग सिधारे। घोर विपत्तियों और प्रचण्ड महामारी की पर्वाह न कर जिस ढंग से इन ब्रह्मचारियों ने अपने प्राणों को मातृभूमि के लिए स्वाहा किया, उसे हम 'बलिदान' कहें तो अनुचित न होगा।

कुछ मास के असाधारण अवकाश के बाद गुरुकुल तो खुल गया, परन्तु अनेक विद्यार्थी सत्याग्रह संग्राम में व्यापृत रहे। सत्याग्रह के स्थगित होने पर ये फिर गुरुकुल में प्रविष्ट हुए और अपनी पढ़ाई को पूर्ण किया।

सन् १९३३ में आचार्य रामदेव जी भी सत्याग्रह में कार्य करने के लिए गुरुकुल से चले गए। उन के बाद प्रतिनिधि सभा ने किन्हीं एक महानुभाव को गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता नियत नहीं किया, अपितु गुरुकुल का प्रबन्ध एक उपसमिति के सुपुर्द किया। श्रीयुत देवराज जी सेठी उन दिनों

गुरुकुल के सहायक मुख्याधिष्ठाता थे। उन्हें उपसमिति का मंत्री बनाया गया। उनके अतिरिक्त श्री पं० चमूपति जी एम०ए० और श्री पं० देवशर्मा जी विद्यालंकार इसमें और रक्खे गए। उपसमिति का प्रधान पद श्री पं० चमूपति जी को दिया गया। एक मुख्याधिष्ठाता के स्थान तीन महानुभावों की उपसमिति नियत करना गुरुकुल के इतिहास में एक नया परीक्षण था। यह परीक्षण सफल न हो सका। कारण यह था कि समिति के तीनों सदस्यों के विचार एक सदृश नहीं थे उनमें मतभेद था इस समस्या का अन्त तब हुआ जब श्री पं० देवशर्मा जी और श्रीयुत देवराज जी सेठी त्याग पत्र देकर विस्तृत क्षेत्र में देश सेवा के लिए बाहर चले गए। अब पं० चमूपति जी मुख्याधिष्ठाता और आचार्य दोनों पदों पर कार्य करने लगे। आचार्य रामदेव जी के जाने पर गुरुकुल का संचालन करने के लिए जो उपसमिति बनी थी, वह पूरा एक वर्ष भी कार्य न कर सकी और सन् १९३४ के अन्तिम दिनों में गुरुकुल का संचालन भार श्री पं० चमूपति जी के पास आगया।

श्री पं० चमूपति जी आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् और और प्रचारक थे। गुरुकुल से उनका सम्बन्ध बहुत पुराना था। अबसे लगभग बीस वर्ष पूर्व वे गुरुकुल मुलतान के मुख्याधिष्ठाता बने थे और उस गुरुकुल का संचालक

करने में उन्हें बड़ी सफलता मिली थी। आचार्य रामदेव जी उन के गुणों पर मुग्ध हो उन्हें लाहौर ले आये थे और 'दयानन्द सेवा सदन' का आजीवन सदस्य बनने के लिए तय्यार किया था। अनेक वर्षों तक पंडित जी ने लाहौर में रह 'आर्य' का सम्पादन किया। वक्ता और लेखक के रूप में आर्यसमाज में उन की खूब ख्याति हुई। सन् १६२७ में वे गुरुकुल में आर्य सिद्धांत के प्रोफ़ेसर नियत होकर आये और 'वैदिक मैगज़ीन' के सम्पादन में भी आचार्य रामदेव जी की सहायता करते रहे। रामदेव जी के जेल जाने पर गुरुकुल के सञ्चालन का कार्य उन के सुपुर्द किया गया और उन्होंने योग्यता से इस कार्य को निभाया।

इन वर्षों में भी गुरुकुल की खूब उन्नति हुई। हिन्दु यूनिवर्सिटी काशी में प्रतिवर्ष हिन्दी और संस्कृत में वाद-विवाद होते हैं। इन में विविध यूनिवर्सिटियों के प्रतिनिधि सम्मिलित होकर किसी पूर्व निश्चित विषय पर वादविवाद करते हैं। सर्वोत्तम वक्ताओं को पुरस्कार प्रदान किये जाते हैं और जिस शिक्षणालय के विद्यार्थी सब से अधिक अंक प्राप्त करते हैं, उन्हें 'विजयोपहार' प्रदान किया जाता है। सन् १६३१ से १९३४ तक गुरुकुल के विद्यार्थी इन अन्तर्विश्वविद्यालय वादविवाद में सम्मिलित हुए और निरन्तर विजयी रहे।

केवल बनारस में ही नहीं, अपितु मेरठ, दिल्ली आदि

कई शिक्षा केन्द्रों में इस प्रकार के वादविवादों में गुरुकुल के विद्यार्थी 'विजयोपहार' जीत कर लाये।

सन् १९३१ में गुरुकुल को 'अधिक सर्वप्रिय बनाने के साधनों की सिफ़ारिश करने के लिए' महात्मा नारायण स्वामी जी की अध्यक्षता में एक कमीशन आर्यप्रतिनिधि सभा द्वारा नियुक्त हुआ। दो वर्ष तक परिश्रम कर इस कमीशन ने जो रिपोर्ट तैयार की, वह अब प्रतिनिधि सभा के सम्मुख विचारार्थ उपस्थित है।

सन् १९३५ में गुरुकुल के प्रबन्ध के सम्बन्ध में बहुत से महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए गुरुकुल के लिए पृथक विद्या सभा स्थापित करने का विचार बहुत पुराना है। महात्मा मुन्शी-राम जी ने इस के लिए सन् १९१० से ही आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। १९२१ में जिस प्रस्ताव द्वारा प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल को एक विश्वविद्यालय के रूप में परिव-र्तित किया, उस में ही यह भी सिद्धांत रूप में स्वीकृत कर लिया, कि गुरुकुल के लिए विद्यासभा का पृथक रूप से निर्माण होना चाहिये। १९२४ में विद्या सभा के संगठन का खाका तैयार हुआ और प्रतिनिधि सभा में यह स्वीकृत भी हो गया। पर कुछ कारणों से उसे क्रिया में परिणत नहीं किया जा सका। १९३५ में विद्यासभा की स्थापना के लिए फिर प्रबल आन्दोलन हुवा। आर्यप्रतिनिधि सभा

का कार्य क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया था कि एक कार्य-कारिणी समिति (अन्तरंग सभा) सब विषयों पर यथोचित ध्यान नहीं दे सकती थी । साथ ही, गुरुकुल अब एक अच्छे बड़े विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो गया था। उस के लिए एक ऐसी सभा की आवश्यकता थी जिस का मुख्य कार्य गुरुकुल का ही सञ्चालन हो । स्नातक मण्डल ने इस के लिए बड़ा प्रबल आन्दोलन किया । सन १९३५ आर्यप्रतिनिधि सभा के नये निर्वाचन का साल था। इस का लाभ उठा कर विद्या सभा के पक्षपाती लोग बड़ी संख्या में प्रतिनिधि निर्वाचित हो कर आये । परिणाम यह हुआ, कि १९३५ के प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन में गुरु-कुल के लिये पृथक विद्या सभा स्थापित कर दी गई । गुरु-कुल के इतिहास में यह बात बड़े महत्व की हुई ।

१९३५ के अप्रैल मास में पं० चमूपति जी ने गुरुकुल से त्याग पत्र दे दिया था । नवनिर्मिति विद्या सभा ने उन के स्थान पर पं० सत्यव्रत जी सिद्धांतलंकार को मुख्याधिष्ठाता और पं० देवशर्मा जी विद्यालंकार को आचार्य पद पर नियत किया । पं० सत्यव्रत जी गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक हैं और सन् १९२३ से गुरुकुल में कार्य कर रहे हैं । अनेक वर्षों तक वे गुरुकुल के प्रस्तोता (रजिस्टार) रहे हैं, अतः

शिक्षा विषयक प्रबन्ध में उन का देर से हाथ है। अच्छे वक्ता और लेखक होने के कारण न केवल आर्यसामाजिक क्षेत्र में अपितु बाहर भी उन की अच्छी ख्याति है। पं० देव-शर्मा जी भी गुरुकुल के स्नातक हैं। और सन् १६२१ से कार्यकर्ता के रूप में भी गुरुकुल से सम्बद्ध हैं। अनेक बार पहिले भी वे उपाचार्य व 'सामयिक-आचार्य' का कार्य कर चुके हैं। त्याग, तपस्या और देश सेवा के लिये उन की दूर दूर तक प्रसिद्धि है। सदाचार और त्याग तपस्या के लिये महात्मा गांधी भी उन का सिक्का मानते हैं। वे एक सच्चे महात्मा हैं, जिन्हों ने अपना जीवन देश और धर्म की सेवा के लिये अर्पण किया हुआ है।

✓ सन् १६०२ से १६३६ तक ३४ वर्षों में गुरुकुल का किस प्रकार विकास हुआ, इस का संक्षिप्त विवरण हम यहां समाप्त करते हैं। हमने जान बूझ कर बहुत सी बातों को छोड़ दिया है। संस्थाओं में संघर्षों का होना बिल्कुल स्वाभाविक है। जहां दस आदमी भी रहेंगे, परस्पर झगड़े होंगे, संघर्ष होंगे। फिर जहां सार्व जनिक क्षेत्र में एक नवीन आदर्श को सम्मुख रख बहुत से महानुभाव काम कर रहे हों, यह कैसे सम्भव है। इन संघर्षों का अपना उपयोग है। जब तक आदर्श, सिद्धांत और क्रिया विधि के सम्बन्ध में लोगों

में मतभेद न हो, उन्नति असम्भव है। गुरुकुलों में भी विविध महानुभावों में बहुत से मतभेद रहे, अनेक बार संघर्ष हुये। पर इस में सन्देह नहीं, कि सब का लक्ष्य गुरुकुल की उन्नति रहा। इसी का परिणाम है कि गुरुकुल आज इस उन्नत दशा को पहुंच सका है।

इस के साथ ही जिन लोगों के प्रयत्न से गुरुकुल अपनी वर्तमान दशा को पहुंचा है, उन सब का उल्लेख करना असम्भव था। हमने केवल उन महानुभावों का नाम दिया है, जो प्रमुख रूप से जनता के सम्मुख रहे। पर उन के अतिरिक्त कितने ही महानुभाव हैं जिन्होंने गुरुकुल के लिए अपना तन मन धन सब अर्पण कर दिया मुंशी रामसिंह जी गुरुकुल खुलने के कुछ वर्ष बाद, यहां आये, उनके पास जो धन-सम्पति थी सब गुरुकुल के लिये दान कर दी, और भोजन मात्र पर गुरुकुल की सेवा प्रारम्भ की। आज उन्हें कार्य करते हुये ३० वर्ष हो गये हैं। लाला बीरबल जी और लाला चिरञ्जीलाल जी पटवारी भण्डारी के रूप में और गुरु रामजी लाल जी ने गोशालाध्यक्ष के रूप में गुरुकुल की जो सात्विक सेवा की, उसे कौन आंखों से ओझल कर सकता है। लाला लब्भूराम जी नैय्यड़ ने गुरुकुल के लिये धन एकत्रित करने में जो कार्य किया, वह वस्तुतः अद्भुत है। यदि उन जैसे दस महानुभाव और

निकल आये, तो गुरुकुल आर्थिक चिन्ता से सदा के लिए मुक्त हो जावे। भाई टेकचन्द नागिया ने ५० हजार रुपया दान देकर गुरुकुल की इमारत-निधि को जहां बड़ी सहायता पहुंचाई, वहां प्रति वर्ष एक विद्यार्थी सर्वथा मुफ्त। खाने पहिनने का व्यय भी न लेकर दाखिल करने की व्यवस्था की। सेठ रग्घूमल के बाद गुरुकुल के दानियों में भाई जी का ही सर्वोच्च स्थान है। लाला नन्दलाल, श्रीयुत् ज्ञानचन्द मेहता, डिप्टी रघुबर दयाल, पं० महानन्द सिद्धांतालंकार, श्री देवराज सेठी और पं० दीनदयालु शास्त्री ने गुरुकुल के आन्तरिक प्रबन्ध को सम्हालने में बड़ा भारी कार्य किया। गुरुकुल का कार्यालय बहुत ही सुव्यवस्थित रूप में है। उसे उन्नत करने का सारा श्रेय लाला मुरारीलाल जी और पं० अमरनाथ सप्रू को है। हम कहां तक नाम लिखें। गुरुकुल कार्य कर्ताओं की दृष्टि से बड़ा सौभाग्य शाली रहा है। उस के प्रत्येक अंग पर किसी न किसी स्वार्थ त्यागी कर्मचारी के अनर्थक परिश्रम और लगन की छाप है।

गुरुकुल को स्थापित हुये आज ३४ वर्ष व्यतीत होचुके हैं। ३४ विद्यार्थियों की छोटी सी पाठशाला से शुरु होकर अब वह एक विश्वविद्यालय बन चुका है, जिस में एक हजार के लगभग विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। उस के

अन्तर्गत चार महाविद्यालय और दस विद्यालय हैं । गुरुकुल की यह उन्नति सचमुच आश्चर्य जनक है । सरकार से न केवल किसी प्रकार की सहायता न ले कर, अपितु सरकारी शिक्षा से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न रख राष्ट्रीय शिक्षणालय के रूप में गुरुकुल कांगड़ी को जितनी सफलता मिली है, उतनी अन्य किसी संस्था को नहीं मिली। गुरुकुल की स्थापना आर्यसमाज ने की थी । आर्यसमाज के शिक्षा के क्षेत्र में जो विशेष आदर्श और सिद्धांत है। उन्हें क्रिया में परिणत कर गुरुकुल ने बड़ा भारी कार्य किया है। वैदिक धर्म्म, भारतीय सभ्यता और आर्य संस्कृति के रंग में रंगे हुए उच्च शिक्षित नागरिक उत्पन्न कर गुरुकुल ने जहां आर्यसमाज की बड़ी सेवा की है, वहां सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा का विचार भी देश के सम्मुख रखा है।

गुरुकुल स्थापित करने में 'आर्य प्रतिनिधि सभा' का मुख्य उद्देश्य वैदिक साहित्य का अनुशीलन तथा वैदिक धर्म का पुनरुसंजीवन था। इस के लिए जो कार्य गुरुकुल ने किया है, वह ध्यान देने योग्य है । आज से ३० वर्ष पूर्व आर्यसमाज में एक भी ऐसा विद्वान् नहीं था, जो वेद वेदांग का अध्यापन कर सके । गुरुकुल में इन विषयों को पढ़ाने के लिए जब अध्यापकों की आवश्यकता हुई तो सनातनी

पण्डित रखे गये । गुरु काशीनाथ जी, पं० सूर्यदेव शर्मा और पं० योगेन्द्रनाथ भट्टाचार्य गुरुकुल में सब से पहिले वेद वेदाङ्ग के अध्यापक थे। ये लोग कट्टर सनातनी थे और गुरुकुल में रहते हुए भी मूर्ति पूजा करते थे । ढूढने से भी आर्य समाज में कोई भी ऐसा पण्डित उस समय में नहीं मिलता था, जो वेद ब्राह्मण-ग्रन्थ व दर्शनों का उच्च कोटी का अध्यापन करा सके । कुछ दिनों के लिये पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ गुरुकुल में रहे, पर भयंकर रोग से पीड़ित होने के कारण वे देर तक टिक सके, पर गुरुकुल के प्रयत्न से आज वेद वेदांगों के पण्डितों को कमी नहीं रही। आज न केवल गुरुकुल कांगड़ी में, अपितु, बहुत सी आर्य संस्थाओं में इन विषयों के पढ़ाने के कार्य गुरुकुल के स्नातक कर रहे हैं। आज आर्य समाजमें जितने भी वैदिक विद्वान् हैं उनमें से कमसे कम तीन चौथाई गुरुकुल की उपज है पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर गुरुकुल के स्नातक नहीं है पर उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान गुरुकुल में रह कर प्राप्त किया है। गुरुकुल के स्नातकों में पं० जयदेव जी विद्यालंकार ने चारों वेदों का भाष्य कर आर्यसमाज की जो महान सेवा की है उसे कौन भूल सकता है ऋषि दयानन्द के बाद पं० जयदेव जी पहिले विद्वान हैं। जो चारों वेदों के पण्डित वे वेद भाष्य का कार्य समाप्त कर अब अन्य आर्षग्रन्थों के

भाष्य में लगे हैं। गुरुकुल के वेदोपाध्याय पं० विश्वनाथ विद्यालंकार आर्य समाज के सब से गम्भीर वैदिक विद्वान है। वेदों का जितना विस्तृत और विवेचनात्मक अध्ययन उन्होंने किया है, उतना और शायद ही किसी ने किया हो। पं० देव शर्मा विद्यालंकार की 'वैदिक विनय' जिस ने पढ़ी है उस ने उस की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। पं० इन्दु विद्या वाचस्पति, पं० चन्द्रमणि विद्यालङ्कार, पं० धर्मदेव विद्या वाचस्पति, पं० प्रियव्रत वेद वाचस्पति, पं० धर्मदेव वेदवाच-स्पति, पं० देवराज जी आदि कितने ही स्नातकों की वेद विषयक पुस्तकें आर्य समाज के सम्मुख आचुकी है। अनेक स्नातक वेद विषयक ग्रन्थ लिखने में व्याप्त हैं। गुरुकुल का प्रत्येक विद्यार्थी लगभग २००० मन्त्र गुरुकुल में पढ़ लेता है। इस से उन में वेदों को समझने की अच्छी योग्यता उत्पन्न हो जाती है। जो विद्यार्थी वेद महाविद्यालय में पढते हैं, उन की वैदिक योग्यता तो और भी होती है। आधु-निक ज्ञान विज्ञानों तथा नवीन विवेचनात्मक शैली से परि-चित होने के कारण गुरुकुल के स्नातक वैदिक अनुसन्धान का कार्य बड़ी उत्तमता के साथ कर सकते हैं।

आर्यसमाज के प्रचार के लिए भी गुरुकुल के स्नातकों ने बड़ा कार्य किया है, प्रतिनिधि सभा के अनेक प्रसिद्ध

उपदेशक गुरुकुल के स्नातक है। पं० बुद्धदेव जी, पं० प्रियव्रत जी, पं० यशपालजी आदि स्नातक प्रचार कार्य जिस सफलता के साथ कर रहे हैं उस से पंजाब के आर्य बन्धु भली भांति परिचित हैं। दाक्षिण भारत में वैदिक धर्म का सन्देश पं० धर्मदेव जी, पं० केशवदेव जी, पं० देवेश्वर जी आदि स्नातक ही ले गये हैं। दक्षिण अफ्रीका फिजी आदि विदेशों में पं० सत्यपाल जी, पं० ईश्वरदत्त जी, पं० अमीचन्द जी आदि कितने ही स्नातक वैदिक धर्म का प्रचार कर चुके हैं और कर रहे हैं। गुरुकुल के ६० से अधिक स्नातक इस समय आर्य समाज की सेवा में हैं और उस के विविध क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी की जो सेवा गुरुकुल के स्नातकों ने की है उस की सर्वत्र प्रशंसा हुई है। इतिहास अर्थशास्त्र राजनीति आदि विविध विषयों पर गुरुकुल के स्नातकों ने मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं। गुरुकुल के दो स्नातकों को हिन्दी साहित्य की ओर से १२००) का मंगला प्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हो चुका है। पं० सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने मौर्य साम्राज्य का इतिहास पर और पं० जयचन्द्र विद्यालङ्कार ने भारतीय इतिहास की रूप रेखा' पर यह पुरस्कार प्राप्त किया है। डा० प्राणनाथ विद्यालङ्कार के ग्रन्थ हिन्दी जगत् में अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके है। पं० चन्द्रमणि विद्यालङ्कार ने निरुक्त का जो विस्तृत भाष्य किया है, उसकी भारत भर के विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से

प्रशंसा की है। निरुक्त पर सम्भवतः वह सबसे उत्तम ग्रन्थ है। पं० चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार हिन्दी के प्रतिष्ठित गल्पलेखक हैं। उनकी गल्पें बहुत उच्चकोटि की मानी जाती हैं। पं वंशीधर विद्यालङ्कार पं० निरंजन देव और पं० सत्यपाल उन्मुख अच्छे कवि हैं और हिन्दी के कवि समाज में अच्छी स्थिति रखते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से स्नातकों के हिन्दी साहित्यिक क्षेत्र में बहुमुल्य सेवा की है। गुरुकुल के कम से कम २५ फी सदी स्नातक अच्छे लेखक हैं और अपने लेखों व ग्रन्थों द्वारा हिन्दी साहित्य की सेवा कर रहे हैं।

पत्र-सम्पादान के क्षेत्र में भी गुरुकुल के स्नातकोंने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, पं० सत्यदेव विद्यालङ्कार पं० रामगोपाल विद्यालङ्कार, पं भीमसेन विद्यालङ्कार, पं० अवनीन्द्रकुमार विद्यालङ्कार, पं० कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार पं० सत्यकाम विद्यालङ्कार पं० वेदव्रत विद्यालङ्कार पं० परमानन्द विद्यालङ्कार आदि कितने ही स्नातक विविध समाचार पत्रों के सम्पादन कार्य में प्रसिद्धि प्रप्त कर चुके हैं। अभिप्राय यह है कि हिन्दी के सभी साहित्यिक क्षेत्रों में स्नातक लोग सफलता के साथ कार्य कर रहे हैं।

गुरुकुल के अब तक ४०० स्नातक निकले हैं। ये सभी विविध क्षेत्रों में सफलता पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारत मे बेकारी की जो घोर समस्या है। वह अब सरकारी

यूनिवर्सिटियो के स्नातकों के सन्मुख भी बड़ी उग्रता के साथ उपस्थित है। गुरुकुल का स्नातक नौकरी के उद्देश से शिक्षा प्राप्त नहीं करता, उसे शुरू मे ही स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया जाता है। यही कारण है, कि गुरुकुल से निकल कर वह अपनी परिस्थितियों और सामर्थ्य के अनुसार अपने लिए मार्ग ढूंढ निकालने में सफल हो जाता है।

गुरुकुल के सन्मुख उन्नति का विशाल क्षेत्र खुला पड़ा है। अनेक योजनाएं स्वामी श्रद्धानन्द जी के समय से गुरुकुल के सन्मुख विद्यमान है। शिल्प विद्यालय (Industrial College) के लिए २० हजार रुपया प्राप्त भी हो चुका है। कृषि के लिए भी २५ हजार रुपये गुरुकुल के पास मौजूद हैं। वैदिक साहित्य और इतिहास की खोज के लिए भी कुछ रकमें आई हुई हैं। पर ये कार्य तभी प्रारम्भ हो सकते हैं, जब इनके लिए धन की यथोचित व्यवस्था हो। आशा है, आर्य-जनता की सहानुभूति और सहायता से गुरुकुल स्वामी श्रद्धानन्द जी के इन असिद्ध स्वप्नों को पूर्ण करने में सफल हो सकेगा।

प्रशंसा की है। निरुक्त पर सम्भवतः यह सबसे उत्तम ग्रन्थ है। पं० चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार हिन्दी के प्रतिष्ठित गल्पलेखक हैं। उनकी गल्पें बहुत उच्चकोटि की मानी जाती हैं। पं वंशीधर विद्यालङ्कार पं० निरंजन देव और पं० सत्यपाल उन्मुख अच्छे कवि हैं और हिन्दी के कवि समाज में अच्छी स्थिति रखते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से स्नातकों के हिन्दी साहित्यिक क्षेत्र में बहुमुल्य सेवा की है। गुरुकुल के कम से कम २५ फी सदी स्नातक अच्छे लेखक हैं और अपने लेखों व ग्रन्थों द्वारा हिन्दी साहित्य की सेवा कर रहे हैं।

पत्र-सम्पदान के क्षेत्र में भी गुरुकुल के स्नातकोंने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, पं० सत्यदेव विद्यालङ्कार पं० रामगोपाल विद्यालङ्कार, पं भीमसेन विद्यालङ्कार, पं० अवनीन्द्रकुमार विद्यालङ्कार, पं० कृष्णचन्द्र विद्यालंङ्कार पं० सत्यकाम विद्यालङ्कार पं० वेदव्रत विद्याङ्कार पं० परमानन्द विद्यालङ्कार आदि कितने ही स्नातक विविध समाचार पत्रों के सम्पादन कार्य में प्रसिद्धि प्रप्त कर चुके हैं। अभिप्राय यह है कि हिन्दी के सभी साहित्यिक क्षेत्रों में स्नातक लोग सफलता के साथ कार्य कर रहे हैं।

गुरुकुल के अब तक ४००. स्नातक निकले हैं। ये सभी विविध क्षेत्रों में सफलता पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारत में बेकारी की जो घोर समस्या है, वह अब सरकारी

यूनिवर्सिटियो के स्नातकों के सन्मुख भी बड़ी उग्रता के साथ उपस्थित है। गुरुकुल का स्नातक नौकरी के उद्देश से शिक्षा प्राप्त नहीं करता, उसे शुरू मे ही स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया जाता है। यही काराण है, कि गुरुकुल से निकल कर वह अपनी परिस्थितियों और सामर्थ्य के अनुसार अपने लिए मार्ग ढूंढ निकालने में सफल हो जाता है।

गुरुकुल के सन्मुख उन्नति का विशाल क्षेत्र खुला पड़ा है। अनेक योजनाएं स्वामी श्रद्धानन्द जी के समय से गुरुकुल के सन्मुख विद्यमान है। शिल्प विद्यालय (Industrial College) के लिए २० हजार रुपया प्राप्त भी हो चुका है। कृषि के लिए भी २५ हजार रुपये गुरुकुल के पास मौजूद हैं। वैदिक साहित्य और इतिहास की खोज के लिए भी कुछ रकमें आई हुई हैं। पर ये कार्य तभी प्रारम्भ हो सकते हैं, जब इनके लिए धन की यथोचित व्यवस्था हो। आशा है, आर्य-जनता की सहानुभूति और सहायता से गुरुकुल स्वामी श्रद्धानन्द जी के इन असिद्ध स्वप्नों' को पूर्ण करने में सफल हो सकेगा।

दलितोद्धार

म० रामचन्द्र का बलिदान

दलितोद्धार का कार्य धीरे-धीरे हो ही रहा था। प्रत्येक स्थान में स्थानीय आर्य समाज इस कार्य को क्रमिक-रूप से आगे ले जा रहे थे। मेघोद्धार-सभा का कार्य संघटित तथा व्यवस्थित था। उस के शिक्षणालय चल रहे थे। मेघ विद्यार्थी ऊँची कक्षाओं तक की शिक्षा पा रहे थे। तो भी सामान्य दलित भाइयों का कष्ट अभी मिटा नहीं था। इस के निवारण में चुपचाप काम करने वाले आर्य सेवक अपने सुख तथा समय की आहुति दे रहे थे। ऐसे ही एक कार्य-कर्ता जम्मू तहसील के ख़ज़ानची म० रामचन्द्र थे। जम्मू से उन्हें अखनूर परिवर्तित किया गया। वहाँ के दलित भाइयों की सेवा के कारण उन का तथा सभी आर्य सभासदों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया। आर्यों ने यह कष्ट सह लिया परन्तु अपने धार्मिक कृत्य से तिल-मात्र न हटे। रामचन्द्र को वहाँ से फिर जम्मू लौटा लिया गया।

वह अवकाश के समय दलितों के आवास में जाता और उन में प्रचार करता। इस से राजपूत लोग उस के विरोधी हो गये। १५ जनवरी १९२३ को इस प्रकार के एक प्रचार-सम्मेलन में राजपूतों ने उस पर लाठियों का आक्रमण कर दिया और उसे मूर्छित कर वहीं छोड़ गये। रामचन्द्र के साथियों ने बड़ी कठिनाई से उस के घायल शरीर को, जम्मू जा रही, एक नौका में रख कर हस्पताल पहुँचाया। वहाँ सप्ताह-भर इसी दशा में रह कर २० जनवरी को उस का प्राणान्त हो गया। रामचन्द्र ने जान दे दी पर दलितोद्धार जी उठा।
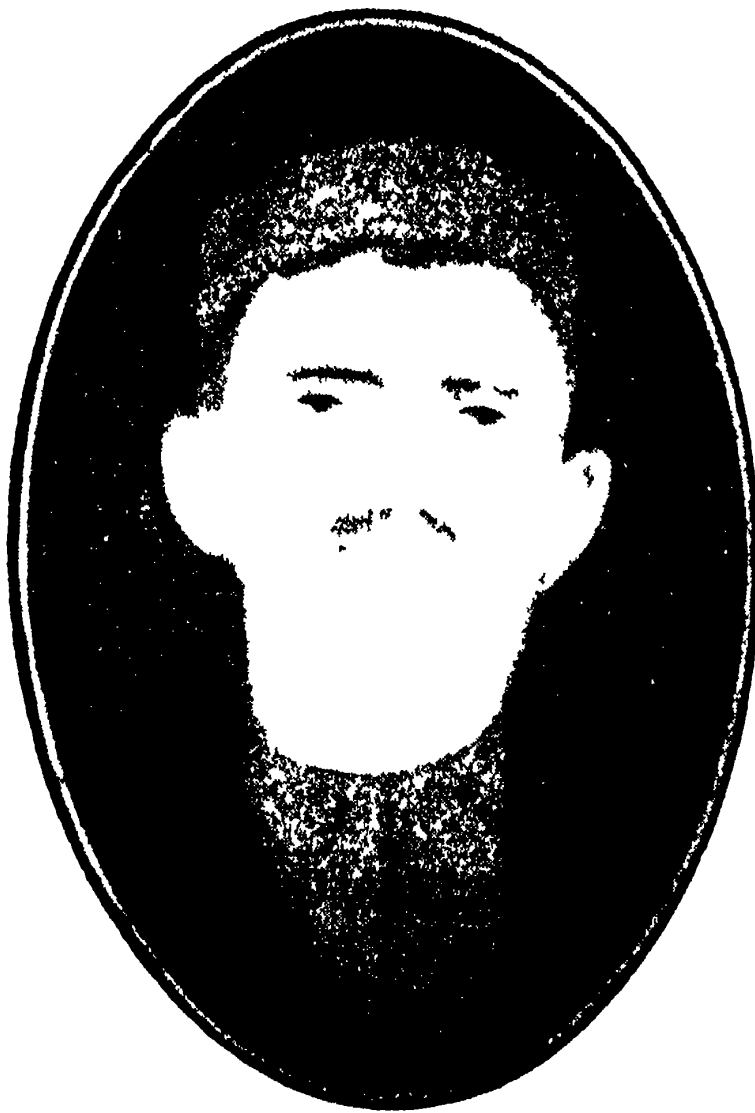
म० रामचन्द्र

दलितोद्धार की वेदी पर आर्य समाज की यह अमर आहुति फल लाई। राजपूतों के इस अत्याचार के विरुद्ध सब ओर रोष तथा घृणा की एक लहर फैल गई। म० कृष्ण के सभापतित्व में जम्मू में उसी वर्ष महान् शुद्धि-समारंभ

हुआ। चारों ओर हज़ारों की संख्या में अछूत जातियों की छूत-छात हटाई जाने लगी। इस का परिणाम यह हुआ कि उस सारे प्रदेश में अब छूत-छात की वह कड़ाई रह ही नहीं गई।

बुटहरा स्थान पर जहाँ वीर रामचन्द्र का बलिदान हुआ था अब प्रति वर्ष मेला लगता है। उस में इधर-उधर के आर्य लोग हज़ारों की संख्या में पहुँचते है। आर्य समाज का प्रचार होता है और अस्पृश्यता का क्रियात्मक निवारण। बाल-प्रदर्शन, कुश्ती, चर्खा-साम्मुख्य आदि समारंभ किये जाते हैं। इन सब कार्यों में ऊँची-नीची सभी जातों के लोग सम्मिलित हो कर वीर के उद्देश्य की, क्रियात्मक रूप से पूर्ति करते हैं। यह मेला दूसरे शब्दों में १९२४ में किये गये अत्याचार का नियमित प्रायश्चित्त है। आर्य सामाजिक प्रकार का यह वीर तर्पण है। जम्मू, बुटहरा, बरकतपुर और ऊधमपुर में उन्हीं दिनों दलितोद्धार पाठशालाएँ खोल दी गईं। ये वहाँ के बालकों को शिक्षा देती है।

२ मार्च १९२३ की सभा ने "पंजाब दयानन्द दलितोद्धार मण्डल" की स्थापना कर दी। १९२६की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि इस मण्डल के प्रयत्न से उस वर्ष तक ८ हज़ार चमार केवल सियालकोट ज़िले ही में समाज के अंग बन चुके थे। इस के अतिरिक्त बटवालों में भी कार्य किया जा रहा था। डूम तथा बटवाल जाति के १०० के लगभग नर-नारी कई वर्षों से मुसलमान चले आते थे। समाज ने उन्हें भी शुद्ध कर अपने साथ मिला लिया। मोरिंडा तथा लायलपुर में

भी कार्य किया गया । मोरिंडा में चमारों के २० घर आर्य बन गये।

भद्रवाह तथा किश्तवार के कार्य की ओर भी संकेत किया गया है। ज़िला गुरुदासपुर में १० स्थानों पर उत्सव हुए और १८१७ चमारों की शुद्धि हुई। १६२७ की रिपोर्ट में बावरियों तथा साँसियों की शुद्धि का वर्णन है। ये जातियाँ जराइम-पेशा हैं। लाहौर तथा फ़ीरोज़पुर में बाल्मीकों में काम किया गया। फ़ीरोज़पुर के पं०विष्णुदत्त वकील ने इन लोगों के सम्मेलन कर इन में अच्छी जागृति पैदा की।

दलितोद्धार के कार्य को अधिक संघटित तथा विस्तृत करने के लिए ११ मई १६३० की अन्तरंग सभा ने पृथक् "दयानन्द-दलितोद्धार सभा" की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकार किया। इस के १० सभासद प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग निर्वाचित करती है, शेष ११ दलितोद्धार सभा के अपने निर्वाचित किये हुए होते हैं। इस सभा ने अपना कार्य-क्षेत्र निम्न-लिखित १२ मण्डलों में बाँट रखा है :—

मण्डल	अधिष्ठाता
जम्मू	म० अनन्तराम
गुरुदासपुर कटूहा चंबा	म० गौरीशंकर
मुलतान	ला० परमानन्द
फ़ीरोज़पुर	पं० विष्णुदत्त बी० ए०, एल-एल० बी०
स्यालकोट	श्री चिरंजीव बी० ए०, एल-एल० बी०

मीरपुर — ला० कर्मचन्द बी० ए०, एल-एल० बी०
हमीरपुर
देवा
बटाला
रामसू
शिमला
लाहौर
लुधियाना
किश्तवार

इस सभा के प्रबन्ध से १६३० में लगभग ५३००, १६३१ में १०००, १६३२ में १७००, १६३३ में १५३० नर-नारियों को, संस्कार कर आर्य बनाया गया।

इस समय दलित जातियों को एक कष्ट पानी का है। उच्च जातों के लोग उन्हें अपने कुओं से पानी नहीं भरने देते। दलितोद्धार सभा ने बहुत से स्थानों पर आंदोलन कर उन्हें उन्हीं पुराने कुओं पर चढ़ा दिया है। जहाँ ऐसा करना असंभव प्रतीत हुआ, उन्हें नया कुआँ बनवा दिया है। कुओं पर चढ़ जाने में कई स्थानों पर कठिनता का सामना करना पड़ा है। जगाधरी में प्याऊ वाले की छूत-छात के कारण कुछ "अस्पृश्य" भाई मुसलमान हो गये। वे कलिमा पढ़ते ही फिर उसी प्याऊ पर गये और उन्हें निस्संकोच पानी पिला दिया गया। इस पर शेष अछूत भी मुसलमान होने को तय्यार हो गये। आर्य उपदेशकों के समझाने पर हिन्दुओं ने अब वह छूत-छात हटा दी।

बजवात में कुएँ से पानी भर रहे आर्य कार्यकर्त्ताओं को दो बार लाठी से पीट कर घायल कर दिया गया। आर्यों की इस सहिष्णुता का परिणाम यह हुआ कि उस सारे इलाक़े में कुओं की बाधा अपने आप हट गई। फ़ूकल्याण की कान्फ़रेंस में स्वयं राजपूतों ने ही अपने कुएँ दलित भाइयों के लिए खोल दिये।

कुराली (ज़िला अम्बाला) में ९ महीने अभियोग चलता रहा। अभियुक्तों में सभा के मन्त्री पं० ज्ञानचन्द्र बी० ए० भी थे। अन्त को कुओं के प्रयोग का अधिकार अपने आप स्वीकार कर लिया गया। स्वयं हाईकोर्ट दलित जातियों के इस अधिकार को सारे प्रान्त के लिए स्वीकार कर चुकी है।

चंबा रियासत में हाली नाम की जाति बसती है। उसे राजनियमानुसार लाश उठाने, पशुओं की खाल उतारने तथा ढोल पीटने पर बाधित किया जाता है। १९३३ में उन्हें नाग देवता के आगे बकरी की बलि देने पर विवश किया गया। इस आज्ञा के विरुद्ध प्रतिवाद के रूप में आर्य कार्यकर्त्ता म० रामशरण ने रियासत की सेवा छोड़ दी। ये महाशय वहीं रह कर अपने उद्देश्य की पूर्ति में लगे हुए हैं। सभा की ओर से वहाँ एक बृहत् सम्मेलन हुआ और राज्य का ध्यान इन अत्याचारों की ओर खैंचा गया।

दलित जातियों के ये कष्ट अब व्यापक नहीं रहे किन्तु कहीं-कहीं स्थानीय रूप में ही पाये जाते हैं। इन की कठोरता की मात्रा तथा स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। अब आवश्य-

कता इन्हें शिक्षा देने तथा धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक इत्यादि सभी दृष्टियों से उन्नत करने की है। सभा ने इस उद्देश्य से ११ पाठशालाएँ खोल रखी हैं। किला गुजरसिंह जैसे स्थानों में हाथ का काम भी सिखाया जाता है। २० विद्यार्थियों को—किसी को पूरे, किसी को आंशिक व्यय के रूप में—छात्र-वृत्तियाँ दी जाती हैं। इन में से १० विद्यार्थी औद्योगिक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। १९३३ की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि १५ पुरुषों को भिक्षा-वृत्ति से हटा कर शाकादि बेचने पर लगाया गया। ८ स्त्रियों को तागे का गोटा बनाने में प्रवृत्त किया गया। किश्तवार में ३ परिवारों को सेब बोने में प्रवृत्त किया गया। शकरगढ़ में दर्ज़ी श्रेणी खोल दी गई। गुरुदत्त भवन में अमृतधारा के प्रसिद्ध आविष्कर्ता पं० ठाकुरदत्त शर्मा ने इन दलित जातियों की सहायतार्थ "चैरिटेबल इंडस्ट्रीज़" नाम का कारखाना खोल रखा है। ये प्रयत्न उन दिशाओं की ओर संकेत करते हैं जिन में काम हो रहा है।

शिक्षणालयों के अतिरिक्त कुछ औषधालय भी स्थापित किये गये हैं।

जैसे हम ऊपर कह चुके हैं सभा का ध्यान कुत्सित-जीवियों (criminal tribes) की ओर भी खिंचा है। १९२९ में ५०० बाज़ीगरों को फिरन्दर-पने से हटा कर घरों में बसा दिया गया। १९३१ की रिपोर्ट में तड़गढ़ (ज़ि० लाहौर) तथा कालाखताई (ज़ि० शेखूपुरा) में स्थापित की गई बाज़ीगरों की बस्तियों का वर्णन आता है। ये बस्तियाँ

दृढ़-रूप से स्थापित हो गई हैं। इस जाति के बच्चों को शिक्षा में प्रवृत्त किया गया है। वे स्कूलों में जा कर शिक्षा लाभ करते हैं। १९३० की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि मोरिंडा (ज़ि० अम्बाला) में बंगालों का उपनिवेश बसाया गया। कुसमसर (ज़ि० मुलतान) में साँसियों के आर्य समाज तथा भजन-मण्डली की स्थापना हुई। ज़ि० कर्नाल के हेरियों, ज़ि० गुरुदासपुर के साँसियों और ज़ि० रोहतक के बौरियों में भी प्रचार-कार्य किया गया। कुत्सित-जीवियों के सुधार का कार्य अधिक साधन तथा साधक चाहता है।

१८८८ में पं० गंगाराम द्वारा आरम्भ किये गये दलितोद्धार का वर्तमान रूप यह है। आर्य समाज इस क्षेत्र में वस्तुतः क्रान्ति लाया है। हमारे आजकल के व्यवहार की कोई, और पुराने नहीं, दस वर्ष पीछे के व्यवहार से ही तुलना करे तो आकाश-पाताल का अन्तर पाये। छूत-छात जा रही है। इस के स्थान में एकता आ रही है। यह देख कर आश्चर्य होता है कि ऋषि ने अपने जीवन में एकदम वे-वे कार्य कर दिखाये जिन का अभिप्राय इतने वर्षों के विकास के पश्चात् भी हमारे बन्धुओं की समझ में नहीं आता। दलित समुदाय, आंगल साम्राज्य का हो न हो, आर्य समाज का सब से मज़बूत लंगर अवश्य है।

ऋषि की जन्म-शताब्दी

दयानन्द उपदेशक-विद्यालय

१९२४ में ऋषि का जन्म हुए पूरे सौ साल हो गये। इस से कई वर्ष पूर्व ऋषि-भक्तों को विचार हुआ कि इस अवसर पर विशेष समारोह किया जाय। ऋषि का जन्म धार्मिक जगत् की एक स्वर्णीय घटना थी। यू० पी० प्रतिनिधि सभा के प्रसिद्ध कार्यकर्ता म० मदनमोहन सेठ एम० ए०, एल-एल० बी० ने ऋषि की जन्म-शताब्दी मनाने का विचार आर्य जगत् के सम्मुख रखा। आर्य जगत् ने एक स्वर से इस प्रस्ताव का स्वागत किया। अन्ततः ३ सितंबर १९२२ के सार्वदेशिक सभा तथा परोपकारिणी सभा के सम्मिलित अधिवेशन में मथुरा में शिव-रात्रि के समय यह शताब्दी-समारोह किये जाने का निश्चय किया गया।

पंजाब की सभा ने अपने प्रान्त में इस महोत्सव की आयोजना के लिए स्वा० सत्यानन्द की प्रधानता में शताब्दी-समिति का निर्माण किया। शताब्दी को अभी

तीन वर्ष शेष थे। निश्चय किया गया कि इन वर्षों में क्रमशः दयानन्द-सप्ताह, दयानन्द-पक्ष तथा दयानन्द-मास मनाया जाय। बड़े-बड़े स्थानों में मण्डल बन गये और उन के द्वारा अपूर्व उत्साह से काम होने लगा। अन्तिम वर्ष अर्थात् १९२४ में आर्य भाषा चतुर्मास मनाया गया। आर्य सेवक सर्व-साधारण को उन के घरों में जा-जा कर हिन्दी सिखाने लगे। राष्ट्र-भाषा के प्रचार के वे दिन चिर-काल तक स्मरण रहेंगे। आर्य सभासद् शिक्षक बन गली-कूचों ही में शिष्यों को बुला-बुला कर या उन के पास जा-जा कर पढ़ाते फिरते थे। पढ़ाना मानो प्रत्येक पढ़े-लिखे आर्य का धंधा-सा बन गया। इस के अतिरिक्त स्थान-स्थान पर रात्रि-पाठशालाएँ खुल गईं। इन में बाल युवा वृद्ध—सब विद्यार्थी बन कर भर्ती हुए। शताब्दी के पुरस्कार-रूप में पं० श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर द्वारा रचित "वेदामृत" नाम का वेदमन्त्रों का अर्थ-सहित संग्रह प्रकाशित किया गया।

जैसे हम ऊपर कह आये हैं, जनवरी १९२३ में दलितोद्धार के कार्य में म० रामचन्द्र का बलिदान हो गया। इस से इस आन्दोलन को प्रबल प्रगति मिली। शताब्दी-समिति ने इस कार्य को भी अपने कार्य-क्रम का भाग बना लिया। इस में उसे अपूर्व सफलता हुई। इस प्रगति का वर्णन दलितोद्धार-प्रकरण में किया जा चुका है। ऋषि के जन्म की पुण्य स्मृति में दलितों के उद्धार को स्थान देने का विशेष औचित्य था। ऋषि का जन्म हुआ ही दीनों-दलितों के उद्धार के लिए था।

समिति के प्रधान स्वा० सत्यानन्द चाहते थे कि इस शताब्दी का कोई स्थिर चिह्न रहना चाहिए। १९२५ के प्रतिनिधि सभा के साधारण अधिवेशन में लाहौर में उपदेशक-विद्यालय खोलना स्वीकार किया गया। इस में शिक्षा के अतिरिक्त "खास-खास विद्वानों से वैदिक रिसर्च का काम भी कराये" जाने का निश्चय हुआ। इस के लिए एक लाख रुपये की अपील की गई। स्वामी जी ने इस से पूर्व किसी संस्था के लिए भिक्षा नहीं माँगी थी। परन्तु आचार्य की पुण्य स्मृति को स्थिर रूप देने के लिए उन्हों ने भिक्षा की झोली पहिले अपने गले में डाली और फिर संपूर्ण नर-नारी को आदेश दिया कि शताब्दी के दिन वे भी दयानन्द-झोलियाँ अपने गलों में डाल लें। स्वामी जी के चार मास के भ्रमण से इस राशि की प्रतिज्ञाएँ पूरी हो गईं। इस कृतकार्यता से संतुष्ट हो कर स्वामी जी ने स्वयं लिखा :—

"जब मैं ने श्री दयानन्द-स्मारक का शुभ समाचार लोगों को सुनाया तो उन्हों ने वह दान-शीलता दिखाई जिसे देख कर मेरा हृदय प्रसन्नता से गद्गद् हो गया। मैं जानता था कि ये सज्जन दे दे कर थके हुए हैं। आए दिन चन्दा माँगने वालों के कारण चन्दा देने से इन का जी ऊब गया है। परन्तु दयानन्द-स्मारक में हिस्सा लेते समय एक भी भद्र पुरुष ने अपने पहले बोझ का नाम तक नहीं लिया। किसी ने भी तो नहीं कहा कि कहाँ-कहाँ दें और क्या-क्या दें? हम पहले बहुत दे चुके हैं। हम से थोड़ा लें। दयानन्द उपदेशक-विद्यालय को दान देने का जिस ने वचन दिया,

प्रसन्नता से दिया, उत्साह से दिया और भक्ति-भरे भावों से दिया।"

('प्रकाश' ६ नवम्बर १६२४)

इस प्रकार धन की पुष्कल राशि का प्रबन्ध हो जाने पर २६ जनवरी १६२५ बसन्त पंचमी के दिन इन्हीं स्वामी सत्यानन्द जी के कर-कमलों से "दयानन्द उपदेशक-विद्यालय" की आधार-शिला रखी गई।

पाठक इस से पूर्व पं० गुरुदत्त द्वारा प्रस्तावित उपदेशक-श्रेणी तथा पण्डित जी के देहान्त के पश्चात् स्थापित की गई उपदेशक-पाठशाला का वर्णन ऊपर पढ़ आए हैं। दयानन्द उपदेशक-विद्यालय उन प्रयत्नों ही की पूर्ति थी। इस का वृत्तान्त बीच में छोड़ कर हमें पहिले ऋषि की जन्म-शताब्दी के समारोह का वर्णन कर लेना चाहिए।

ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये आर्यों का उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। आख़िर वह तिथि आ पहुँची जिस की राह तीन वर्षों से देखी जा रही थी। इस से पूर्व आर्य समाजों के हज़ारों उत्सव, हज़ारों समारोह हुए परन्तु उन में उपस्थिति हज़ारों से नहीं बढ़ सकी। लाखों स्त्री-पुरुष यदि कहीं एकत्रित हुए तो वह शताब्दी में। होते भी क्यों न? यह उन के आचार्य की जन्म-शताब्दी थी। सब लोगों को यह ख़याल था कि यह अवसर उन के जीवन में फिर कभी न आयगा। इस विचार से प्रेरित हो कर लाखों लोग मथुरा में पहुँचे। इस शुभ अवसर पर पंजाब के आर्यों ने अपने गुरु के प्रति जिस भक्ति का परिचय दिया वह अभूत-पूर्व

थी। मथुरा पंजाब से बहुत दूर है लेकिन फिर भी मथुरा में पंजाबियों की संख्या बहुत अधिक थी। सभी वृत्तान्तों में एक स्वर से कहा गया है कि यदि शताब्दी के मेले में जान डाली तो पंजाब के आर्यों के जोश ने।

रेलवे ने इस अवसर पर कई स्थानों से स्पेशलें छोड़ीं जो आर्यों से ठसाठस भरी होती थीं। रास्ते में प्रत्येक स्टेशन पर यात्रियों का स्वागत होता था। रोहतक के भाइयों ने इस में और सब स्थानों को मात कर दिया। जब ट्रेनें मथुरा में शताब्दी के कैंप के सम्मुख पहुँचती थीं तो गाड़ी के यात्रियों और कैम्प के निवासियों के जयकारों से ज़मीन आसमान गूँज उठते थे। इस अपूर्व समारोह को देख कर लोगों के दिल बल्लियों उछल रहे थे। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के आर्य भाई आर्यों की इस महती संख्या को देख कर प्रेमाश्रुओं से प्लावित हो रहे थे। १४ फ़रवरी के जलूस ने देखने वालों के सामने वह दृश्य उपस्थित किया जिस की नज़ीर मिलनी मुश्किल है। जिस ने भी वह जलूस देखा, दंग रह गया। जलूस क्या था? मनुष्यों का एक अथाह सागर ठाठें मार रहा था। इस जलूस की विशेष शोभा पंजाब की भजन-मण्डलियों से थी। जब वे जोश में आ कर

"जग विच्च धुम्माँ पय्याँ दयानन्द तेरियाँ"

गातीं थीं तो सुनने वाले झूम-झूम जाते थे और उन के जोश की दाद दिये बिना न रहते थे। जलूस में शामिल प्रत्येक आर्य यह अनुभव कर के मन ही मन प्रसन्न हो रहा था कि वह उन्हीं गलियों में घूम रहा है जहाँ उस के गुरु

नंगे पाँव घूमते रहे हैं । जब जलूस दण्डी श्री विरजानन्द की कुटिया पर पहुँचा—जो अब चन्द ईंटों का ढेर थी—तो संपूर्ण जनता पर रोमांच की अवस्था तारी हो गई। आर्यों की निगाहें ईंटों के ढेर पर गड़ गईं। वे उस में से उस लाल को ढूंढ रही थीं जिस के दर्शनों के लिए लाखों नर-नारी अपने हृदयों की भेंट ले कर कुटी के द्वार पर खड़े थे।

जलूस कई मील लम्बा था। एक स्थान से गुज़रते हुए दो-दो तीन-तीन घण्टे लग जाते थे। रास्ते में जिधर देखो, मकानों की छतें नर-नारियों से पटी पड़ी थीं । ऋषि के जयकारों से मथुरा के गली कूचे गूँज रहे थे। मथुरा-निवासियों ने जिस उदारता से जलूस का हार्दिक स्वागत किया उस से प्रतीत होता था कि आज मथुरा में आर्यों के अतिरिक्त और कोई है ही नहीं।

अनुमान से बहुत अधिक यात्रियों के सम्मिलित होने पर भी प्रबन्ध में कोई गड़बड़ नहीं हुई । दो तीन लाख मनुष्यों के रहन-सहन का प्रबन्ध जिस ख़ूबी से किया गया उस की याद वर्षों तक बाक़ी रहेगी । यह महोत्सव हर प्रकार से निर्विघ्न और पूर्ण सफलता से समाप्त हुआ।

पंजाब में इस शताब्दी का स्थिर स्मारक दयानन्द उपदेशक-विद्यालय है। जैसे हम ऊपर कह आये हैं, इस विद्यालय की आधार-शिला बसन्त पंचमी के दिन रखी जा चुकी थी। विद्यालय का आचार्य-पद स्वा० स्वतन्त्रानन्द जी ने और मुख्याध्यापक पद स्वा० वेदानन्द तीर्थ ने ग्रहण

करना स्वीकार कर लिया। यह प्रबन्ध हो चुकने के पश्चात् २ एप्रिल १९२५ रामनवमी के दिन विद्यालय का कार्य आरंभ कर दिया गया।

इस विद्यालय के निम्न-लिखित उद्देश्य उद्घोषित हुए:—

१. वैदिक-धर्म के प्रचारक, उपदेशक, सुशिक्षित तथा कार्य-कुशल पुरोहित और धार्मिक सेवक तय्यार करना।

२. महर्षि दयानन्द प्रदर्शित पथानुसार वैदिक तत्त्वों और ग्रन्थों के सुगूढ़ आशयों का अनुसंधान करना।

३. वैदिक सिद्धान्तों के ज्ञाता और मतमतान्तरों के मन्तव्यों में निपुण शास्त्रार्थ करने वाले पण्डित और वाद-प्रतिवाद में कुशल आर्य-वीर उत्पन्न करना।

इस विद्यालय में प्रवेश के ये नियम बनाये गये:—

१. इस विद्यालय में वही विद्यार्थी लिये जाते हैं जो आर्य सामाजिक विचारों में पक्के हों और जिन के जीवन का मुख्य उद्देश्य वैदिक धर्म का प्रचार करना हो।

२. एण्ट्रेन्स की योग्यता से कम योग्यता का विद्यार्थी नहीं लिया जाता।

३. जिस की आयु १७ वर्ष से कम हो वह नहीं लिया जाता और वह भी नहीं लिया जाता जो २५ वर्ष की आयु का न हो परन्तु विवाहित हो।

इस विद्यालय में आर्य सिद्धान्तों के ज्ञान पर विशेष बल दिया जाता है। इस्लाम के मौलिक ग्रन्थों को भली भाँति जानने के लिए अरबी का भी विशेष प्रबन्ध

किया गया है। पहले तीन-चार वर्ष मौलवी मुहम्मद हसन साहिब संभल-निवासी अरबी के अध्यापक रहे। अब विद्यालय के अपने स्नातक पं० शिवदत्त सिद्धान्त-शिरोमणि मौलवी फाज़िल हैं। ये पहिले पंजाबी आर्य (हिन्दू) हैं जिन्हों ने यह परीक्षा उत्तीर्ण की है।

लगभग चार वर्ष के पश्चात् स्वामी वेदानन्द तीर्थ विद्यालय से मुक्त हो गये। शिक्षा के अतिरिक्त स्वामी जी के, "वेदामृत" के दूसरे संस्करण और पुराणालोचन-ग्रन्थमाला के संपादन से जिस में भविष्य-पुराण, शिव-पुराण, गरुड़-पुराण की आलोचनाएँ प्रकाशित हुईं, आर्य समाज के साहित्य में अच्छी वृद्धि हुई।

उन के पश्चात् पं० ईश्वरचन्द्र शर्म्मा स्टाफ़ में लिये गए। दार्शनिक विषयों के शास्त्रार्थों में उन के संस्कृत भाषणों से काशी तक की विद्वन्मण्डली भले प्रकार परिचित है। पं० नरदेव, काव्यतीर्थ, सिद्धान्त-शिरोमणि, मुन्शी-फाज़िल इस समय आचार्य का काम कर रहे हैं।

विद्यालय में केवल पंजाब के ही नहीं अपितु अन्य प्रान्तों, यथा गुजरात, हैदराबाद, महाराष्ट्र, कर्णाटक, आन्ध्र और मद्रासादि के विद्यार्थी भी शिक्षा पाते हैं। हैदराबाद, बंगलूर, कालीकट, केरल, हुबली आदि स्थानों में विद्यालय के स्नातक काम कर रहे हैं।

विद्यार्थी ग्रीष्मावकाश में प्रतिवर्ष प्रचारार्थ ग्रामों में चले जाते हैं। १९३२ में काश्मीर में बड़ा भयंकर हिन्दु-मुस्लिम दंगा हुआ। वहाँ के हिन्दुओं पर अमानुषिक

अत्याचार हुए जिनसे सारे देश में हाहाकार मच गया । उस समय इस विद्यालय के विद्यार्थी अपने आचार्य की अध्यक्षता में उस अशान्त इलाके में पहुँचे, वहाँ की अवस्था देखी, और सभा के आदेशानुसार पीड़ितों को सहायता पहुँचाई ।

विद्यालय के गत वर्ष के वृत्तान्त के अनुसार इन दस वर्षों में विद्यालय ने आर्य समाज को ३० के लगभग कार्यकर्त्ता दिये है, जिन में से १२ तो प्रतिनिधि सभा पंजाब के आधीन और अन्य दूसरे स्थानों पर विविध रूप से आर्य समाज की सेवा कर रहे हैं । सभा के आधीन काम करने वालों में पं० शान्ति-प्रकाश सिद्धान्त भूषण का नाम पाठक सभा के वर्त्तमान शास्त्रार्थियों की नामावली में पढ़ेंगे ।

विद्यालय की स्थापना से पूर्व ही आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने उपदेशकों के लिए कुछ परीक्षाएँ जारी कर रखी थीं । परन्तु इन में सफलता नहीं होती थी । इन का प्रबन्ध भी विद्यालय के आरम्भ से ही इस संस्था के आधीन कर दिया गया । इन में प्रति वर्ष विद्यालय के छात्रों के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं के छात्र तथा आर्य पुरुष और देवियाँ भी सम्मिलित होती है । इन परीक्षाओं का प्रथम नियम निम्न-लिखित है :—

१. यह परीक्षा ५ प्रकार की होगी—(१) सिद्धान्त विशारद (२) सिद्धान्त रत्न (३) सिद्धान्त भूषण (४) सिद्धान्त शिरोमणि (५) सिद्धान्त वाचस्पति । यदि सभा के आधीन कार्य करेंगे तो क्रमानुसार (१) प्रचारक (२) (३) उपदेशक (४) महोपदेशक (५) महामहोपदेशक कहलायेंगे ।

विद्यालय में ऋषि कृत सिद्धान्त ग्रन्थों के अतिरिक्त व्याकरण, साहित्य, दर्शन और वेदादि विषय भी पढ़ाये जाते हैं।

सिद्धान्त शिरोमणि उपाधिधारी वेद में—एक वेद, निरुक्त तथा दशोपनिषद्, दर्शन में—वैशेषिक, न्याय, सांख्य योग और वेदान्त, साहित्य में कादम्बरी तथा हर्ष-चरित और व्याकरण में अष्टाध्यायी का ज्ञान प्राप्त कर लेना है। पौराणिक, सिक्ख, इस्लाम, ईसाई मत का ज्ञान, वैकल्पिक विषय हैं। व्याख्यानों के अभ्यास के लिए साप्ताहिक सभाएँ भी होती हैं।

विद्यालय के आचार्य स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी १० वर्ष कार्य करने के पश्चात् इसी वर्ष विद्यालय से मुक्त हो गये। उन्होंने विद्यालय का कार्य बड़ी तत्परता से किया। और सभा के अधिकारियों को सदा सहयोग देते रहे। उनका कथन है कि वे विद्यालय इसलिये गए कि उन्होंने इस वर्ष जाने का दृढ़ निश्चय कर लिया था।

विद्यालय के स्थिर कोष में इस समय १०६,०००) है और शाला पर २६,४८५) व्यय हुआ है।

इस संक्षिप्त विवरण से प्रतीत होता है कि उपदेशक तथा शास्त्रार्थी तय्यार करने का कार्य तो विद्यालय मे हो रहा है परन्तु अनुसन्धान का कार्य नियमित रूप से नहीं हुआ। स्वामी वेदानन्द तीर्थ द्वारा संपादित पुराणालोचन-ग्रन्थमाला तथा वेदामृत के द्वितीय संस्कार का वर्णन हम ऊपर कर चुके है। इसके पश्चात् यह कार्य रुक गया है।

अधिकारियों की यह इच्छा भी रही है कि स्थानीय तथा बाहर के आर्य पुरुष अपने लड़कों को धार्मिक शिक्षा ग्रहण करने के लिए यहाँ भेजें। परन्तु इस ओर कोई पग उठाया गया प्रतीत नहीं होता। अपने-अपने कार्य में लगे हुए विरले-विरले आर्य इस शिक्षा से लाभ उठाते रहे हैं। कोई प्रचार करे या न करे, धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन प्रत्येक नर-नारी को कर लेना चहिए। विद्यालय द्वारा उन्हें यह अवसर आसानी से दिया जा सकता है।

अभी इस विद्यालय को खुले दस ही वर्ष हुए हैं और इस के पहिले आचार्य ने पिछले दिनों अपने सेवा-काल को विराम दिया है। अभी इस की ऐतिहासिक समीक्षा का समय नहीं आया।

दयानन्द मथुरादास कालेज मोगा

मोगा के रा० ब० डा० मथुरादास ने १६१६ ई० में एक हाई स्कूल की स्थापना की जिसे १६२६ में उन्हों ने एक कालेज का रूप दे दिया। कालेज का नाम दयानन्द मथुरादास कालेज रखा गया। मोगा एक स्वास्थ्य-प्रद स्थान है। वह पंजाब प्रान्त के उन नगरों से दूर है जहाँ पाश्चात्य सभ्यता का प्राधान्य है और जिन में इस कारण नैतिक स्खलन के प्रलोभनों की अधिकता है। मोगे का जीवन सरल है और आर्थिक आवश्यकताएँ कम हैं। इस कारण इस कालेज की शिक्षा बहुत सस्ती है। एक छात्र २०) मासिक में आसानी से निर्वाह कर लेता है। कालेज के साथ छात्रालय भी है। कालेज का उद्देश्य विद्यार्थियों को आधुनिक शिक्षा देते हुए उन के जीवन को पुरातन आर्य आदर्शों के अनुकूल ढालना है। इस समय तक इस में इंटरमिडियेट कक्षा तक आर्ट्स तथा साइंस की शिक्षा दी जाती है।

कालेज के आचार्य श्री राजेन्द्रकृष्ण कुमार एम० ए० ने दो उपाध्यायों की सहायता से वैदिक अनुसन्धान विभाग स्थापित कर रखा है जिस की ओर से अजमेर अर्द्ध-शताब्दी के अवसर पर Light of the Vedas नाम से अंग्रेज़ी अर्थों सहित वेद-मन्त्रों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ था। इस समय यह विभाग सामवेद के मन्त्रों का अंग्रेज़ी में अनुवाद कर रहा है। १९३० से यह कालेज सीधा सभा के अधीन हो गया है।

कन्या-गुरुकुल

स्वामी श्रद्धानंद स्वलिखित "कल्याण-मार्ग का पथिक" में अपने पुराने पत्र "सद्धर्म-प्रचारक" के प्रारम्भिक अङ्कों की ओर संकेत कर लिखते हैं कि सब से पूर्व उन अंकों ही में कन्या-गुरुकुल का विचार पेश किया गया था। "अधूरा इंसाफ़" शीर्षक के नीचे "प्रचारक" के सम्पादक ने लिखा था:—

> "जब यज्ञोपवीत संस्कार हो जावे तो तत्काल ही लड़का गुरुकुल में भेजा जाना चाहिए। वैसे ही लड़कियों के साथ भी वर्ताव होना चाहिए।"

यह बात १८८६ की है। तब गुरुकुल का अभिप्राय डी० ए० वी० कालेज समझा जाता था। स्वामी जी आगे लिखते हैं कि "कन्या-गुरुकुल को स्थापित करने के लिए फ़ीरोज़पुर की पुत्री-पाठशाला को उन्नत करने का प्रस्ताव मैं ने पेश किया था।"

फ़ीरोज़पुर की पुत्री-पाठशाला अब तक भी चल रही है। वह स्वामी जी के विचार के अनुकूल गुरुकुल का रूप धारण नहीं कर सकी। १८९१ में कन्या-महाविद्यालय की

स्थापना हुई। ला० मुन्शीराम स्वयं उस के संस्थापकों में थे। ये कुछ समय उस के प्रबन्ध में भी भाग लेते रहे। अन्त को संचालकों से इन का मत-भेद हो गया और ये महाविद्यालय से अलग हो गये।

११ दिसम्बर १९०३ के "सद्धर्म-प्रचारक" में महात्मा मुन्शीराम ने निम्न-लिखित टिप्पणी प्रकाशित की :—

"विद्यालय के कार्यकर्ता सब से पूर्व शहर से दो तीन मील की दूरी पर मकान बनवा कर कन्या-महाविद्यालय को आश्रम के रूप में परिवर्तित कर दें और कुँवारी लड़कियों को विवाहिता (स्त्रियों) तथा विधवाओं से सर्वथा पृथक् करने का प्रबन्ध कर के पुरुषों के स्थान में जहाँ तक हो सके स्त्रियों को अध्यापिका नियत करने का प्रबन्ध करें तो कन्या-महाविद्यालय को पुत्री-गुरुकुल बनाने में पहिला क़दम समझा जा सकता है।"

इधर गुरुकुल काँगड़ी की नियमावली में यह टिप्पणी चिर काल से प्रकाशित हो रही थी कि साधन जुट जाने पर कन्याओं की शिक्षा के लिए भी गुरुकुल की स्थापना कर दी जायगी।

१९१२ में सेठ रघुमल ने गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के लिए एक लाख रुपया दान किया था। सेठ जी स्वामी जी के भक्त थे। १९२१ में गुरुकुल के उत्सव के अवसर पर स्वामी जी ने इन्हीं सेठ जी की ओर से कन्या गुरुकुल की स्थापना के लिए एक और लाख रुपये के दान की घोषणा की। इस के दो वर्ष पश्चात् १९२३ में दीवाली के दिन देहली नगर

के दरियागंज मुहल्ले में एक कोठी किराये पर ले कर कन्या-गुरुकुल की स्थापना कर दी गई। पहिले वर्ष पाँच श्रेणियाँ खोली गईं। धीरे-धीरे आठ श्रेणियों का विद्यालय-विभाग और तीन उच्च कक्षाओं का महाविद्यालय विभाग भी स्थापित हो गया।

चार वर्ष तक गुरुकुल इसी स्थान पर रहा। तब इस का नाम "कन्या-गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ" था। वर्षा ऋतु में देहली में मलेरिया का प्रकोप हो जाता था। उन दिनों सारी कन्याएँ तथा अध्यापिकाएँ देहरादून ले जाई जाती थीं। अन्ततः देहरादून में ही कोठियाँ किराये पर ले कर इस संस्था को वहीं चालू कर दिया गया। कोठियों के कमरे पर्याप्त नहीं थे। इस लिए टीन के शैड बनवा कर आश्रम में उन को रखा गया। १९३० में उसी राजपुरा रोड पर ही दो कोठियाँ क्रय करके स्थिर रूप से गुरुकुल वहीं रख दिया गया। धीरे-धीरे इस स्थान पर भवन-निर्माण होने लगा। इस समय ६५,०००) की इमारतें बन चुकी हैं और आगे मकान बनने हैं।

कन्या गुरुकुल, गुरुकुल विश्व-विद्यालय काँगड़ी का ही एक विभाग है। इस लिए जो प्रबन्ध गुरुकुल काँगड़ी का है, वही इस का। शिक्षा, परीक्षा तथा रहन-सहन के नियम भी कुछ अवान्तर भेदों के साथ वही हैं।

कन्या-गुरुकुल के पाठ्य-विषय संस्कृत साहित्य, व्याकरण, भूगोल, अर्थ शास्त्र, धर्म-शिक्षा, गणित, इतिहास आर्य भाषा, आंगल भाषा, तथा आर्य सिद्धान्त हैं। संस्कृत ४र्थ श्रेणी में और आंगल भाषा महाविद्यालय में आरम्भ कराई जाती है। १९३० से गृह-चिकित्सा तथा पदार्थ-विद्या

की शिक्षा का प्रबन्ध भी हो गया है। ब्रह्मचारिणियाँ पाक-विद्या का ज्ञान भी प्राप्त करती हैं।

मानसिक शिक्षा के अतिरिक्त हाथ की सलाई बुनाई का काम भी सिखाया जाता है।

व्यायामशाला में गतका, बनेटी, छुरी, तलवार चलाना पट्टा, धनुष, चलाना, वाली-बाल, बास्केट-बाल, झूला, हारिज़ंटल-बार, पारलल-बार, सीसा, लैडर, आदि का प्रबंध है। वक्तृत्व-शक्ति के विकास के लिए सभाएँ होती हैं। वाचनालय तथा पुस्तकालय का भी प्रबन्ध है।

कुल का आरम्भ ४८ कन्याओं से हुआ था। इस समय २५० के करीब कन्याएँ हैं। अन्तिम स्नातिका परीक्षा में इस बार ११ कन्याएँ और बैठेंगी। इस संस्था ने थोड़े काल में ही आश्चर्य जनक उन्नति की है। इस में न केवल पंजाब, संयुक्त प्रान्त की कन्याएँ हैं; किन्तु बिहार, बंगाल और करनाटक तक से कन्याएँ, आई हैं। फ़िज्जी और पूर्वी अफ्रीका की बहुत सारी कन्याएँ पढ़ती हैं। इस संस्था की शिक्षा का Stand-ared पर्याप्त ऊँचा है। भारतवर्ष भर में यह संस्था अपने ढंग की एक ही संस्था है। ११ वर्ष की पढ़ाई में यह गुरुकुल ब्रह्मचारिणियों को वेद-वेदांगों के अतिरिक्त शास्त्री तक की संस्कृत साहित्य, प्रभाकर से ऊँचे दर्जे तक की हिंदी और वर्तमान इतिहास तथा विज्ञान की उच्च शिक्षा दी जाती है। पढ़ाया जाता है। भारतवर्ष के बड़े-बड़े शिक्षाविज्ञ तथा देश-नेता इस संस्था को देख चुके हैं।

गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता पहिले पं०विश्वम्भरनाथ फिर आचार्य रामदेव और बीच में एक वर्ष ला०नारायणदत्त रहे।

संघटन और शुद्धि

१९२१ में असहयोग-आन्दोलन अपने यौवन पर था। कुछ समय के लिए हिन्दु-मुसलिम एक हो गये थे। दोनों सरकार के विरुद्ध जुट रहे थे। इस असहयोग या सत्याग्रह का नाद था—स्वराज्य और खिलाफ़त। हिन्दू का ध्येय स्वराज्य था, मुसलमान का खिलाफ़त। हिन्दु-मुसलिम ऐक्य का सूत्र विशुद्ध भारत-भक्ति न हो कर, भारत तथा टर्की की संयुक्त भक्ति थी। हिन्दू भारत का भक्त था, मुसलमान टर्की की खिलाफ़त का। दोनों पर आपत्ति थी। साझी आपत्ति में आपन्न समुदायों का मेल हो गया। यह मेल कितना वास्तविक था?—यह इस के इस मिश्रित स्वरूप से ही स्पष्ट है। टर्की में खिलाफ़त का भवन गिरते ही भारत में स्थान-स्थान पर दंगे होने लगे—इस से इस के थोथे-पन का और भी स्पष्ट प्रमाण मिल गया।

मुस्तफ़ा कमालपाशा द्वारा, खिलाफ़त का अन्त कर देने का निश्चय होते ही भारतीय मुसलमानों के हृदय में मेल के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरंभ हो गई। इस निश्चय में

हिन्दुओं का हाथ न हो, परन्तु इस में मुसलमान का दोष क्या ? मुसलमान जिस लक्ष्य को सामने रख सत्याग्रह-संग्राम में सम्मिलित हुआ था, वह लक्ष्य ही जब रेत की दीवार निकला तो उस पर खड़ा किया गया, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का भवन धड़ाम से नीचे आ पड़ा।

मद्रास प्रान्त के मोपला जाति के मुसलमानों ने "जिहाद" का झंडा खड़ा कर दिया। सर्वेंट्स ऑफ़ इंडिया सोसाइटी के प्रधान श्रीयुत देवधर ने "मालाबार केन्द्रीय सहायता-समिति" की रिपोर्ट में लिखा :—

> लूट, संपत्ति तथा मन्दिरों का विनाश, मनुष्यों पर वर्णनातीत प्रकार का अत्याचार, पुरुषों, स्त्रियों और बालकों का ज़ोर से मुसलमान बनाया जाना—बहुत शीघ्र यह उन दिनों का सामान्य व्यवहार-सा हो गया।

मौलाना हसरत मोहानी ने मुस्लिम लीग तथा मौ० आज़ाद सुबहानी ने अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में मोपलों के इस व्यवहार का समर्थन किया। मौलाना सुबहानी ने स्पष्ट कहा :—

> धर्म-परिवर्तन की सभी घटनाएँ हिन्दुओं के इच्छा-पूर्वक इसलाम को स्वीकार करने का परिणाम हैं। इसलामी युद्ध के नियमों के अनुसार उन के सामने दो विकल्प थे। या तो उन के वध की आज्ञा दी जानी थी, या एक मुसलिम-भिन्न शत्रु की हैसियत से वे एक ही विधि का अनुसरण कर सकते थे। वह यह कि वे कलिमा पढ़ लें और दण्ड से मुक्त हो जाएँ।

इस के पश्चात् मुलतान में दंगा हो गया। ह० अज-मलखाँ ने इस दंगे के विषय में लिखा :—

मुसलमान गुंडों के दया-शून्य अत्याचार केवल मन्दिरों तथा अन्य इमारतों के विनाश तक ही परिमित नहीं रहे। उन्हों ने हिन्दुओं के घरों को आग लगा दी और सम्पत्ति लूट ली। दयनीय असहाय हिन्दू स्त्रियों पर किये गये वहिशयाना अत्याचार ..... और भी अधिक घृणास्पद और निन्दनीय हैं।

मुलतान के हिन्दू हमारी सहानुभूति के अधिकारी हैं। उन से हमें क्षमा माँगनी चाहिए। उन का अपना व्यवहार प्रशंसनीय है। उन्हों ने न किसी मुसलमान स्त्री पर आक्रमण किया और न कोई मसजिद गिराई।

इस प्रकार के दंगे बढ़ते गये। मुलतान के पश्चात् सहारनपुर और फिर कोहाट में यह आपत्ति आई। कोहाट के अत्याचारों के परिणामों को अपनी आँखों से देख कर महात्मा गान्धी ने उन पर हार्दिक दुःख प्रकट किया। इस नगर की संपूर्ण हिन्दू और सिख जनता को कोहाट छोड़ रावलपिंडी आ जाना पड़ा।

एक अच्छे उद्देश्य से आरंभ किये गये इस आन्दोलन का परिणाम अशुभ हुआ। अशुद्ध हेतुओं को आधार बना कर मुसलमान जनता को अपने साथ मिला लिया गया। हिन्दुओं को इस मेल की बहुत बड़ी क़ीमत अदा करनी पड़ी। मुसलमानों की जिस सांप्रदायिक भावना का लाभ कांग्रेस ने उठाना चाहा था, वही भावना आगे जा कर हिन्दू-मुस-

लिम वैमनस्य का कारण बन गई। जिस शक्ति के विरुद्ध इसे उकसाया गया था, उस के हाथ में पड़ कर यह उलटा हिन्दू-मुसलिम विरोध का हथियार बन गई।

हिन्दुओं ने अनुभव किया कि संघटन की कमी के कारण ही उन का यह अपमान और विनाश हो रहा है। आर्य समाज के प्रचार ने इस भाव को और दृढ़ किया। आर्य समाज का सारा कार्य-क्रम ही आर्य-जाति को संघटन का धार्मिक मार्ग दिखा रहा था। पर अभी तो आत्म-रक्षा का समय था। पहिले हल्ले के पश्चात् फिर जितने भी दंगे हुए, उन सब में हिन्दुओं ने वीरता-पूर्वक अपनी तथा अपने परिवारों और संपत्ति की रक्षा की। आपत्ति ने पहिले हिन्दू-मुसलमान को मिलाया था। अब हिन्दुओं को मिला दिया। आर्य समाज इस क्षणिक जागृति को स्थिर संघटन का साधन बनाना चाहता था।

उधर आगरे में १६२३ में "हिन्दू शुद्धि सभा" की स्थापना हुई। इस सभा का उद्देश्य मलकानों को अपनी पुरानी राजपूत बिरादरी में मिलाना था। मलकाने किसी समय आधे-मुसलमान बन गये थे। उन के रीति-रिवाज प्रायः हिन्दू राजपूतों के से थे परन्तु यह जाति कहलाती मुसलमान थी। उन्हें अपनी पुरानी जाति में लौटाने के प्रयत्न भी दीर्घ काल से हो रहे थे परन्तु इन में सफलता नहीं होती थी। अब के इस शुद्धि-सभा की प्रधानता स्वा० श्रद्धानन्द ने स्वीकार कर ली। आर्य समाज के इस वृद्ध नेता के नेतृत्व में यह आन्दोलन शीघ्रातिशीघ्र कृतकार्यता

प्राप्त करने लगा। हज़ारों की संख्या में अपने पुराने कुलों से विच्छिन्न हुए भाई फिर से अपने पुराने राजपूत परिवार में ॠ. मिले। इस से जहाँ आर्य जाति में प्रसन्नता और उत्साह की लहर फैल गई, वहाँ मुसलमानों के लिए असीम आवेश तथा क्रोध का कारण पैदा हो गया। इसलाम से "मुर्तद" (पतित) होने का दण्ड मुसलमानों की शरा में वध है। जो व्यक्ति एक बार इसलाम को ग्रहण कर बैठा, उस के लिए अब इस धर्म से विमुख हो जाने का द्वार, वध के इस विधान द्वारा, निरुद्ध था। हिन्दू धर्म में आने का और मुसलमानी धर्म से जाने का दर्वाज़ा कभी का बंद चला आता था। फिर जो एक मुसलमान नहीं, हज़ारों मुसलमानों को "काफ़िर" हो जाने का उपदेश दे, उस के लिए दण्ड का अनुमान लगाना कठिन है।

ऋषि दयानन्द द्वारा, उमरदीन से अलखधारी बनाये गये नवार्य के आर्य धर्म में प्रवेश ने पहले-पहल इस युग में शुद्धि का द्वार खोल दिया था। पं० लेखराम, म० चिरंजी-लाल, हकीम सन्तराम, स्वा० योगेन्द्रपाल तथा ला० वज़ीर-चन्द के पुण्य परिश्रमों ने इस संस्कार को और अधिक लोक-प्रिय बना दिया था। परन्तु हज़ारों की संख्या में एक-साथ शुद्धि का श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द और उन के सहकारियों के ही हिस्से आया। स्वयं हम ने आक्षेप किया कि यह शुद्धि आर्य सामाजिक नहीं। इस में हुक्के का, राम-नाम का, तिलक का प्रयोग होता है। स्वामी जी यह आन्दोलन आर्य समाज की नहीं, शुद्धि-सभा की ओर से कर रहे थे। मलकानों का

मिलाप धार्मिक नहीं, सांस्कृतिक था। स्वामी जी उन दिनों आर्य संस्कृति के प्रचार में लग रहे थे। उन का विचार था कि सैमिटिक संस्कृति आर्य संस्कृति से भिन्न है। इन दो संस्कृतियों के संघर्ष में वे आर्य संस्कृति ही की विजय चाहते थे। इस उदारता के रहते भी कट्टर सनातनियों का विचार था कि स्वामी जी शुद्धि के मिष से आर्य समाज का प्रचार कर रहे हैं। इन्हों ने इस आक्षेप का उत्तर अपनी स्वाभाविक गंभीरता से देते हुए लिखा कि सनातन-धर्मी इस कार्य को अपने हाथ में ले कर इन्हें इस काम से विमुक्त कर दें।

स्वामी जी ने इस शुद्धि की वेदी पर अपने पवित्र प्राणों की आहुति दे कर पं० लेखराम की पुरानी मित्रता के प्रण को पूर्ण रूप से निबाह दिया। जीवन के अन्तिम भाग में ये "आर्य पथिक" के ही पथ पर चल दिये। ये उस पथ को और विस्तीर्ण करना चाहते थे। इन का विचार था कि शुद्धि संस्कार केवल आर्य समाज नहीं, संपूर्ण आर्य जाति करने लगे। स्वयं सनातन धर्मियों की ओर से "पुनः संस्कार सम्मेलन" का निर्माण हुआ। उस में बड़े-बड़े धुरन्धुरों ने भाग लिया। आर्य समाज की दृष्टि से इस पर दो सम्मतियाँ होनी स्वाभाविक थीं। सफलता की प्रसन्नता में सामाजिक जनता अपने विशुद्ध धार्मिक लक्ष्य को भूल-सी गई। कुछ हो, शुद्धि-आन्दोलन ज़ोरों से चला। एक बूढ़े मलकाने ने प्रकट किया कि उस का यज्ञोपवीत संस्कार ऋषि

दयानन्द के हाथों हुआ था। यह शुद्धि क्या उस यज्ञोपवीत का परिणाम थी ?

इन घटनाओं को दृष्टि में रखने से आने वाले बलिदानों के वृत्तान्त को समझने में सुगमता होगी।

स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान

संन्यास लेने के पश्चात् स्वामी जी ने गढ़वाल के अकाल-पीड़ितों की सहायता की। यह अकाल १६१८ में पड़ा था। स्वामी जी को ज्यों ही निश्चय हुआ कि अकाल के समाचार सत्य हैं, इन्हों ने झट अपील निकाल दी। कालेज-दल से महात्मा हंसराज तथा भारत-सेवा-समिति की ओर से श्रीयुत हृदयनाथ कुंज़रू भी अपनी मंडलियों सहित वहाँ पहुँच गये। संयुक्त कार्य करने की संभावना न देख कर पीड़ित प्रदेश को विभागों में बाँट दिया गया। स्वामी जी ने अपने विभाग में पाँच कैंप लगा कर अन्न-वितरण का कार्य आरंभ कर दिया। विरोधियों ने मशहूर किया कि आर्य लोग जनता का धर्म भ्रष्ट करने के लिए आये हैं। इस अनिष्ट का प्रतिकार करने के लिए बहिष्कार-सभा का आयोजन किया गया। स्वामी जी को हत्या की धमकी भी दी गई, परन्तु ये स्वयं उस सभा में चले गये और सारा उपद्रव इन की भव्य मूर्ति के दर्शन कर शान्त

हो गया। असहायों की इस सहायता के कार्य में गुरुकुल के स्नातक तथा ब्रह्मचारी स्वामी जी के अधीन स्वयं-सेवक बन कर कार्य करते रहे।

इस के कुछ दिन पश्चात् स्वामी जी को धौलपुर जाना पड़ा। वहाँ के समाज-मन्दिर के मामले में आर्य समाजी सत्याग्रह कर रहे थे। स्वामी जी वहाँ पहुँचे और माथे तथा घुटने पर पत्थरों की चोटें खा कर लौटे। मन्दिर का निर्णय हुआ परन्तु पीछे आर्यों की पारस्परिक तू-तू मैं-मैं ने बना बनाया खेल बिगाड़ दिया।

इन कार्यों से निवृत्त हो कर स्वामी जी पहिले कांग्रेस में, फिर हिन्दू-सभा में सम्मिलित हुए। ये जहाँ गये, अपनी उच्च स्थिति तथा महान् व्यक्तित्व के अनुरूप हमेशा नेतृ-मण्डल में सम्मान-पूर्वक सुशोभित हुए। इन की दृष्टि उन दिनों दलितोद्धार पर लग रही थी। बिना इस समुदाय के उद्धार के न इन्हें स्वराज्य की प्राप्ति की ही सम्भावना प्रतीत होती थी और न आर्य जाति की सुरक्षा तथा उत्थान की। १६१६ की अमृतसर की कांग्रेस में स्वागताध्यक्ष के आसन से भाषण करते हुए इन्हों ने दलित जातियों के विषय में जनरल बूथ द्वारा प्रयुक्त "आँगल साम्राज्य का प्रबल लंगर"—इन शब्दों की ओर संकेत कर कहा था कि इन को अपने साथ मिलाये बिना स्वराज्य की प्राप्ति असंभव है। कांग्रेस की कार्य-कारिणी में इन्हों ने दलितोद्धार की एक आयोजना उपस्थित कर धन की याचना की। परन्तु कांग्रेस इस कार्य को सीधा अपने हाथ में नहीं ले

सकी। कांग्रेस के इनकार का हेतु इन के सामने तब आया जब कोकानाड़ा काँग्रेस में मौ० मुहम्मद अली ने प्रधान की हैसियत से भाषण करते हुए प्रस्ताव किया कि दलित जातियों को हिन्दुओं तथा मुसलमानों में आधा आधा बाँट दिया जाय मानो वे भेड़-बकरी हैं कि जो चाहे उन्हें हाँक ले जाय। इस के अनन्तर स्वामी जी की दृढ़ सम्मति हो गई कि दलितोद्धार का काम आर्य-(हिन्दू-) भिन्न लोगों को नहीं करना चाहिए। हिन्दू सभा का संघटन ये सामाजिक सुधार के इन्हीं सूत्रों द्वारा करना चाहते थे जिन का अवलम्बन आर्य समाज कर रहा था। परन्तु पुराने ढर्रे के लोग न विधवा-विवाह के लिए तय्यार थे, न अस्पृश्यता-निवारण के लिए। इस कारण ये हिन्दू सभा से भी निराश हो गये। अन्त को इन्हों ने आर्य सार्वदेशिक सभा के अधीन देहली में एक स्वतन्त्र अखिल-भारतीय दलितोद्धार सभा की स्थापना की।

१९२४ तथा १९२५ में स्वामी जी ने आर्य सार्वदेशिक सभा की ओर से मद्रास की "धर्म-यात्राएँ" कीं। इन यात्राओं का विशेष उद्देश्य अस्पृश्यता को हटाना था। इन्हों ने जहाँ दलित भाइयों को अपने धर्म पर प्राण-पण से आरूढ़ रहने का उपदेश दिया, वहाँ उच्च जातों के लोगों को आने वाली आपत्ति से सावधान करते हुए कहा कि यदि यह छूत का कलंक आर्य जाति के माथे पर लगा रहा तो इस जाति की खैर नहीं। अछूत या तो किसी दूसरे धर्म को अंगीकार कर इस जाति के शत्रु बन जायँगे या अपना एक अलग संघटन बना कर इस बिखरी हुई जाति को और अधिक

बिखेर देंगे। स्वामी जी के अपने हाथों हज़ारों नर-नारी शुद्ध हुए। यह सब कार्य आर्य सार्वदेशिक सभा के प्रधान की हैसियत से किया गया। इसी सभा की ओर से पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति और पं० केशवदेव सिद्धान्तालंकार इस प्रान्त में काम करने के लिए नियुक्त किये गये। पं० धर्मदेव बंगलौर में और पं० केशवदेव मद्रास में इस समय तक काम कर रहे हैं।

इन सारी घटनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि स्वामी श्रद्धानन्द चाहे संन्यासी बनने के पश्चात् भिन्न भिन्न सभा-समाजों में कार्य करते रहे तो भी उन का हृदय आरंभ से अन्त तक आर्य सामाजिक भावनाओं से ही परिपूर्ण रहा। सब समुदायों में जा-जा कर उन्हों ने अपनी आँखों से देख लिया कि वास्तविक उद्धार की योग्यता अभी किसी अन्य समुदाय में है ही नहीं। पिछड़े हुए भारत में एक आर्य समाज ही समाज-सुधार, देशोद्धार तथा धार्मिक परिष्कार का कार्य कर सकता है। इस विचार को ले कर स्वामी जी फिर पंजाब में आये। अब के उन का विचार था कि पंजाब में विद्यमान समाज के दोनों विभागों को फिर से एक कर दिया जाय। हिन्दू संघटन के जोश में यह विचार कई आर्य समाजों की ओर से उठाया गया था। स्वामी जी ने इसे अपना लिया। पर विभाग की परम्परा अब इतनी पुरानी हो चुकी थी, उस की जड़ें इतनी गहरी जा चुकी थीं कि अब उन को उखाड़ फेंकना स्वयं विभाग के विधाताओं के वश की बात भी नहीं थी। स्वामी जी का कहना था कि

संन्यासी तटस्थ है परन्तु भूत-पूर्व प्रतिपक्षी को इस का विश्वास क्यों कर होता? कालेज समाज की दृष्टि में स्वा० श्रद्धानन्द रूपान्तरित मुन्शीराम था—वही पुराना "सद्धर्म-प्रचारक" का संपादक मुन्शीराम, जिस ने उन के विरुद्ध "धर्मात्मा-दल" को संघटित किया था। प्रतिपक्ष तो प्रतिपक्ष, अपना पक्ष भी इन की इस तटस्थ वृत्ति को समझ नहीं सका। उस की दृष्टि में ये उस के अपने पुराने नेता थे जो उस से अलग हो ही नहीं सकते थे। वीर लेखराम की अर्थी के समीप की गई मिलाप की अपील आज फिर दोहराई जा रही थी। अपील करने वाले भी श्रद्धानन्द के चोले में वही मुन्शीराम थे। परन्तु अब के वह अर्थी भी तो विद्यमान न थी जो एक बार फिर श्मशान-वैराग्य ही पैदा कर जाती।

किसी को क्या ज्ञान था, जीवित श्रद्धानन्द स्वयं लेख-राम की दूसरी अर्थी बनने की तय्यारी कर चुका था। संन्यासी के कषाय वस्त्र बलि-वेदी की जलती आग थे। संघटन का जन्म-दाता श्रद्धानन्द आर्य पथिक के शुद्धि-मार्ग पर चल पड़ा था। मौलानाओं की दृष्टि में अब वह श्रद्धा-नन्द नहीं था जो १६१६ की हिन्दू-मुसलिम एकता के दिनों देहली की जामे मसजिद से

"त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे"

की पवित्र गुंजार गुँजा चुका था। उन की दृष्टि में वह "औलिया" श्रद्धानन्द नहीं था जिस ने गूर्खे की किर्च के

सामने निर्भीक छाती तानी थी और समूची भारतीय प्रजा के विश्वस्त नेता के रूप में अपूर्व प्रभु-प्रेम तथा आत्म-विश्वास का प्रमाण उपस्थित किया था। मुसलमानों की दृष्टि में अब श्रद्धानन्द का रूप हज़ारों मुसलमानों को "मुर्तद्द" बनाने वाले "काफ़िर" का था। जब स्वयं "मुर्तद्द" के लिए वध का विधान है तो मुर्तद्द बनाने वाले का अपराध तो उस से सैकड़ों-हज़ारों गुणा अधिक है।

२३ दिसम्बर १९२६ को एक मुसलमान इन से रुग्ण अवस्था में मिलने आया। वह संशय निवारण करना चाहता था। इन्हों ने उस के लिए दर्वाज़ा खुलवा दिया। उसे कुर्सी पर बैठाया। पर वह तो घोर विश्वास-घातक निकला। प्यास के बहाने से सेवक को बाहर भेज कर उस ने इन पर गोली चला दी। रोग-शैय्या पर पड़े तीन गोलियाँ अपने सीने में लिये श्रद्धानन्द लेखराम-लोक की ओर चल दिये। कवि के शब्दों में—

मोड़ दूँ संगीन अगर हो आहिनी सरकार की।
गोलियाँ मनजूर हैं अहल-इ-वतन के प्यार की॥

श्रद्धानंद की अर्थी का जलूस "न भूतो न भविष्यति अपूर्व समारोह-पूर्वक बलिदान भवन से निकला और गुरु तेगबहादुर के सीस-गंज के आगे से होता हुआ जमना के किनारे पहुँचा। पंजाब अपने दिवंगत नेता की पूजा के लिए देहली के जनाकीर्ण बाज़ारों में शुद्धि तथा संगठन के पवित्र गीत गा रहा था।

किया कत्ल है जिस ने स्वामी हमारा
उसे भी गले से लगाना पड़ेगा॥

पंजाबी वीरों का यह गीत शहीद की कामनाओं का प्रतिबिम्ब था। सीस-गंज के शहीद ने शहीद को पहिचाना। अमर शहीदों ने श्रद्धानन्द का नाम भारत की अमर वीर-माला में मानो भड़कती अग्नि के अक्षरों में अंकित कर लिया।

इस अर्थी पर पंजाब की प्रतिनिधि सभा का जीवन-दाता, गुरुकुल का संस्थापक, सार्वदेशिक सभा, शुद्धि-सभा, दलितोद्धार-सभा और जाने किन-किन अन्य सभाओं तथा संस्थाओं का प्रवर्तक अपने अद्भुत साहस तथा कर्मण्यता की अंजलि, कल्याण-मार्ग के प्रदर्शक उस जादूगर की भेंट कर रहा था जिस ने इस की माता की भ्रान्ति के अनुसार उस का धर्म नहीं, अधर्म हर लिया था। "कल्याण-मार्ग का पथिक" "आर्य पथिक" के क़दम से क़दम मिला कर वैदिक धर्म की अनन्त देव-यात्रा का यात्री हो चुका था। कवि के शब्दों में वह कह रहा था :—

रुधिरांजलि ले कर आया हूँ,
बुझा किसी की प्यास।
ऋषिवर ! अब तो भेंट क़बूलो,
करो दान विश्वास॥

म० राजपाल का बलिदान

हिन्दू-मुसलमानों मे एक दूसरे के धर्म की समालोचना बहुत पुराने समय से चली आती थी। इस समालोचना में औचित्य की सीमा का अतिक्रमण भी हो जाता रहा था। मौ० इस्माईल के "रद्द-इ-हिन्दू" से यह परिपाटी चली थी और पक्ष-प्रति-पक्ष दोनों की ओर से अनेक पुस्तकें लिखी गई थीं।

१९२४ में क़ादियानियों के प्रकाशन-गृह से "उन्नीसवीं सदी का महर्षि" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। उस में

म० राजपाल

ऋषि दयानन्द के जीवन पर अनुचित आक्षेप किये गये थे। इस के पश्चात् मई १९२४ में महाशय राजपाल के सरस्वती पुस्तकालय की ओर से "रंगीला रसूल" नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई। किसी मुसलमान ने इस की प्रति महात्मा गान्धी को भेज दी। उन्होंने उस पुस्तक के प्रतिकूल सम्मति प्रकाशित कर दी। इसी प्रकार उनके पास किसी ने "उन्नीसवीं सदी का महर्षि" की एक प्रति भी भेज दी। उन्हों ने अपनी सम्मति उसके भी प्रतिकूल प्रकाशित कर दी। मुसलमानों की एक सभा में, जो किसी और प्रयोजन से बुलाई गई थी, "रँगीला रसूल" के विरुद्ध प्रस्ताव पास कर दिया गया। इस पर सरकार ने अभियोग चला दिया। तीन वर्ष यह अभियोग चला। अन्त को हाई कोर्ट ने महाशय जी को बरी कर दिया। महाशय जी पर जो धारा लगाई गई थी उस के आधीन उनको दोषी नहीं निर्धारित किया जा सकता था।

महाशय राजपाल एक शान्ति-प्रिय पुरुष थे। वे चाहते तो उस पुस्तक के कई संस्करण निकाल लेते। परन्तु ज्यों हीं उन्हें पता लगा कि मुसलमान इस पुस्तक के छपने पर रुष्ट हो रहे हैं, उन्हों ने उस का दूसरा संस्करण निकालने का विचार ही छोड़ दिया। महाशय जी ने तुरन्त घोषणा कर दी कि मुसलमानों की भावनाओं का आदर करते हुए वे उस पुस्तक को दूसरी बार नहीं छपवायँगे। देश-बन्धुओं के धार्मिक भावों का इस से अधिक आदर और क्या हो सकता है?

एक दिन प्रातःकाल महाशय जी अपनी दूकान पर खड़े दो संन्यासियों—स्वा० स्वतन्त्रानन्द तथा स्वा० वेदानन्द तीर्थ—से बात-चीत कर रहे थे। इतने में एक स्थूल-काय पहलवान-सा मुसलमान आया और उस ने झट महाशय जी पर चाकू से आक्रमण कर दिया। उस ने समझा होगा कि साधु कोई भिखमँगे हैं जो उस के चाकू को देखते ही चम्पत हो जायँगे। उस के दुर्भाग्य-वश ये साधु किसी और मट्टी के बने थे! स्वामी स्वतन्त्रानन्द आगे बढ़े और उस के चाकू वाले हाथ की कलाई को अपने हाथ में ले कर उन्हों ने उसे आगे प्रहार करने के अयोग्य बना दिया। इन के पहुँचने से पूर्व महाशय जी पर एक प्रहार किया जा चुका था। उन की छाती तथा बाहु पर घाव हो गये। इन के कारण उन्हें महीना-भर हस्पताल में रहना पड़ा।

कोई दो सप्ताह पीछे महाशय जी की दूकान पर स्वामी सत्यानन्द पर छुरी का आक्रमण किया गया। एक मुसलमान ने पीछे से छुरी घोप दी। वार तिल्ली पर किया गया था। वह फटने से बच गई। स्वामी जी उन्हीं दिनों दो वर्ष के एकान्त वास से लौटे थे। उन के मिश्री-से मधुर उपदेशामृत से किसी को क्या दुःख पहुँच सकता था? वार करने वाला भाग निकला। उसको पकड़ने के प्रयत्न में दो सज्जन बुरी तरह घायल हुए। आक्रमणकारियों को सज़ाएँ मिल गईं स्वामी जी को पर्याप्त समय हस्पताल में रहना पड़ा।

इस के एक दिन पश्चात् एक हिन्दू मिठाई बेचने वाला की गर्दन में पीछे से छुरी घोप दी गई और वह तत्काल मर

गया। घातक ने कचहरी में स्वीकार किया कि उस के उठने' बैठने के स्थान वही थे जो म० राजपाल तथा स्वा० सत्यानंद पर आक्रमण करने वालों के। इस से इन घातक आक्रमणों की पीठ पर किसी षड्यन्त्र के होने का सन्देह होता है।

स्व० ला० लाजपतराय की गणना के अनुसार, दंगों को छोड़ कर इस प्रकार ठण्डे हृदय से अकेले वध किये गये आर्य वीरों की संख्या बारह से कम नहीं है। विचारणीय बात यह थी कि अधिकांश प्रतिष्ठित मुसलमान प्रायः इन आक्रमणों के विषय में चुप रहते थे। स्वा० श्रद्धानन्द के घातक अबदुर्रशीद को जब फाँसी पर चढ़ा दिया गया तो उस की अर्थी के साथ एक बड़ा जलूस था जिस ने देहली के बाज़ारों में ख़ूब लूट मार की। फाँसी चढ़ने से पूर्व इस हत्यारे को "ग़ाज़ी" और फाँसी चढ़ जाने पर "शहीद" की पदवी दे दी गई।

धर्मान्धता का जोश स्वा० श्रद्धानन्द के बलिदान से शान्त नहीं हुआ। देश का सारा वातावरण ही ऐसा बिगड़ा कि शान्ति-पूर्वक धर्म-प्रचार का सामान्य कार्य करना ही कठिन हो गया। मुसलमानों की इस माँग के सम्मुख कि मसजिदों के सामने बाजा नहीं बजाना चाहिए और पड़ौस में आर्ति नहीं गाई जानी चाहिए, अनेक स्थानों पर सरकार झुक गई। आर्य समाज के नगर-कीर्तनों में विघ्न पड़ा। उपद्रव की संभावना सर्वत्र प्रबल हो उठी। इन कठिनाइयों को लक्ष्य में रख कर १९२७ ई० के अन्त में देहली में आर्य-महासम्मेलन हुआ। उसमें सब प्रान्तों के आर्य नर-नारी एकत्रित हुए। महा० हंसराज

उसके प्रधान थे। आर्यों के उत्साह का वह एक अत्यन्त प्रभाव-शाली दृश्य था।

महाशय राजपाल पर छुरी का आक्रमण हो चुका। आक्रमण-कर्ता को सात साल का कठोर कारावास मिला। घात के समाचार रोज़ उड़ते थे। अन्त को ४ एप्रिल १६२६ में उसी दूकान पर जब महाशय जी बैठे हिसाब मिला रहे थे, इलमदीन नाम का एक युवक आया। वह झट महाशय जी पर झपटा और उन्हें तुरन्त छुरी के घाट उतार गया।

इलमदीन पर मुकद्दमा चला और उसे मियाँवाली जेल में फाँसी मिली। उस की लाश खोद कर लाहौर लाई गई और उस का शानदार जलूस निकाला गया। कोई ही बड़े से बड़ा मुसलमान होगा जो इस अर्थी के साथ न गया हो।

क़ादियानी पत्र "लाईट" के लेखानुसार "प्रत्येक हिन्दू राजपाल है, इस लिए प्रत्येक मुसलमामान को अब्दुर्रशीद बन जाना चाहिए।" सर अब्दुर्रहीम के शब्दों में हिन्दू, शहीदों की और मुसलमान, घातकों की वृद्धि कर रहे थे। श्रद्धानन्द और राजपाल का जवाब अब्दुर्रशीद और इलमदीन थे। वीर-गति को प्राप्त कर राजपाल श्रद्धानन्द के साथ जा मिला। आर्य समाज के पुस्तक-प्रकाशक प्रचारकों से ऊँचे उठ रहे थे। वीर-शिरोमणि लेखराम का परिवार उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। ऋषि के प्यारों की संख्या बढ़ती जा रही थी। धर्म का वृक्ष वीरों के रुधिर से सिंच-सिंच कर हरा-भरा हो रहा था।

स्वा० श्रद्धानन्द जी की वीरता संक्रामक थी। जब उन

पर घातक ने आक्रमण किया तो उनके शिशु-मंत्री प्यारे वीर शिष्य धर्मपाल विद्यालंकार ने अपनी जान को संकट में डाला और जनता पर प्रकट कर दिया कि वीर श्रद्धानन्द की भूमि वीरसू है। इस का एक और उज्ज्वल उदाहरण स्वामी जी के सेवक धर्मसिंह की वीरता से मिला। धर्मसिंह ने भी अपनी जान को अपने स्वामी, आर्य समाज के पूज्य नेता स्वामी श्रद्धानन्द की रक्षा में बेखटके संकट में डाल दिया। फिर राजपाल जी तो थे ही स्वामी श्रद्धानन्द जी के परम भक्त। यद्यपि वह पुस्तक विक्रेता थे किन्तु यह धन्धा भी वह केवल इस लिए करते थे कि उस से वैदिक धर्म की सेवा हो जाय। वह शास्त्रार्थी व तार्किक न थे। केवल धर्म सेवक थे। शिष्टता की मूर्त्ति थे। एक पुस्तक उनके पास प्रकाशन होने को आई। उन्होंने प्रकाशित कर दी। जब मुसलमान भाइयों ने आपत्ति उठाई तो वह पुस्तक को लौटाने को भी राज़ी हो गए। किन्तु फिर भी जब उन पर धर्मान्ध लोग आक्रमण करने से न रुके तो उन्होंने अपनी जान भी हँसते-हँसते दे दी। उनके अन्दर शहीदों की स्पिरिट थी। मृत्यु के समय भी घातक के विरुद्ध उनके मुँह से कोई शब्द नहीं निकला! ऐसे वीर की आत्मा वीर गति को प्राप्त होवे। स्वर्गीय राजपाल की वीर आत्मा को प्रणाम!

इसी बीच में अमृतसर से प्रकाशित होने वाले "वर्तमान" नामक पत्र पर अभियोग चला। सरकार ने अपनी ओर से सर मुहम्मद शफ़ी को वकील नियत किया। पत्र के सम्पादक म० ज्ञानचन्द को कारावास का दण्ड मिला।

यह विचार कर आर्य समाज का सिर गौरव से ऊँचा उठ जाता है कि इस की छातियाँ ही ख़ून से रँगी हैं, हाथ नहीं रँगे। आक्षेप तो ऋषि के जीवन पर भी होते ही रहते हैं। परन्तु समाज को यह पूरा विश्वास है कि ऋषि की जीवनी का रक्षक स्वयं उनका सदाचार है।

प्रचार-कार्य

पिछले कालों में प्रचार-कार्य के वृत्तान्त का एक बड़ा भाग प्रचारकों के प्रचार के इतिवृत्त थे। वर्तमान काल के प्रचारक अभी अपनी प्रचार-लीला में लगे हुए हैं। लीला की समीक्षा उस की समाप्ति ही पर हो सकती है। किसी वस्तु का चित्र ठीक खिंच सकने के लिए चित्रकार से उस का एक विशेष अन्तर पर उपस्थित होना आवश्यक है। हमारे समकालीन, हम से अभी उतनी दूरी पर नहीं हैं। उन की लीला अपना चित्र अपने आप दर्शकों के सम्मुख रख रही है। हम ख़्वाह-मख़्वाह उस लीला तथा उस के दर्शकों के बीच में काहे को पड़ें ?

पुराने महारथियों में से पं० पूर्णानन्द का १९२३ में देहान्त हो गया। पण्डित जी पहिले स्वामी और फिर पण्डित पूर्णानन्द के रूप में वैदिक धर्म की सेवा करते रहे थे। कहाँ तो ये काशी में एक उदासी साधु का अपने गुरु जी के यहाँ, पाठ ही नहीं चलने देते थे और कहाँ रुग्णा-वस्था से उसी की सेवा-शुश्रूषा से चंगे हो कर उसी के

कहने से आर्य समाज में जाने लगे और फिर समाज के रंग में ऐसे रँगे कि मरण-पर्यन्त इस के सिवाय कोई और धुन ही न रही। प्रचार करते-करते पण्डित जी को सूचना मिली कि पुत्र रुग्ण है। कहा—कार्य समाप्त कर लें, चले जायँगे। इतने में समाचार आया—उस का देहान्त हो गया। पुत्र के मरने का दुःख तो हुआ पर सोचा—अब जा कर क्या करेंगे? प्रचार की यात्रा पूरी की और फिर घर लौटे।

पं० ब्रह्मानन्द पहिले गुरुकुल में कार्य करते थे, फिर हरियाना प्रदेश के (जिस में देहली, गुड़गावाँ, रोहतक तथा कर्नाल के ज़िले शामिल हैं) अध्यक्ष बन गये। इस प्रदेश पर सभा की विशेष दृष्टि रही है। यहाँ की भाषा तथा धर्म-भावना की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए इस प्रान्त को आर्य प्रान्त कहा जा सकता है। यदि इधर अम्बाले का और उधर मेरठ का ज़िला इस प्रदेश में मिला दिये जायँ तो संस्कृति की दृष्टि से यह एक नियमित आर्य प्रान्त बन जाय। इस प्रदेश के प्रज्ञा-चक्षु कवि तथा गायक म० बस्तीराम की गीतियाँ एक विशेष प्रकार के ओज तथा उत्साह की स्फूर्ति प्रदान करती हैं। पं० ब्रह्मानन्द ने वहां रहते हुए सन्यास ले लिया और फिर वे स्वतन्त्र रूप से प्रचार करने लगे।

सभा के दिवंगत प्रचारकों में से पं० ब्रह्मदत्त विद्यालङ्कार तथा पं० धर्मभिक्षु विशेषतया उल्लेखनीय हैं। पं० ब्रह्मदत्त गुरुकुल के स्नातक थे। उन की भव्य आकृति तथा सुरीली गरजती हुई आवाज़ अपूर्व प्रभाव पैदा करती थी। पं० धर्मभिक्षु इसलाम के विद्वान् थे। इन की लखनवी उर्दू

और कुर्आन तथा हदीस पर आधिपत्य प्रतिपक्षी को झटपट निरुत्तर करा देता था। प्रचार का जोश कहीं-कहीं भाषा में कठोरता पैदा कर देता था, पर निर्भीकता कठोरता को भी प्रशंसा का पात्र बना देती थी। क़ादियानी मुसलमानों के मुक़ाबिले में इन के शास्त्रार्थ विशेष रूप से देखने योग्य होते थे। इन दोनों महानुभावों के अकाल वियोग ने समाज को मर्मान्तक क्षति पहुँचाई।

१९२० में पं० द्रौपदी देवी सभा की सेवा में आईं। सभा की ये पहिली उपदेशिका थी। समाज के देवी-विभाग के लिए इनकी विशेष माँग रहती थी।

१९२२ में "दयानन्द सेवा-सदन" की स्थापना हुई। सदन का उद्देश्य "वैदिक धर्म के सेवकों का संघटन करना" था। इस सदन के सदस्य "प्राचीन या अर्वाचीन साहित्य, धर्म, विज्ञान दर्शन अथवा कला में उच्च योग्यता रखने वाले वे नर नारी बन सकते हैं जिनकी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियाँ धर्म की सेवा के समर्पण हैं"। सदस्य विशेष बन्धनों के साथ २० वर्ष की सेवा का (जिन मे से २ वर्ष का उन्हें Furlough दीर्घावकाश मिल सकता है) व्रत लेते हैं।

पं० चमूपति एम. ए. पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार, प० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, डा० राधाकृष्ण बी० एस० सी०, एम० बी० बी० एस० तथा प० ज्ञानचन्द्र बी० ए० इस सदन में भर्ती हुए। पं० चमूपति जी, पं० बुद्धदेव तथा पं० ज्ञानचन्द्र प्रचार-विभाग में, और पं० सत्यव्रत तथा डा० राधाकृष्ण गुरुकुल में कार्य कर रहे हैं। प्रो० रामदेव जी पहिले से गुरुकुल के आजीवन सदस्य चले आते थे इस सदन के

अध्यक्ष नियत हुए । वे १९३३ में सभा की सेवा से निवृत हो गये। उनका सेवा काल कभी का समाप्त हो चुका था। उन्होंने प्रायः ड्योढ़ी सेवा की । वह बार-बार विराम चाहते थे। अन्ततः १९३३ में उनके कहने पर सभा ने उनको अपनी सेवा से रीटायर कर दिया।

देश की परिवर्त्तित परिस्थितियों के कारण अब शास्त्रार्थों में जनता की उतनी रुचि नहीं पाई जाती। १९२० में स्वामी श्रद्धानन्द ने ही इनके विरुद्ध बड़े ज़ोर से आवाज़ उठाई थी। तो भी हम १९३३ की रिपोर्ट में २० शास्त्रार्थों का उल्लेख पाते हैं। यही अवस्था अन्य वर्षों की है। इस काल के शास्त्रार्थी पं० लोकनाथ पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार, पं० मनसाराम, पं० शान्ति-प्रकाश, पं० विश्वनाथ पं० सत्यदेव, पं० उद्योगपाल (जो पीछे संन्यासी होकर स्वा० रुद्रानन्द कहलाये) इत्यादि हैं।

पूर्वीय अफ्रीका में पं० पूर्णानन्द तथा ठाकुर प्रवीणसिंह के जाने का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। उनके पश्चात् स्वा० स्वतन्त्रतानन्द, पं० माधुर शर्मा, प्रो० रामदेव, पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार, पं० चमूपति एम. ए. तथा पं० सत्यपाल सिद्धान्तलङ्कार यहाँ प्रचार कर आये हैं। बर्मा में पं० माधुर शर्मा, पं० यशपाल सिद्धान्तालंकार, म० हंसराज तथा पं० परमानन्द बी० ए० काम कर चुके हैं। इस प्रकार भारतीयों के उपनिवेशों के साथ सभा का सम्बन्ध यथा पूर्व क़ायम है। सभा के उपदेशक वहाँ जाकर वेद का प्रचार कर आते हैं। प्रवासी भारत-वासियों में भारतीयता को स्थिर रखने का यह एक बहुत बड़ा साधन है।

स्वा० श्रद्धानन्द के बलिदान-प्रकरण में हम "भारत हिन्दू शुद्धि सभा" की स्थापना का वर्णन कर आये हैं। स्वामी जी ने इस कार्य में पंजाब की प्रतिनिधि सभा को सहायता के लिए लिखा। सभा ने फ़ंड के लिए अपील कर के धन भी एकत्रित किया और प्रचारक भी भेजे। कई मान्य संन्यासियों तथा उपदेशकों ने उस प्रदेश को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। स्वा० सत्यानन्द, स्वामी स्वतन्त्रानन्द, स्वा० विद्यानन्द, पं० युधिष्ठिर विद्यालङ्कार, पं० उद्योगपाल, पं० हरदयालु इत्यादि महानुभावों ने इस कार्य में योग दिया।

१९२८ में ग्राम-प्रचार मण्डली बनाई गई। इस में चार प्रचारक थे। उन के पास मैजिक लालटैन, बाजा, ढोलक, कैंप, तथा भोजन बनाने का सफ़री सामान रहता था। जहाँ पहुँचे, कैंप लगा लिया और इधर-उधर प्रचार करने लगे। इस मण्डली के द्वारा समाज का संदेश उन स्थानों में पहुँचाया गया जहाँ इस से पूर्व किसी प्रचारक के दर्शन ही नहीं हुए थे। साधारण रोगों की चिकित्सा कर इस मण्डली ने अच्छी लोक-प्रियता प्राप्त की। मण्डली की रिपोर्ट में ४२३ व्यक्तियों की शुद्धि का उल्लेख है। इस मण्डली ने अपने क्षेत्र में ट्रैक्ट-वितरण, दलितोद्धार तथा संस्कारों का कार्य भी किया।

शुरू से ही वैदिक अनुसंधान सभा के कार्य का अंग रहा है। इस विभाग की ओर से थोड़ा-बहुत साहित्य-निर्माण हमेशा से होता आया है। वर्तमान काल में इस दिशा में कुछ महत्व-पूर्ण कार्य हुए। ऋषि दयानंद की जन्म-शताब्दी के अवसर पर पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा

प्रणीत "वेदामृत" का वर्णन ऊपर आ चुका है। इस के अतिरिक्त सभा ने ऋषि के समग्र ग्रन्थों से वेद के शब्दों का अर्थ संगृहीत करा, ब्राह्मणादि आर्ष ग्रन्थों के उपयुक्त उद्धरणों सहित "वेदार्षकोष" तय्यार कराया। इस पुस्तक का एक भाग प्रकाशित हो चुका है।

१९३२ के आरंभ में जम्मू प्रदेश में हिन्दुओं पर उन के मुसलमान पड़ोसियों ने अकथनीय अत्याचार किये। ऐसा प्रतीत होता था कि अब रियासत में राज्य रहा ही नहीं। यह प्रदेश मुसलमान-प्रधान है। मीलों तक गाँव के गाँव ऐसे चले जाते हैं जिन में इक्का-दुक्का हिन्दू घर भी मुश्किल से पाया जाता है। यह हत्या-काण्ड १९२१ के हिन्दू-मुस्लिम फ़सादों की मानों एक विस्तीर्ण पुनरावृत्ति था। वे दंगे अलग-अलग स्थानों में हुए थे; ये एक पूरे प्रान्त में एक साथ फैल गये। प्राणों की हत्या, माल-असबाब की लूट, स्त्रियों और बच्चों पर बलात्कार—संक्षेप यह कि कोई पशुता ऐसी न थी जो उस उपद्रव में न हुई हो। इन अत्याचारों से पीड़ितों की संख्या हज़ारों तक पहुँच गई। इस संकट से बचने का उपाय एक था—इसलाम को अंगीकार कर लेना। स्वा० स्वतन्त्रानन्द की अध्यक्षता में दयानन्द उपदेशक-विद्यालय के विद्यार्थी और अध्यापक इस निर्दयता के क्षेत्र में पहुँचे। इन्हों ने जहाँ पीड़ितों की अन्न तथा वस्त्र द्वारा सहायता की, वहाँ ये अपने धर्म से भ्रष्ट हुए भाइयों को आर्य धर्म में लौटा लाने में भी सफल हुए।

इस शुद्धि संस्कार का प्रभाव इतना हुआ कि कई पीढ़ियों के मुसलमान हो चुके राजपूतों के कुछेक परिवार भी अपनी पुरानी बिरादरी में लौट आये। इस निष्काम सेवा का एक फल यह भी हुआ कि राजपूतों ने अपने आप अस्पृश्य जातियों को अपने साथ मिला लेना स्वीकार कर लिया और कई स्थानों पर नये समाज स्थापित हो गये।

१९२६ में ऋषि के जन्म-स्थान टंकारा में ऋषि का जन्म महोत्सव मनाया गया। १९३३ मे अजमेर में ऋषि के निर्वाण की अर्द्ध-शताब्दी मनाई गई। अजमेर में इस शान का उत्सव यह एक ही हुआ। पंजाब दोनों स्थानों में सम्मिलित था, पर वह मथुरा की-सी बात नहीं हो सकती थी। टंकारे की शताब्दी पर ऋषि के जन्म-स्थान का प्रामाणिक निश्चय हो गया। शताब्दी के मन्त्री ने राज्यांक सहित ऋषि के कुल तथा जन्म-स्थान का विवरण प्रकाशित किया।

जून १९३४ में बिहार में भयङ्कर भूकम्प आया। नगरों के नगर नष्ट-भ्रष्ट हो गये। यह एक ऐसा दुर्दैव था जिस का वर्णन हो सकना कठिन है। सभा ने इस दैवी कष्ट के निवारणार्थ पं० ठाकुरदत्त शर्मा की प्रधानता में उपसमिति बना दी। वे पं० ज्ञानचन्द्र को साथ ले कर भूकंप-पीड़ित प्रान्त में स्वयं गये। वच्छोवाली समाज के उत्साही कार्यकर्ता म० बोसाराम ने इस कार्य को सँभाल लिया। रामगली (लाहौर) के म० श्यामलाल उन के सहायक बने। वस्त्र तथा अनाज बिना मूल्य तथा थोड़े मूल्य पर वितरण

कर असहायों की सहायता की गई। जो लोग बे-घर-घाट फिर रहे थे, उन के लिए मुफ़्त झोंपड़ियाँ बनवा दी गईं।

१९३५ में क्वेटा में भयंकर भूकम्प आया। सारा क्वेटा विनष्ट हो गया। सभा के दो उपदेशक पं० भीमसेन विद्यालङ्कार और पं० इन्द्र वेदालङ्कार का देहान्त हो गया। कई आर्य परिवार दब कर नष्ट हो गये। समाज का भव्य मन्दिर भी विनष्ट हुआ। यह समाज बिलोचिस्तान में सभा का गढ़ था। उस का विशाल भवन तथा पुत्री शाला अपनी मिसाल आप थी। जब से यह समाज खुला था, विशेष उत्साह का केन्द्र रहा था। अब केवल उस की स्मृति शेष है। सभा ने इस आपत्ति के समय यथा-पूर्व सहायता का प्रबन्ध किया। पं० ठाकुरदत्त शर्मा सहायता-समिति के प्रधान थे। वस्त्रों तथा मासिक वृत्तियों के रूप में सहायता दी गई।

गढ़वाल के दुर्भिक्ष में स्वा० श्रद्धानन्द की अपील पर पंजाब के समाजों की ओर से सहायता किये जाने का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। सभा ने लोक-सेवा के इन कार्यों को अपने हाथ में ले कर धर्म के सच्चे स्वरूप का प्रदर्शन किया। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में इन सभी पीड़ित प्रान्तों में दरिद्र-नारायण की झाँकी हो रही थी। उद्धारकों ने उन का उद्धार तो किया या न किया, अपनी आत्मा का उद्धार अवश्य किया। प्रभु के अनाथ बालक सनाथ क्या हुए कि हम स्वयं सनाथ हो गये।

मुन्शीराम-काल के प्रचार का एक साधन कुमार-सभा

थी। वह उस काल के पश्चात् भी कार्य करती रही। विशेष कार्यकर्ताओं में पं० विश्वंभरनाथ, प्रो० रामदेव, काश्मीर के हेल्थ ऑफ़िसर डा० कुलभूषण, जास्टिस रंगीलाल, पं० परमानन्द बी० ए०, ला० सन्तलाल बी० ए०, ला० अर्जुनदेव बगाही बी० ए०, एल-एल० बी० इत्यादिकों के नाम उल्लेखनीय हैं। नवंबर १६२९ में इस संस्था को "आर्य युवक संघ" नाम से पुनरुज्जीवित किया गया। दो वर्ष इस संघ की ओर से रात्रि के समय कमर्शल क्लासें लगती रहीं जिन में टाइप-राइटिंग, प्रेसी-राइटिंग इत्यादि व्यापारिक विषयों की शिक्षा दी जाती रही। इस के पश्चात् ये श्रेणियाँ तो न चल सकीं परन्तु इस संघ का चलाया हुआ वार्षिक टूर्नामेंट अब तक चालू है। उस में प्रति वर्ष विद्यार्थियों के खेल तथा क्रीड़ा-साम्मुख्य होते हैं।

इस काल में प्रचार-कार्य का विस्तार तो हुआ ही, पीड़ितों की सहायता का कार्य नया था। इसे हाथ में ले कर सभा ने यश भी प्राप्त किया और लोक-सेवा भी की। कुमार-सभा के हट जाने के कारण भिन्न-भिन्न कालेजों के विद्यार्थियों से हमारा वह संसर्ग नहीं रहा जो पहिले हुआ करता था। विद्यार्थी आश्रम तथा युवक संघ इस कमी को पूरा नहीं कर सके। आने वाली पीढ़ियों से इस प्रकार विच्छिन्न-सा हो जाना आर्य नेताओं के लिए विचार का विषय है। सब ओर बढ़ते-बढ़ते कहीं हम मूल में ही न घट रहे हों।

सभा का प्रबन्ध

सभा के प्रधान १६१७ तथा १६१८ में ला० रामकृष्ण रहे। १६१८ में इन के गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता हो जाने के कारण पं० विश्वम्भरनाथ प्रधान हो गये। फिर १६१६ में भी वे ही प्रधान निर्वाचित हुए। १६२० में ला० रामकृष्ण लौट आये। इस पर पं० विश्वम्भरनाथ ने त्याग-पत्र दे दिया और लाला जी पूर्ववत् प्रधान हो गये। इस के अनन्तर १८२५ तक ये ही प्रधान रहे। अब इन की आयु बड़ी हो चुकी थी और शरीर रोगी रहता था। इस लिए इन्हें इस कार्य-भार से विमुक्त कर दिया गया। १६२६ से १९३४ तक रायबहादुर बद्रीदास एम० ए० प्रधान निर्वाचित होते रहे। १६३५ में प्रो० रामदेव प्रधान बने।

मन्त्री १९१७ में म० कृष्ण बी० ए० थे। १६१८ में ला० धर्मचन्द्र बी० ए०, एल-एल० बी, १६१६ से १६२१ तक पं० ठाकुरदत्त शर्मा, १६२२ से १६२७ तक फिर म० कृष्ण मन्त्री रहे। १६२८ से १६३० तक फिर पं० ठाकुरदत्त निर्वाचित होते रहे। १६३१, १६३३ और १९३४ में म० कृष्ण और

१९३२ तथा १९३५ में पं० भीमसेन विद्यालङ्कार मन्त्री बनाये गये।

हम मुंशीराम-काल में वेद-प्रचार निधि के क्रमिक विकास का वर्णन कर चुके हैं। वर्तमान काल १६,०००) की आय से आरम्भ होता और शीघ्र २५,०००) तक पहुँच जाता है। १९२२ में यह आय ३०,०००) हो गई। इस निधि की सब से बड़ी आय यही है।

उपदेशकों की संख्या १९१८ में २४ और १९२२ में ३२ थी। भजनीक १९१८ में १७ और १९२२ में १८ थे। १९३३ में ये संख्याएं क्रमशः ४१ और २४ हो गई हैं।

प्रतिनिधियों की संख्या सभा के आरम्भ काल से दस-दस वर्ष के पश्चात् इस प्रकार बढ़ती गई है :—

वर्ष	प्रतिनिधियों की संख्या
१८८६	२०
१८९५	६७
१९०५	१०६
१९१५	११४
१९२०	२१७
१९३५	२६०

ऊपर दी गई संख्याएँ हर दृष्टि से सभा के क्रमिक विकास की मुँह बोलती तसवीर हैं। क्या वेद-प्रचार निधि की आय, क्या प्रचारकों की संख्या और क्या समाजों तथा उन के प्रतिनिधियों की संख्या—सभी एक-साथ वृद्धि ही वृद्धि को प्राप्त होती आई हैं। सभा की उन्नति-शीलता का इस से और स्पष्ट प्रमाण क्या हो सकता है?

गुरुकुल तथा उपदेशक-विद्यालय का वर्णन इस से पूर्व पृथक् अध्यायों में हो चुका है। इस काल में सभा ने एक नया काम यह किया कि सामाजिक स्कूलों तथा पाठ-शालाओं को परस्पर सम्बद्ध तथा संघटित करने और उन की धर्म-शिक्षा को उन्नत करने के लिए १९२९ में "पंजाब-आर्य शिक्षा-समिति" का निर्माण किया। समिति ने पुत्री-पाठशालाओं की सब विषयों की और पुत्र-पाठशालाओं और स्कूलों की धर्म-शिक्षा की पाठ-विधि निश्चित कर दी है और अपने निरीक्षक द्वारा इन शालाओं का निरीक्षण करा इन में समानता तथ संघटन लाने का यत्न किया है। इस यत्न में इसे उत्तरोत्तर सफलता हो रही है। १९३२ की समिति की रिपोर्ट में यह भी लिखा है कि जिन स्कूलों के प्रबन्ध में स्थानीय वैमनस्य के कारण कठिनता थी, उन्हें स्थानीय संचालकों की सहमति से समिति ने अपने सीधे शासन में ले लिया है। इस समय १०६ संस्थाएँ समिति से सम्बद्ध हैं।

१९३० में पंजाब यूनिवर्सिटी से संबद्ध दयानन्द मथुरा-दास कालेज, मोगा और असहाय गुरुकुल, बेट सोहनी, सभा के सीधे निरीक्षण तथा प्रबन्ध में आ गये। इन का वर्णन अपने-अपने स्थान पर हो चुका है।

१९३३ में स्व० ला० सुन्दरदास की धर्म-पत्नी श्रीमती गोपालदेवी के १०,०००) के दान से गुरुदत्त भवन से संबद्ध विश्रामशाला बनाई गई।

देहली के श्रीयुत ज्ञानचन्द्र विद्याधर के २०,०००) के

दान से परी दरवेज़ा (ज़ि० जेहलम) में ज्ञानचन्द्र विद्याधर औषधालय खोला गया ।

ये सब दान तथा इन के द्वारा संचालित कार्य सभा के बढ़ रहे कार्य-क्षेत्र के प्रमाण हैं। सभा की प्रवृत्ति किस-किस दिशा में बढ़ रही है?—इस की द्योतक ये नई संस्थाएँ हैं।

सभा का कार्य-क्षेत्र विशाल है। इस के अधीन मण्डल बना कर उपप्रतिनिधि-सभाओं की स्थापना का प्रयत्न कई वर हुआ है परन्तु उस में स्थिर सफलता नहीं हुई। हम १९१३ में कर्नाल मण्डल की उपप्रतिनिधि-सभा का १९२८ में लायलपुर, पानीपत तथा गुड़गांवा की उपप्रतिनिधि सभाओं का और १९३४ में रोहतक की उपप्रतिनिधि सभा का वर्णन पढ़ते हैं। इन सभाओं के द्वारा कार्य भी होता है, नये समाज भी खुलते हैं। प्रचार-कार्य को प्रगति मिलती है परन्तु यह प्रगति स्थायी नहीं होती। यह परीक्षण अभी सफल हुआ प्रतीत नहीं होता।

अन्तरंग सभा के सदस्यों की संख्या १९२९ में २१ के स्थान पर २७ कर दी गई। इन में से सात तो यथा-पूर्व अधिकारी रहे। इन के तथा ९ अन्य सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार यथा-पूर्व सम्पूर्ण सभा को रहा। २ की नियुक्ति का अधिकार सभा के प्रधान को दे दिया गया। शेष नौ का चुनाव समुदायों के अधीन कर दिया गया। इस के लिए नियम यह बनाया गया कि उपस्थित प्रतिनिधियों को ९ भागों में बाँट दिया जाय। प्रतिनिधि अपने आप समुदाय बना कर यथेच्छ सदस्यों का निर्वाचन कर लें। इस परिवर्तन

का उद्देश्य अल्प-पक्षों को अन्तरंग-सभा में आने का अवसर देना था। १९३५ में आर्य विद्यासभा के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव १९२३ ई० में स्वीकृत हुआ था उस को कार्यरूप में परिणत किया गया। अब राय बहादर ठाकुरदत्त जी की इच्छा अंशतः पूर्ण हुई। धर्म-प्रचार के कार्य की ओर अंतरंग सभा अपना पूरा ध्यान देती है। और आर्य विद्यासभा गुरुकुल के प्रबन्ध की ओर अपना सारा समय लगाती है। इस से गुरुकुक का कार्य भी दिन प्रतिदिन अधिक वेग से उन्नत हो रहा है. और प्रचार का विशाल कार्य भी। और सच पूछा जाय तो गुरुकुल भी वेद प्रचार एक महत्व-पूर्ण साधन-मात्र है और वह इस व्यवस्था से आगे की अपेक्षा दिन दुगुनी रात चौगुनी उन्नति करेगा। आर्य प्रतिनिधि की छत्रछाया में और आर्य जनता के साधारण निरीक्षण में सभा की दोनों भुजाएँ अर्थात् गुरुकुल और प्रचार विभाग अपनी सम्मिलित शक्ति से अवैदिक मतों के तम और अविद्या के अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर दें, और वेद की ज्योति का प्रचार पंजाब में नहीं, किन्तु भारतवर्ष भर में वेग से हो। यही परमात्मा से हार्दिक याचना है।

ओं तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा मा अमृत गमय॥

आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब का इतिहास

परिशिष्ट क.

सम्बद्ध आर्यसमाजों का इतिहास

आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब
सम्बद्ध आर्य समाजों का इतिहास*

१. अकालगढ़ (गुजरांवाला)

२. अख़लासपुर (गुरुदासपुर)

यहाँ आर्य समाज की स्थापना सं० १९७१ में हुई। पहले-पहल पं० रामशरण उपदेशक ने आर्य समाज का प्रचार किया। प्रचार के साथ-साथ शास्त्रार्थ भी होते थे। पं० रामशरण के अतिरिक्त पं० पूर्णानन्द और ठाकुर अमरसिंह ने भी विधर्मियों के साथ शास्त्रार्थ किये। ब्र० लक्ष्मणदत्त अवैतनिक भजनोपदेशक भी समाज में प्रचार करते रहे। महा० लभूराम तथा पं० गुरुदत्त ने दलितों को कूओं पर चढ़ाने का प्रयत्न किया। समाज के द्वारा

* आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से सम्बद्ध जीवित जागृत और कार्य कर रहे आर्य समाजों का इतिहास है। जिन समाजों का इतिहास उपलब्ध नहीं हो सका उन की संख्या तथा नाम देकर ही निर्देश कर दिया गया है। [लेखक]

वैदिक संस्कारों का प्रचार भी होता रहा है। म० मुंशीराम समाज में एक कर्मकाण्डी महानुभाव हैं। समाज का अपना मन्दिर है।

३. अजनाला (अमृतसर)

४. अटारी (अमृतसर)

५. अपरा (जलन्धर)

६. अबोहर (फ़ीरोज़पुर)

७. अमृतसर

यहाँ आर्य समाज की स्थापना ऋषि दयानन्द के आषाढ़ १९३४ को नगर में पदार्पण करने के समय हुई थी। समाज मन्दिर भी कुछ समय में बन गया परन्तु सन् १८९७ में पं० लेखराम के बलिदान के अवसर पर महात्मा दल के आर्य सज्जनों ने वैमनस्य को शान्त करने के लिए समाज मन्दिर लोहगढ़ दूसरे पक्ष के आर्य भाइयों को सौंप दिया। तदनन्तर एक समय श्रीमती माई जयकौर ने नमकमण्डी में एक देवालय बनवाया। मूर्त्ति-स्थापना के पूर्व ही आर्य सज्जनों की प्रेरणा से माई जी ने देवालय आर्य समाज को दे दिया। सन् १९१७ में समाज के वार्षिकोत्सव पर श्री० स्व० सर्वदानन्द जी महाराज की अपील पर समाज मन्दिर के लिए पशम बाज़ार में भूमि खरीदी गई। समाज मन्दिर का भी निर्माण हो गया। इस मन्दिर पर ७१,०००) व्यय हुआ है। समाज की कुल सम्पत्ति इस समय एक लाख रुपये की है।

समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं :—

(क) वैदिक कन्या पाठशाला। पाठशाला की ओर से एक स्वयं सेविका दल भी स्थापित है।

(ख) कुमार सभा।

८. अम्बाला [छावनी]

यहाँ आर्यसमाज की स्थापना विचित्र प्रकार से हुई है। सन् १९२६ की बात है कि कई सज्जनों ने मिल कर सनातन धर्म मन्दिर में सन्ध्या और हवन करना प्रारम्भ किया। पश्चात् पं० प्यारेलाल रेलवे गार्ड और पं० बाबूलाल चुंगी इन्स्पैक्टर के प्रयत्न से एक सेवा-समिति की स्थापना हुई और इसके साप्ताहिक सत्संग उसी मन्दिर में होने लगे। १९२७ में आर्य समाज की नियम-पूर्वक स्थापना की गई। और अगले वर्ष समाज का वार्षिक उत्सव भी हुआ। १९३१ में जैनियों के साथ एक शास्त्रार्थ हुआ। १९३५ में म० ख़ुशीराम ने समाज को एक मकान भी दान कर दिया।

९. अम्बाला [रैजीमैंटल बाज़ार]

१०. अम्बाला [लालकुड़ती बाज़ार]

११. अम्बाला [शहर]

१२. अलावलपुर (जलन्धर)

१३. अलीपुर

१४. अहमदपुर लम्मा (बहावलपुर)

१५. अहमदपुर शर्किया (बहावलपुर)

१६. अहमदपुर स्याल (झंग)

१७. अहसानपुर (मुज़फ़्फ़रगढ़)

१८. आदमपुर (जलन्धर)

सन् १९१० की बात है कि जब ला० हरचरणदास तथा ला० अमरचन्द आर्यसमाज जलन्धर के वार्षिक उत्सव पर गए तो वहाँ से ये महानुभाव प्रभावित हो कर आए। इन्हें तब से आर्यसमाज की लग्न लग गई। पुनः १९२२ में ला० हरदयाल बी० ए० इन्सपैक्टर के यहाँ नियुक्त होने पर आर्यसमाज के प्रचार को प्रबल प्रगति प्राप्त हुई। वे बालकों को सन्ध्या हवनादि धार्मिक कृत्यों का उपदेश देते रहते थे। उन्होंने अगले वर्ष एक चुबारे में साप्ताहिक सत्संग लगाने प्रारम्भ कर दिये। समाज के २० सदस्य भी बन गए। १९२८ तक इस प्रकार समाज का ख़ूब प्रचार रहा। १९३० में ला० किशनचन्द, मन्त्री, अखिल भारतीय चरखा संघ के पुरुषार्थ से समाज मन्दिर का भी निर्माण हो गया। पं० रामलाल, पं० देवीदयाल तथा ला० भगवान्-दास समाज के बड़े उत्साही कार्यकर्त्ता रहे हैं। श्रीमती मलावादेवी ने धन द्वारा समाज की सहायता की।

१९. आरिफ़वाला (मिण्टगुमरी)

२०. आर्यनगर (मुलतान)

२१. आहलूवाल (सियालकोट)

२२. इन्दौरा (कांगड़ा)

यहाँ आर्यसमाज की स्थापना सन् १६०६ में हुई। श्रीमती दुर्गादेवी ने समाज मन्दिर के लिए भूमि प्रदान की। सन् १९१३ में चौ० रामसिंह रईस तथा कई एक दानियों की आर्थिक सहायता से समाज मन्दिर डढ़-दा हज़ार की लागत का बन चुका है। समाज के द्वारा कुछेक शुद्धियाँ और विधवा-विवाह हुए हैं।

२३. इन्द्रप्रस्थ (गुड़गांवाँ)

२४. ईसाखेल (बन्नूँ)

२५. उग्गोके (सियालकोट)

२६. उच्च (बहावलपुर)

२७. ऊधमपुर (जम्मूँ)

यहाँ आर्यसमाज की स्थापना तो वैसे सं० १६६१ में हुई थी परन्तु पश्चात् समाज की अवस्था कुछ शिथिल-सी पड़ गई। सं० १६७९ में पं० रामनाथ एकौंटेएट तथा लाला जगन्नाथ वकील ने समाज को पुनरुज्जीवित किया। समाज का प्रथम वार्षिक उत्सव भी अगले वर्ष सं० १६८० में मनाया गया। इस शुभ अवसर पर सैंकड़ों मेघों की शुद्धि की गई। बरयाल नामक ग्राम में मेघ बच्चों की शिक्षा के लिए एक पाठशाला खोल दी गई जो सात वर्ष पर्यन्त चलती रही। समाज ने अछूतोद्धार की दिशा में बड़ा काम किया है। कई जन्म के मुसलमानों को भी शुद्ध किया गया है।

श्रीमती सुभद्रादेवी धर्म-पत्नी स्व० मतवालाशाह महाजन ने मन्दिर के लिए भूमि प्रदान की। समाज का

अब बड़ा सुन्दर मन्दिर बन गया है। पं० बृजलाल हैडक्लर्क और ला० केवलकृष्ण डवीयनल फ़ारैस्ट अफ़सर समाज का कार्य उत्साह से करते रहे हैं।

समाज के आधीन एक पुस्तकालय चल रहा है। समाज की कुल सम्पत्ति तीन हज़ार के लगभग है।

२८. एबटाबाद

२९. ओकाड़ा (मिएटगुमरी)

३०. कंजरूर (गुरुदासपुर)

३१. कठूआ (जम्मूँ)

पहले-पहल चौ० रामभजदत्त यहाँ सं० १९६७ में प्रचारार्थ पधारे और उन्होंने यहाँ आर्यसमाज का अंकुर बोया। उन्होंने शुद्धि का कार्य भी यहाँ ख़ूब किया। ला० देवीदित्तामल रीटायर्ड तहसीलदार भी समाज का कार्य ख़ूब लग्न से करते रहे। चौ० संसारसिंह के भूमिदान तथा ला० मदनगोपालशाह के अर्थ-दान से सं० १९८८ में यहाँ समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। इस इलाक़े में प्रचार और शास्त्रार्थों के अतिरिक्त शुद्धि और दलितोद्धार का कार्य ख़ूब होता रहा है। अब तक लगभग पांच हज़ार व्यक्तियों की शुद्धि हो चुकी है। सं० १९८४ में दलित जातियों के लिए एक पाठशाला खोली गई जो अब तक कार्य कर रही है। शहीद म० रामचन्द्र यहाँ तहसील में ख़ज़ानची का काम करते रहे हैं। वे यहाँ समाज का काम ख़ूब लग्न से करते थे। समाज के आधीन इस समय एक स्त्री-समाज कार्य कर रहा है। सं० १९७८ में ला० नत्थूमल लीडर

ने अपने व्यय से एक कन्या पाठशाला की स्थापना की थी जो इस समय राज्य के प्रबन्धाधीन कार्य कर रही है।

समाज के कार्य के लिए आर्य लोगों को बड़े-बड़े कष्ट सहन करने पड़े हैं। श्रावण १९९० में समाज के प्रधान ला० बिशनदास को वहाँ के वज़ीरवज़ारत ने धारा १०८ के आधीन बहिष्कृत कर दिया। स्थानिक आर्यों और आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब के प्रबल प्रयत्न करने पर वज़ीरवज़ारत को अपनी आज्ञा वापस लेनी पड़ी और स्वयं भी तनज़ल होना पड़ा।

३२. कड़ियांवाला (गुजरात)

३३. कपूर्थला

महात्मा मुन्शीराम तथा कई एक अन्य सज्जनों के उद्योग से सन् १८९४ में यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई। पहले-पहल समाज की कार्यवाही ला० अमरनाथ सरना की दुकान पर होती रही। शहर का कोतवाल लाला जी को डांटता रहता था और कहता था कि यदि इस प्रचार-कार्य से न हटोगे तो कारावास जाना पड़ेगा। पश्चात् सुलतानपुर के समीप एक मकान किराए पर ले लिया गया और साप्ताहिक सत्संग वहाँ लगते रहे। १९१० में आर्य समाज के मन्दिर का निर्माण हुआ। श्री महात्मा मुन्शीराम ने १९२५ में यहाँ सैंकड़ों हरिजनों की शुद्धि की।

यहाँ की दो घटनाएँ उल्लेखनीय हैं। प्रथम तो इस प्रकार है। १९०१ में ला० अमरनाथ सरना की माता का देहान्त हो गया। उन्होंने दाह संस्कार वैदिक रीति से करने

की घोषणा कर दी। इस समाचार को सुनते ही नगर में हलचल मच गई। लाला जी के घर पोलीस आ गई और कहा—यदि आप ने दाह संस्कार वैदिक रीति से किया तो आप को आयु-भर कारागार में रहना पड़ेगा। यह समाचार जलन्धर, लुधियाना आदि नगरों में भी आन की आन में पहुँच गया। महात्मा मुन्शीराम तथा कई एक अन्य आर्य सज्जन सायं चार बजे वहाँ पहुँच गए। अर्थी उठाई गई और बाज़ार में लाई गई। कोतवाल ने अर्थी को रोक लिया। महात्मा जी ने झट कहा—आप ने किस विधान से अर्थी को रोका है, क्या आपको यह पता नहीं है कि अर्थी का रोकना अपराध है। यह सुन कर कोतवाल पीछे हट गया। इतने में ही बाज़ार से लेकर श्मशान भूमि तक पोलीस को खड़ा कर दिया गया। अर्थी के श्मशान में पहुँचने के समय वहाँ पोलीस और पलटन का विशेष प्रबन्ध था। रियासत के सब एहलकार लोग हाथियों पर चढ़ कर वहाँ आए। दर्शक लोग वहाँ सहस्रों की संख्या में उपस्थित थे। दाह संस्कार हो गया। संस्कार हो चुकने के अनन्तर पौराणिकों ने आर्यों का बायकाट कर दिया। आर्यों के लिये खान-पान का सामान मास दो मास तक जलन्धर से आता रहा।

दूसरी घटना इस भान्ति है। ला० बूटामल सराफ़ की माता का देहान्त हो गया। लाला जी उस समय घर न थे। बिरादरी के लोगों ने इकट्ठे हो कर उन की माता का दाह संस्कार पौराणिक रीति से कर दिया। जब लाला जी घर लौटे तो उन्हें उपर्युक्त समाचार जान कर बड़ा खेद हुआ।

उन्होंने राख इकट्ठी कर ली और आर्य लोगों को बुला कर इस राख पर ही वैदिक रीति से दाह संस्कार की क्रिया की।

३४. कबीरवाला (मुलतान)

यहाँ प्रारम्भ में पौराणिक लोग आर्य समाज का बड़ा विरोध करते रहे हैं। प्रचारकों के लिए कोई स्थान ही न मिलता था। जुलाई १९३४ में सभा के उपदेशक पं० मुनीश्वर-देव पधारे। दो दिन बाज़ार में प्रचार होता रहा। व्याख्यान के अवसर पर पौराणिकों ने ईंटें और रोड़े फेंके और बहुत-सा क्षोभ उत्पन्न कर के व्याख्यान न होने दिया। परन्तु उस विरोध से आर्य विचार रखने वाले लोगों का और अधिक उत्साह बढ़ा और उन्होंने आर्य समाज खानेवाल से सहायता की प्रार्थना की जिसके तेरह चौदह अधिकारी पं० हंसराज को साथ लेकर दो दिन संकीर्तन और व्याख्यानों द्वारा बड़ा प्रचार करते रहे। पौराणिकों ने हिन्दु टांगे वालों को खानेवाल के आर्यों को लाने के लिए रोक दिया। ढोलक बजाने वाले मुसलमान तक को रोक दिया गया। इस प्रकार के कई कष्ट आर्यों को दिये गए। परन्तु आर्यों का उत्साह बढ़ता ही गया।

२१ श्रावण १९९१ तदनुसार ५ अगस्त १९३४ को आर्य समाज खानेवाल के सहयोग से एक किराये के मकान में पं० ज्ञानचन्द्र बी० ए० (नेशनल) के करकमलों द्वारा समाज की स्थापना हुई। उधर पौराणिकों ने हर्ष शोक के समय पर आर्यों का बायकाट कर दिया। पौराणिकों ने अपने उपदेशक मंगवा कर आर्य समाज के विरुद्ध ग़लत-फ़हमी फैलाई।

आर्य समाज का प्रथम वार्षिक उत्सव सितम्बर १९३५ में मनाया गया। खानेवाल, सिरायसिद्धू और मियाँचन्नूँ की आर्य समाजों ने हर प्रकार की सहायता की। पौराणिकों के घोर विरोध करने पर भी यह उत्सव सफल रहा। उत्सव की और भी अधिक सफलता इस बात से हुई कि कबीरवाला तहसील के अन्तर्गत बलावलपुर नामक ग्राम के भायाना जाति के लोग इस उत्सव से बड़े प्रभावित हुए। ये लोग सिक्ख धर्म के अनुयायी और हिन्दुओं के गुरु माने जाते हैं। वे लोग गंडे तावीज़ आदि देकर हज़ारों रुपया इकट्ठा करते थे। इस गुरुडम को तिलाञ्जली देते हुए वे वैदिक धर्म के प्रेमी बन गए। आर्य समाज कबीरवाला के सहयोग से प्रथम मार्च १९३६ को बलावपुर में भी आर्य समाज की स्थापना हो गई।

आर्य समाज कबीरवाला के ३१ सदस्य हैं। आपस में उनका बड़ा प्रेम है। म० दरबारीराम और चौ० पोखरदास समाज के स्तम्भ हो गए हैं।

३५. कमरमशानी (मुलतान)

३६. कमालिया (लायलपुर)

यहाँ आर्यसमाज की स्थापना दिसम्बर १८९० को हुई थी। आर्य प्रतिनिधि सभा के उपदेशक पं० लालमन तथा पं० चिरञ्जीलाल यहाँ प्रचारार्थ पधारे। प्रचार कार्य के साथ शास्त्रार्थ भी यहाँ होते रहे हैं। प्रणामियों के साथ एक शास्त्रार्थ सभा के उपदेशक पं० पूर्णानन्द और दूसरा सभा के उपदेशक पं० आत्माराम ने किया। सभा के महो-

पदेशक पं० लोकनाथ तथा पं० द्रौपदी ने सनातनियों के साथ एक शास्त्रार्थ "क्या पुरुषों की भान्ति स्त्रियों को भी यज्ञोपवीत पहनने का अधिकार है?" विषय पर किया। यह शास्त्रार्थ चार दिन होता रहा। इस शास्त्रार्थ का आर्य समाज के पक्ष में इतना उत्तम प्रभाव रहा कि ३५० आर्य तथा सनातनी देवियों ने मिल कर यज्ञोपवीत संस्कार कराया। समाज की ओर से वैदिक संस्कार यहाँ होते रहते हैं। म० नत्थूराम अरोड़ा ने अपनी पुत्री श्रीमती पार्वतीदेवी का जात-पात तोड़ कर पं० भूमानन्द ब्राह्मण से विवाह किया। इस समाज का कार्य करने के लिए बड़े-बड़े आदमी मिलते रहे हैं। मास्टर गुरदित्ताराम वकील, मास्टर लक्ष्मणदास, म० शादीराम, महा० गोकुलचन्द, मेहता जैमिनी, डा० केशवदेव शास्त्री, डा० सत्यपाल, म० बुलाकी-चन्द, मुंशी मोहरीराम, म० सुखदयाल, म० यशवन्त आर्य सेवक, म० शिवनाथराय, म० कर्मचन्द इत्यादि महानुभावों ने समाज का कार्य बड़े उत्साह से किया है।

समाज की निम्न संस्थाएँ चल रही हैं:—

(क) गुरुकुल कमालिया। सं० १९८४ में स्थापित हुआ।

(ख) डी० ए० वी० स्कूल। गत तीन वर्षों से स्थापित है।

(ग) आर्य कुमार सभा।

(घ) कन्या पाठशाला। इस पाठशाला की स्थापना १६ जुलाई १८९६ को पांच कन्याओं से हुई थी। १९१० में इसको प्राइमरी से मिडिल दरजे तक कर दिया गया। १९३३

से हिन्दी भूषण परीक्षा की शिक्षा का भी प्रबन्ध कर दिया गया है। पाठशाला भवन की आधारशिला कन्या महाविद्यालय के संस्थापक ला० देवराज ने १६१२ में रखी। शाला के भवन पर ३०,०००) व्यय हुआ। इसमें ११,०००) की सहायता तो सरकार की ओर से मिली। १६००) वार्षिक सहायता के रूप में सरकार से प्राप्त होता है। ११,०००) शाला के स्थिर कोष में जमा है।

बाबा रामकृष्ण ने १०,०००) की लागत की भूमि तथा एक मकान आर्यसमाज को दान दिया। आर्य समाज अपने किये वचनानुसार १५) मासिक उनकी धर्मपत्नी को देता है। ट्रस्ट बाबा जेसाराम ने पचास वर्ष के लिए कुछ भूमि समाज को दान दी है जिस पर कि मन्दिर बना हुआ है। इस दान में यह शर्त की गई थी कि बाबा जी की भूमि में जो कुआँ है उस पर गर्मियों के दिनों में छबील जारी रहे। आर्यसमाज उपर्युक्त दोनों दानों की प्रतिज्ञाओं को पूरा कर रहा है। समाज मन्दिर ४०००) के लगभग की लागत का है। ४०,०००) की लागत का पाठशाला भवन है।

३७. करनाल

श्री स्वामी आत्मानन्द के उपदेश से यहाँ ७ अक्तूबर १८८३ को आर्य समाज की स्थापना हुई। राय नारायणदास एम० ए०, अफ़सर ख़ज़ाना तथा राय गोपालदास सब डवीयनल आफ़ीसर के पुरुषार्थ से तीन वर्ष पर्यन्त आर्य समाज का कार्य अच्छी तरह चलता रहा। बन्दोबस्त के

समाप्त हो जाने पर और पंजाबी एहलकारों के तब्दील हो जाने पर १८८६ में यह समाज बन्द हो गया। पुनः डा० सीताराम तथा मुंशी कर्त्ताराम के प्रयत्न से १० अगस्त १८६० को आर्य समाज स्थापित हुआ। १८६१ में १२००) की लागत से समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। १६२८ में इस समाज मन्दिर को अपर्याप्त समझ कर २५,०००) की लागत से एक और विशाल मन्दिर बनाया गया। १८६२ में आर्यसमाज का प्रथम वार्षिक उत्सव मनाया गया इस उत्सव पर समाज का बड़ा विरोध हुआ। परन्तु राय केदारनाथ, एम० ए०, डिस्ट्रिक्ट जज के पुरुषार्थ से यह उत्सव सफल रहा। इसी वर्ष यहाँ पं० गौरीदत्त तथा मा० दुर्गाप्रसाद ने सनातनियों के साथ शास्त्रार्थ किया दूसरा शास्त्रार्थ पं० अखिलानन्द ने सनातनियों के साथ किया। आर्य समाज ने जन्तरी और डायरैक्टरी का सिलसिला बा० बनवारीलाल तथा बा० किशनस्वरूप के सम्पादकत्व में १८६६ में जारी किया। यह सिलसिला १६१३ तक चलता रहा। तदनन्तर जब मा० लक्ष्मण ने यह कार्य करना प्रारम्भ किया तो समाज ने यह काम बन्द कर दिया। १६०४ में समाज के वार्षिकोत्सव पर यहाँ एक आर्य प्रतिनिधि उपसभा की स्थापना की गई। इसने करनाल, देहली, रोहतक और अम्बाला के ज़िलों तथा रियासत पटियाला में ख़ूब प्रचार किया। इस भान्ति अनेक प्रकार के कार्यों को करते हुए सभा ने अनाथ रक्षा और शुद्धि के कार्य को ख़ूब किया है। गत ४५ वर्षों में समाज ने २४ अनाथों को

भिन्न-भिन्न आश्रमों में भेजा है। ४२ मुसलमानों, १५ ईसाइयों और ७५ अन्य भिन्न-भिन्न जातियों के व्यक्तियों को शुद्ध किया गया है। एक ईसाई परिवार की शुद्धि पर नगर के हिन्दुओं ने बड़ा विरोध किया और नगर के २७ आर्यसमाजी कुलों का बहिष्कार कर दिया। विरोध शनैः-शनैः समय पा कर शान्त हो गया। इस शुद्ध हुए कुल में एक विधवा, ४ कन्याएँ, और एक बालक थे। कन्याओं का विवाह माननीय पुरुषों के साथ किया गया और बालक के पठन का प्रबन्ध कर दिया गया। १९३० में ला० महावीरप्रसाद की धर्मपत्नी की स्मृति में श्मशान भूमि में एक वेदी तथा सरदरी सर्व साधारण के लिए बनाई गई। इस समय आर्य समाज के ३६ सदस्य तथा २५ सहायक हैं। आर्यसमाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं।

(क) पुस्तकालय तथा वाचनालय। इस पुस्तकालय में वेद, वेदांग, स्मृति आदि ग्रन्थ ६०० की संख्या में विद्यमान है। पहले मा० धर्ममित्र प्रति आदित्यवार नगर के पठित जनों में स्वाध्यायार्थ पुस्तकें वितरण किया करते थे। वे पहले सप्ताह दी हुई पुस्तकों को अगले सप्ताह वापिस ले कर नई पुस्तकें वितरण किया करते थे। उनके तब्दील हो जाने पर यह सिलसिला बन्द हो गया। १९२९ से एक वाचनालय भी खुल गया है। यह प्रातः से रात्रि के नौ बजे तक सर्वसाधारण के लिए खुला रहता है।

(ख) आर्य युवक सभा। यह सभा १९३२ से स्थापित है। इसके आधीन एक स्वयं-सेवक दल भी काम करता है।

यह दल उत्सवों और मेलों पर जनता की सेवा करता है। सभा के ३५ सदस्य हैं।

(ग) आर्य स्त्री समाज।

(घ) आर्य कन्या पाठशाला।

आर्यसमाज की ४६,०००) की लागत की ग़ैर-मनक़ूला तथा २६१७) की मनक़ूला जायदाद है।

३८. करियाला (जेहलम)

३९. करोड़ (मुजफ्फ़रगढ़)

४०. करोड़पक्का (मुलतान)

४१. कर्तारपुर (जलन्धर)

श्री महा० मुंशीराम और पं० लेखराम के पुरुषार्थ से यहाँ सन् १८९४ में आर्य समाज की स्थापना हुई। जब पं० लेखराम उपदेश दे रहे थे तो पौराणिकों ने उन पर पत्थर फेंके। इस पर पण्डित जी ने अपनी पगड़ी उतार कर कहा—मुझे ये पत्थर खाने में बड़ा आनन्द आ रहा है। ऐसा भी समय आयगा जब कि मेरे मिशन के प्रचारकों पर लोग पुष्प बरसायँगे। इस उपदेश के अनन्तर यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई।

कर्तारपुर दण्डी विरजानन्द की जन्म-भूमि है। दण्डी जी की स्मृति को क़ायम रखने के लिए वसन्त के दिनों में यहाँ एक मेला लगता है।

समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ कार्य कर रही हैं।

(क) पुत्री पाठशाला। ला० रलाराम जी इसका प्रबन्ध सुचारु रूप से कर रहे हैं।

(ख) श्री विरजानन्द पुस्तकालय। म० तीर्थराम आर्य सेवक इस को चला रहे हैं।

(ग) विद्यार्थी आश्रम।

(घ) आर्य युवक समाज।

(ङ) आर्य वीर दल।

४२. कलियांवाला (गुजरांवाला)

ला० लधाराम और ला० अमरनाथ के पुरुषार्थ से यहाँ आर्य समाज का कार्य हो रहा है। ४०००) की लागत का समाज मन्दिर है।

४३. कसूर (लाहौर)

यहाँ सन् १८७२ में पहले-पहल एक महानुभाव पधारे और तीन दिन व्याख्यान दे कर आर्य विचारों का अंकुर बो गए। पश्चात् ला० सुन्दरदास आर्य समाज के काम को बड़ी लग्न से करने लगे। उन्हों ने एक बैठक किराये पर ले कर उस में सत्संग लगाने आरम्भ कर दिये। लगभग १८८० में यहाँ समाज का वार्षिक उत्सव भी मनाया गया। बा० उमादत्त, सब एजण्ट, राली ब्रादर्स, जो गुरुकुल कांगड़ी में बहुत समय तक सेवा करते रहे हैं, आर्य समाज कसूर के बड़े उत्साही कार्यकर्त्ता रह चुके हैं। उन्हीं के प्रयत्न से समाज मन्दिर भी तय्यार हो गया। उस समय सभासदों की संख्या अस्सी नव्वे के लगभग थी। उनके चले जाने पर समाज में कुछ शिथिलता-सी आ गई।

इस समाज की दो घटनाएँ उल्लेखनीय हैं। प्रथम इस प्रकार है। १८८५-८६ के लगभग पं० लेखराम जी यहाँ प्रचा-

रार्थ पधारे। उन्हों ने "वेद इलहामी है अथवा कुरान" विषय पर भाषण दिया। व्याख्यान की समाप्ति पर मुसलमानों ने दो दिन और ठहर कर इसी विषय पर व्याख्यान देने के लिए आग्रह किया। पण्डित जी ने जिज्ञासुओं की प्रार्थना स्वीकार कर ली। इन व्याख्यानों का मुसलमानों ने ही प्रबन्ध किया।

दूसरी घटना निम्न प्रकार से है। १९१०-११ के लगभग पं० धर्मभिक्षु यहाँ प्रचारार्थ पधारे। उन्होंने एक दिन तो व्याख्यान समाज मन्दिर में दिया। दूसरे दिन मुसलमानों ने पोलीस को शिकायत की कि यदि पण्डित जी के और व्याख्यान हुए तो शहर में फ़साद हो जाने का डर है। फलतः पोलीस ने ज़िम्मेवार आर्य समाजियों को बुला कर भर्त्सना की कि यदि तुम ने पण्डित जी का व्याख्यान करवाया तो शहर में शान्ति भंग हो जाने का भय है। अतः आर्य समाजियों ने पण्डित जी को समाज मन्दिर में व्याख्यान देने से रोक दिया। परन्तु दूसरे दिन कुछ नवयुवकों के प्रोत्साहना देने पर पण्डित जी ने समाज मन्दिर में ही व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दिया। इस दृश्य को देख कर आर्य सदस्यों ने पण्डित जी को बीच में ही समाज मन्दिर में व्याख्यान देने से रोक दिया। इस पर पण्डित जी मन्दिर से बाहर ही खड़े हो कर व्याख्यान देने लग पड़े। उन्होंने इस्लाम का इतना खण्डन किया कि हिन्दु और मुसलमानों ने शान्ति-भंग के भय से दुकानें बन्द कर लीं। परन्तु किसी प्रकार की अशान्ति न हुई।

४४. कसौली (शिमला)
४५. कहूला (मिन्टगुमरी)
४६. कांगड़ा
४७. क़ादियां (गुरुदासपुर)
४८. क़ादिराबाद (गुजरात)
४९. कामोकी (गुजरांवाला)
५०. कालका (अम्बाला)
५१. कालाबाग़ (मियाँवाली)

यहाँ म० देवीदयाल, ला० मिलखीराम, मलक जसवन्तराय, बा० तुलसीदास, मलक मुकुन्दलाल, ला० रेमलदास आदि महानुभावों के प्रयत्न से आज से सतरह अठारह वर्ष पूर्व आर्य समाज की स्थापना हुई थी। समाज मन्दिर के लिए भूमि ख़रीद ली गई। मन्दिर-निर्माण में रेलवे के अफ़सरों ने बड़ा विरोध किया। विरोध होने पर भी ला० लखाराम के पुरुषार्थ से मन्दिर का नक़शा स्वीकार हो गया और समाज मन्दिर बन गया। साप्ताहिक सत्संग लगने लगे। सत्संगों में सौ डेढ़ सौ की उपस्थिति होने लग पड़ी। स्थापना के तीन-चार वर्ष पश्चात् ही समाज का वार्षिक उत्सव भी मनाया गया। ला० लखीराम अपने उपदेशों तथा भजनों द्वारा समाज की सेवा करते रहे। कैम्प और रेलवे के दफ़्तर यहाँ से चले जाने पर समाज की अवस्था कुछ शिथिल-सी पड़ गई। परन्तु ला० चाँदीराम जी ने अनेक आपत्तियों को झेलते हुए भी समाज का प्रचार जारी

रखा। कुछ समय के अनन्तर माड़ी और कालाबाग़ के मध्य सिन्धु नदी पर जब पुल बाँधा गया तो यहाँ कार्यार्थ कई सज्जन पधारे। इन नवागत सज्जनों में बा० सुन्दरदास खोसला तथा ला० मनीलाल आदि महानुभावों ने समाज की अवस्था को उन्नत करने में भरसक पुरुषार्थ किया। १६३३ में बा० गिरिधारीलाल तथा कई अन्य सज्जनों के प्रयत्न से समाज की अवस्था और भी उज्ज्वल हो गई। एक हिन्दी पुत्री पाठशाला भी एक वर्ष पर्यन्त चलती रही।

५२. कालांवाली (हिसार)

यहाँ श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज के प्रचार तथा स० अजीतसिंह के आन्दोलन से १९३२ में आर्य समाज की स्थापना हुई। ला० रामजीदास तथा ला० काहनचन्द के पुरुषार्थ तथा दान से समाज मन्दिर भी तय्यार हो गया। पं० लक्ष्मीनारायण भी समाज के उत्साही कार्यकर्त्ता हैं। समाज की सम्पत्ति में समाज मन्दिर १०००) की लागत का है।

५३. कालेकी (गुजरांवाला)

५४. काहनौर (रोहतक)

५५. काह्नानौ (लाहौर)

बीस वर्ष का समय हो चुका है कि यहाँ पं० कृष्ण उपदेशक वर्त्तमान स्वा० धीरानन्द ने खूब प्रचार किया। उन्होंने यहाँ एक कन्या पाठशाला की स्थापना की। श्रीमती परमेश्वरीदेवी धर्मपत्नी श्री बूआदित्तामल बीस वर्ष पर्यन्त अवैतनिक रूप से इस शाला में कार्य करती

रहीं। गत दस वर्षों से आर्य समाज स्थापित हो चुका है। श्री बूआदित्तामल समाज के उत्साही कार्यकर्त्ता हैं।

श्री स्वामी धीरानन्द जी महाराज का कार्यक्षेत्र बड़ा विस्तृत रहा है। उन्हों ने लाहौर, अमृतसर तथा गुरुदासपुर के ज़िलों में ६ आर्यसमाजें और ६ कन्या पाठशालाएँ स्थापित की हैं। वे शुद्धि और विधवा विवाह—इन आन्दोलनों में विशेष उत्साह से कार्य करते रहे हैं। उन्होंने कुछेक पंजाबी भजन पुस्तकों की रचना की है। वे आज कल आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के आधीन अवैतनिक उपदेशक के रूप में कार्य कर रहे हैं।

५६. क़िला दीदारसिंह (गुजरांवाला)

५७. क़िला सोभासिंह (सियालकोट)

यहाँ आर्य समाज की स्थापना सन् १८६७ में हुई। मेघोद्धार सभा के उपदेशक पं० दीवानचन्द ने सन् १६१६ में समाज में नये जीवन का संचार किया। उस समय म० अमरनाथ सेठ, म० हंसराज महाजन, म० अरूढ़चंद जेस्तीवाला निवासी तथा म० अमरनाथ तुली समाज के उत्साही कार्यकर्त्ता थे। इन सज्जनों के पुरुषार्थ से समाज का उत्सव भी बड़े समारोह से हुआ। १६२६ में समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। ला० गंगाबिशन प्रत्येक उत्सव पर ऋषि लंगर का प्रबन्ध करके समाज की सेवा करते हैं।

इस आर्य समाज के सम्बन्ध में निम्न घटना उल्लखनीय है। १६२४ में आर्यसमाज के वार्षिक उत्सव पर उत्सव के विज्ञापन लगाए गए। इन्हीं दिनों कोहाट का दंगा हुआ

था। शहर में मुसलमानों ने प्रसिद्ध कर दिया कि आर्य लोग उत्सव पर उन्हें लूटना चाहते हैं। उन्होंने इस बात की थाने में भी सूचना कर दी। थानेदार ने आर्यों को बुलाया और मुसलमानों की शिकायत का वर्णन किया। उसके कहने का तात्पर्य यह था कि नगर-कीर्त्तन बन्द कर दिया जाय और उत्सव में मुसलमानों के विरुद्ध कुछ न कहा जाय। आर्यों ने बड़ी वीरता और गम्भीरता से उत्तर दिया कि उत्सव पर व्याख्यान देने वाले उपदेशक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से आयेंगे। वे उपदेशकों को प्रार्थना कर देंगे कि वे मुसलमानों के विरुद्ध कुछ न कहें परन्तु यदि वे कुछ ऐसा कह दें तो उसके लिए वे गारएटी देने को तय्यार नहीं। पुनः थानेदार ने पूछा कि मुसलमानों को कैसे आश्वासन मिले। इस पर प्रधान महाशय ने कहा कि आप अपने महकमा की नियम-पूर्वक कार्यवाही करें। यदि आप उत्सव को बन्द करा सकते हैं तो बन्द करा दें। फलतः वहाँ एक योरोपियन पोलीस इन्स्पैक्टर पधारे और आर्यों तथा मुसलमानों से वार्त्तालाप करके लौट गए। उन्होंने पोलीस की एक गार्द भेज दी। उत्सव शान्ति से हो गया।

५८. किश्तवाड़ (जम्मूँ)

५६. कुंजाह (गुजरात)

६०. कुन्दियाँ (मियाँवाली)

६१. कुलाची (डेरा इस्माईलखाँ)

६२. कुल्लू (कांगड़ा)

६३. कैथल (करनाल)

यहाँ पहले-पहल सभा के उपदेशक श्री पं० आत्माराम तथा स्थानिक स्वा० भास्करानंद ने आर्य समाज का प्रचार किया, इसके फल स्वरूप सन् १८६७ में गोशाला की स्थापना हुई। पुनः १८६६ में आर्य समाज की स्थापना भी हो गई। १६०५ में समाज मन्दिर का भी निर्माण हो गया। समाज प्रचार, शास्त्रार्थ तथा अछूतोद्धार का कार्य सुचारु रीति से करता रहा है। स्वा० योगेन्द्रपाल ने १६०६ में पौराणिकों के साथ शास्त्रार्थ किया। समाज ने १६१२ में एक दलितोद्धार पाठशाला खोली जो कुछ समय तक चल कर बन्द हो गई। १६२२-२३ में ईसाइयों ने अपना प्रचार शुरू किया और एक दलित जातियों के लिए पाठशाला खोली। यह देख समाज ने भी अपनी पहली दलितोद्धार पाठशाला को पुनरुज्जीवित किया। आजकल यह ला० निरञ्जननाथ बैंकर के व्यय से चल रही है।

१६३१ की जन-गणना में ईसाई मिशनरियों ने २०० हरिजन व्यक्तियों को ईसाई लिखवा दिया। आर्य समाज ने प्रयत्न करके इनको वाल्मीकियों में लिखवाया। अब तक समाज ६० व्यक्तियों को शुद्ध करके वैदिक धर्म में प्रविष्ट करवा चुका है। १६१२ में श्री नानकचन्द नामक ईसाई मिशनरी की शुद्धि की गई। शुद्ध होने के अनन्तर उन्होंने आयु-भर समाज की सेवा की।

१६१७ में समाज ने ग्राम-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया और प्रचारार्थ एक भजन मण्डली की नियुक्ति की।

स्वा० दर्शनानंद, पं० गणपति शर्म्मा, पं० मुरारीलाल, स्वा० सर्वदानंद, स्वा० सत्यानंद. स्वा० अनुभवानद आदि महानुभाव समय-समय पर यहाँ पधार कर प्रचार करते रहे हैं। समाज प्रारम्भ से ही सम्यक् रीति से चलता आ रहा है। इस समय ३५ सभासद हैं। समाज के आधीन १९११ से आर्य कुमार सभा कार्य करती आ रही है।

६४. कैमलपुर

यहाँ १९०६ में आर्य समाज की स्थापना हुई थी। बा० नत्थूराम, ला० ढेराशाह तथा बा० इच्छुरूराम उस समय के उत्साही कार्यकर्त्ता हो चुके हैं। पं० देवीदास वकील तथा पं० मुनीश्वर हैडमास्टर भी समाज का कार्य बड़ी लग्न से करते रहे हैं। समाज का मन्दिर बड़ा सुन्दर बन चुका है। समाज के आधीन १९१२ में एक कन्या पाठशाला की स्थापना हुई थी।

६५. कोककलां (रोहतक)

यहाँ पं० सरदारीलाल जी प्रबन्धक, गुरुकुल सिकन्दराबाद के पुरुषार्थ से आर्य समाज की स्थापना २४ फ़रवरी १९१७ को हुई थी। १९२० में आर्य समाज का वार्षिक उत्सव मनाया गया। प्रचार के साथ-साथ समाज शास्त्रार्थों का प्रबन्ध भी करता रहा है। १९२२ में वार्षिकोत्सव के अवसर पर आर्य समाज का पौराणिकों के साथ 'वर्ण-व्यवस्था' पर शास्त्रार्थ हुआ।

६६. कोट अद्दू (मुज़फ़्फ़रगढ़)

यहाँ आर्य समाज की स्थापना तो १६०० से पूर्व की हो चुकी है। पं० बिहारीलाल तहसीलदार इस समाज के पुरुषार्थी व्यक्ति हो गुज़रे हैं। पं० गंगाराम ने उस इलाक़े में .खूब प्रचार किया है। ला० सुखरामदास भी समाज का काम लग्न से करते रहे हैं। समाज के आधीन एक शिल्प विद्यालय खुला हुआ है।

६७. कोटकपूरा (फ़रीदकोट)

यहाँ म० दुर्गादास के पुरुषार्थ से प्रथम श्रावण १९८२ को आर्य समाज का प्रचार प्रारम्भ हुआ। ३५००) की लागत से समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। बा० जयरामदास ने इस समाज के द्वारा सभा को चार हज़ार की लागत का मकान दान दिया। सम्पत्ति की दृष्टि से आर्य समाज की दस हज़ार की जायदाद है। समाज के चालीस से ऊपर सदस्य हैं। स्थापना से ले कर आज तक समाज के साप्ताहिक सत्संग नियमपूर्वक लगते चले आते हैं। अब तक समाज की ओर से चार शुद्धियाँ और छः विधवा-विवाह हुए हैं। सर्वश्री किशनलाल, दुर्गादास, तुलसीराम और केहरसिंह समाज के विशेष कार्यकर्त्ता हैं। इस के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं।

(क) आर्य पुत्री पाठशाला। इस में १२५ कन्याएँ शिक्षा ग्रहण कर रही हैं।

(ख) विरजानन्द पुस्तकालय। इस में छः सौ के लगभग हिन्दी और उर्दू की पुस्तकें हैं।

(ग) श्रद्धानन्द वाचनालय ।

६८. कोटख़लीफ़ा (बहावलपुर)

६९. कोसली (रोहतक)

७०. कोटछुट्टा (डेरागाज़ीखाँ)

यहाँ आर्य समाज की स्थापना का विचित्र इतिहास है। इस इलाक़े के अधिकतर लोग रूढ़ियों के अनुयायी हैं। एक दिन की बात है कि यहाँ समाचार फैल गया कि डेरागाज़ीखाँ में समाजी आ गए हैं। वहाँ के मिश्र लोग उन से परास्त हो कर भाग गए हैं। अब लोग यह सोचने लगे कि आर्य समाजी कौन होते हैं? उन की क्या आकृति होती है? वे क्या कार्य करते है? वे क्या खाते हैं? कई लोग कहने लगे कि आर्य समाजी हैं तो मनुष्य ही परन्तु उन के सिर पर बड़े-बड़े सींग होते हैं। वे मांस नहीं खाते और मिश्रों के साथ लड़ते हैं। परन्तु कई लोग कहते थे कि वे बड़े विद्वान् और तीव्र बुद्धि होते हैं। इस प्रकार लोग बातें करते थे। उन्हें समाजी लोगों को देखने की इच्छा उत्पन्न हुई।

१८९६ की बात है कि एक दिन चौ० नेभराज पं० गिरिधारीलाल को साथ ले कर आर्य समाज के प्रचार के लिए चौ० झांगीराम के मकान पर आए। नगर में यह बात फैल गई कि चौ० नेभराज यहाँ एक समाजी को ले आया है। पण्डित जी का व्याख्यान हुआ। लोग व्याख्यान सुनने के लिए आए। कई तो द्वार झाँक कर ही चले गए। वे आपस में बातें करते कि इन के सिर पर सींग तो नहीं

हैं। समाज की स्थापना के सम्बन्ध में दो मत हमारे सामने उपस्थित हैं। प्रथम तो यह है कि पं० गिरिधारीलाल के व्याख्यान के अनन्तर समाज स्थापित हुआ। द्वितीय मत यह है कि समाज १८९० में ही स्थापित हो चुका था।

यहाँ प्रचार और शास्त्रार्थ होते रहे। उत्सव के अवसर पर प्रचारकों पर पत्थर भी फेंके गए। कुछ काल तक एक कन्या पाठशाला और एक बालकों का स्कूल चलता रहा। म० मूलचन्द बड़ी लग्न वाले समाज के मन्त्री रहे हैं। २५ वर्ष पर्यन्त उन्होंने इलाके-भर में .खूब प्रचार किया है। चौ० पुन्नूराम रईस-ई-आज़िम ने भी समाज को उन्नत करने में भरसक प्रयत्न किया है। समाज के आधीन पुस्तकालय तथा वाचनालय चल रहा है। इस समय समाज के ३३ सदस्य हैं। १२ अन्य भर्ती किये गए हैं। समाज का अपना मन्दिर है जो ४०००) की लागत का है।

यहाँ समाज सम्बन्धी दो घटनाएँ उल्लेखनीय हैं। १९०६ में म० मंघूराम की धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। बिरादरी ने महाशय जी को कहा—लड़के को बुलाओ, सिर मुंडवाओ, तथा क्रिया-कर्म करो। महाशय जी ने उत्तर दिया—मैं आर्य समाजी हूँ, मैं संस्कार वैदिक रीति से करूँगा। बस क्या था, नगर में विरोध होने लगा। अवस्था यहाँ तक पहुँची कि अर्थी भी तीन आदमियों ने उठाई। संस्कार तो वैदिक रीति से हो गया। अब लोग परस्पर कहने लगे कि जलती हुई चिता के ऊपर चावल पका कर बांटे गए हैं। आर्य समाजियों ने घी, चावल और लम्बे-लम्बे कड़छे इसी

प्रयोजन के लिए तो हाथ में पकड़ हुए थे। इलायची और मिश्री भी वहाँ बाँटी गई है। लाश आधी जलाई गई है। कौए, कुत्ते और गीदड़ मुर्दे का सिर, पाओं और धड़ लिए फिरते थे। आर्य समाजियों का पूरा-पूरा बायकाट कर दिया गया।

दूसरी घटना इस प्रकार है। म० ख़ूबाराम ने जोकि एक विधुर थे एक विधवा के साथ विवाह कर लिया। इस पर बिरादरी न बड़ा विरोध किया। तदनन्तर म० मंघूराम के छोटे भाई का विवाह निश्चित हुआ। बिरादरी ने कहा कि यदि तुम बरात में म० ख़ूबाराम को साथ ले जाओगे तो हम साथ नहीं चलेंगे। महाशय जी ने बिरादरी की परवा न करते हुए बरात बनाने के लिए आर्य समाज महतम को लिख दिया। इस समाज से पर्याप्त सहायता मिल गई। विवाह वैदिक रीति से हो गया।

७१. कोटनिक्का (गुजरांवाला)

७२. कोटनैनां (गुरुदासपुर)

यहाँ सं० १९५३ में पं० मथुरादास आर्योपदेशक प्रचारार्थ पधारे। तदनन्तर स्वा० नित्यानन्द तथा सभा के उपदेशक पं० हरिश्चन्द्र ने यहाँ प्रचार किया और लोगों के दिल में आर्य समाज का काम करने का उत्साह उत्पन्न हुआ। बा० जगन्नाथ विद्यार्थी एम० ए० श्रेणी समाज का कार्य विशेष लग्न से करते थे। पुनः भाई परमानंद, पं० राजाराम शास्त्री तथा भाई मूलसिंह प्रचारार्थ पधारे और यहाँ आर्य समाज की स्थापना हो गई। समाज ने सं० १९६२

में वार्षिक उत्सव मनाया। इस उत्सव के अवसर पर पं० शुद्धसंकल्प के साथ प्रीति भोजन किया गया। पण्डित जी चालीस वर्ष तक मुसलमान और ईसाई रहने के अनंतर शुद्ध किये गए थे। इस पर पौराणिकों ने आर्य समाजियों का बायकाट कर दिया। पुनः जब ला० रामदित्ता की भगिनी का विवाह वैदिक रीति से हुआ तो पौराणिकों ने हलवाइयों तथा पाचकों तक को रोक दिया।

समाज की ओर से कई एक शास्त्रार्थ भी किये गए। सं० १९६६ में मौ० सनाउल्ला के साथ पं० दीनानाथ कंजरूड़ो ने शास्त्रार्थ किया। सं० १९७२ में पं० जगन्नाथ निरुक्तरत्न ने पौराणिकों के प० कालूराम शास्त्री से शास्त्रार्थ किया। समाज दलितोद्धार और शुद्धि का कार्य भी करता रहा है। सं० १९६८ में पं० रामभजदत्त के द्वारा सहस्रों डूमों की शुद्धि की गई। सं० १९९० में दो यवनों की शुद्धि की गई। इसी वर्ष समाज में एक युवक सभा की भी स्थापना कर दी गई।

७३. कोटबादलखाँ (जलन्धर)

७४. कोटमूलचन्द (झंग)

यहाँ आर्य समाज की स्थापना १ पौष १९८९ में हुई। समाज की स्थापना में चौ० रामचन्द्र सफ़ेदपोश का ही पुरुषार्थ कारण बना है। समाज के दस सदस्य हैं। तीन देवियाँ भी सदस्या हैं। साप्ताहिक सत्संग नियम-पूर्वक लगते हैं।

७५. कोटली (जम्मूँ)

७६. कोटली लोहाराँ (सियालकोट)

७७. कोसली (रोहतक)

यहाँ आर्य समाज पचपन वर्ष से स्थापित है। चौ० हरदेवबक्ष प्रारम्भिक काल के कार्यकर्त्ता रह चुके हैं। पं० बस्तीराम शर्म्मा आदि महानुभाव यहाँ प्रचारार्थ पधारते रहे हैं। प्रचार के अतिरिक्त समाज शास्त्रार्थ और शुद्धि भी करता रहा है। सन् १६०२ में पौराणिकों के साथ एक शास्त्रार्थ हुआ। एक नव मुस्लिम परिवार की शुद्धि की गई। १६२८ में कई एक ग्रामों के अस्पृश्य लोगों को शुद्ध किया गया। १६३१ में एक जन्म की मुसलान स्त्री को शुद्ध किया गया। सं० १६८४ में पुनः पौराणिकों के साथ शास्त्रार्थ हुआ। आर्य समाज की ओर से पं० उद्योगपाल थे।

७८. कोहरियाँ (लाहौर)

७९. कोहाट

८०. क्लासवाला (सियालकोट)

८१. क्वेटा (ब्रिटिश बलोचिस्तान)

यहाँ आर्य समाज की स्थापना सन् १८८४ में हुई। इस समाज की स्थापना में ला० गणेशदास रत्तड़ा, रिटायर्ड सुपरेन्टैण्डैण्ट पोलीस का विशेष प्रयत्न रहा है। पहले तो समाज की कार्यवाही एक किराये के मकान में होती थी। पश्चात् पं० हरिकृष्ण के प्रयत्न से सरकार से समाज मन्दिर तथा कन्या पाठशाला के भवन के लिए भूमि प्राप्त की गई। कन्या पाठशाला तो पं० हरिकृष्ण के नाम से ही चलने

लगी। समाज का बड़ा सुन्दर और विशाल मन्दिर निर्माण किया गया। समाज मन्दिर के साथ जायदाद भी थी जिस से २७५) मासिक के लगभग आय होती थी। समाज के पुराने कार्यकर्त्ताओं में स्वर्गीय ला० गणेशदास विग्ग, ला० लद्धाराम सचदेव, भक्त केशोदास, भक्त सोहनलाल इत्यादि महानुभावों के नाम उल्लेखनीय हैं। पं० भीष्मदेव विद्यालंकार समाज के कई साल तक मन्त्री रहे।

यह समाज धार्मिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट था। समाज के सभासद श्रद्धा तथा लग्न से काम करने वाले थे। साप्ताहिक सत्संगों में ढाई सौ के लगभग उपस्थिति होती थी। समाज में नित्य दोनों समय कथा होती थी। समाज सर्वदा ही पुरोहित रखता रहा है। डेढ़ सौ के लगभग समाज के सभासद थे। यह समाज गुरुकुल, वेद-प्रचार आदि निधियों को पुष्कल राशि प्रदान करता रहा। इस के आधीन एक उत्कृष्ट कन्या पाठशाला, एक पुस्तकालय और वाचनालय चलते रहे हैं। इस ने १९३४ के आरम्भ में अपना अर्द्ध-शताब्दी महोत्सव मनाया।

३१ मई १९३५ रात्रि के साढ़े तीन बजे एक प्रलयंकारी भूचाल के आने से कोइटा नगर नष्ट-भ्रष्ट हो गया। जहाँ नगर के सहस्रों व्यक्ति और बड़े-बड़े उच्च और सुन्दर भवन भूमिसात् हो गये वहाँ आर्य समाज का मन्दिर भी नष्ट हो गया। इस भूकम्प में समाज के कई एक सदस्य परलोक को सिधार गए। सभा के उपदेशक पं० भीमसेन जो भूकम्प से कुछ सप्ताह पहले, पं० यशःपाल सिद्धान्तालंकार जो वहाँ

६ वर्ष पर्यन्त पुरोहित रहे, के पंजाब आने पर वहाँ पुरोहित बन कर गए थे। इसी भान्ति सभा के एक दूसरे उपदेशक पं० इन्द्र विद्यालंकार इन्हीं दिनों वहाँ अवकाश व्यतीत करने गए थे। इन का ८ मई १६३५ को विवाह हुआ था। ये दोनों महानुभाव भूचाल के ग्रास हुए। इन के अतिरिक्त कई आर्य सदस्यों के काल के ग्रास हो जाने की कथा विस्तार-भय से नहीं दी जा सकती।

८२. खड़काकलाँ (अम्बाला)

८३. खन्ना (लुधियाना)

यहां आर्य समाज तो वैसे गत चालीस वर्षों से स्थापित है परंतु आठ वर्षों से इसका कार्य नियम से चलने लगा है। वर्त्तमान कार्यकर्त्ता ला० प्यारेलाल तथा म० रामनंद हैं।

८४. खरखौदा (रोहतक)

८५. खरड़ (अम्बाला)

८६. ख़लचियां (अमृतसर)

८७. ख़ानक़ाह डोगरा (शेख़ूपुरा)

८८. ख़ानकी (गुजरांवाला)

८६. ख़ानगढ़ (मुज़फ़्फ़रगढ़)

६०. ख़ानपुर (बहावलपुर)

६१. ख़ानेवाल (मुलतान)

६२. खानोवाल (गुरुदासपुर)

यहाँ प्रथम पौष १९९१ को समाज की स्थापना हुई। प्रारम्भ से ही पौराणिक लोग इसका विरोध करने लगे। १० फ़रवरी १९३५ को सभा के उपदेशक पं० मनसाराम का सनातन धर्म सभा रावलपिंडी के उपदेशक पं० रघुनाथ-प्रसाद से मूर्त्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ हुआ। म० शिवदयाल, ठा० तारासिंह तथा म० श्रद्धाराम समाज के पुरुषार्थी कार्यकर्त्ता हैं। समाज के सदस्यों की संख्या २५ है। सवा सौ रुपये के लगभग समाज की सम्पत्ति है।

९३. खारवन (अम्बाला)

९४. खिज़राबाद (अम्बाला)

९५. खुड्डियाँ (लाहौर)

यहाँ पहले-पहल तो म० भागमल आर्य विचारों का प्रचार करते रहे। दस-बारह वर्ष के पश्चात् सं० १९८३ में पं० नन्दलाल के उद्योग से आर्य समाज की स्थापना की गई। स्वा० ओंकारानन्द ने यहाँ ख़ूब प्रचार किया। हकीम भगवान्दास समाज का कार्य लग्न से करने वाले हैं। समाज के आधीन एक पुस्तकालय चल रहा है।

९६. खुशाब (सरगोधा)

९७. खेमकरण (लाहौर)

९८. खैरपुर टामेवाली (बहावलपुर)

९९. खैरपुर सादात (मुज़फ़्फ़रगढ़)

१००. खौड़ (अटक)

१०१. गक्खड़ (गुजरांवाला)
१०२. गंगानगर (बीकानेर)
१०३. गढ़शंकर (होश्यारपुर)
१०४. गरली (कांगड़ा)
१०५. ग़ाज़ीपुर (बहावलपुर)
१०६. गिदड़वाह (फ़ीरोज़पुर)
१०७. गुजरात
१०८. गुजरांवाला

महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती जी महाराज ने १ फाल्गुन १९३४ तदनुसार १२ फ़रवरी १८७८ वसन्त पंचमी के दिवस यहाँ पदार्पण किया। महाराज दो दिन तक ईसाइयों के साथ शास्त्रार्थ करते रहे। महाराज के उपदेशों का सिलसिला तो फ़रवरी के अन्त तक रहा। प्रथम मार्च को महर्षि की उपस्थिति में ही आर्य समाज की स्थापना की गई। समाज के पुरोहित पं० हरभगवान् नियत हुए। पण्डित जी पहले राय मूलसिंह के मुख्य पुजारी थे। उन्होंने स्वामी जी के उपदेशों से प्रभावित हो कर ठाकुर-पूजा छोड़ दी। पं० भगवद्दत्त जो पहले पक्के मूर्त्ति-पूजक थे महाराज के उपदेश से प्रभावित हो कर आर्य बन गए और आयु-भर समाज का काम करते रहे। मुंशी केवलकृष्ण मुं० जीवनकृष्ण तथा मुं० नारायणकृष्ण ये तीनों भाई आर्य समाज का काम करने वाले थे। ये गाज़ियाबाद के रहने वाले कायस्थ थे। ला० नारायणकृष्ण सत्यार्थप्रकाश का

प्रामाणिक अनुवाद करने वालों में से एक हैं। मुं० केवल-कृष्ण, हकीम हीरालाल तथा मास्टर सुन्दरसिंह के प्रयत्न से इस्लामिया हाई स्कूल गुजरांवाला के मुख्याध्यापक मास्टर अब्दुल ग़फ़ूर बी० ए० की शुद्धि ६ जून १९०३ को की गई।

गुजरांवाला में ही पहले-पहल चार बालकों से गुरुकुल की स्थापना की गई थी। बढ़ते-बढ़ते पैंतीस ब्रह्मचारी हो गए। पश्चात् सभा की आज्ञानुसार यह गुरुकुल यहाँ से तब्दील करके कांगड़ी ले जाया गया। अब यहां एक गुरुकुल हाई स्कूल और एक अनाथालय है। इन दोनों संस्थाओं के भवनों की लागत सवा लाख के लगभग है। इनके अतिरिक्त दो पुत्री पाठशालाएँ हैं।

सन् १९०७-८ में मु० जीवनकृष्ण की प्रेरणा से राय बहादुर ला० बरकतराम से वर्त्तमान समाज मन्दिर के लिए एक कनाल भूमि दान मिली थी। अब २०,०००) की लागत का समाज मन्दिर बना हुआ है। समाज मन्दिर के कुछ चौबारे और दुकानें किराये पर दी हुई हैं। पं० इन्द्र, श्री वज़ीरचन्द तथा बा० रामसहाई समाज के वर्त्तमान अधिकारी हैं।

१०९ गुड़गांवाँ

११० गुरुदासपुर

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज १८ अगस्त १८७७ को स्थानिक भक्त डा० बिहारीलाल की प्रेरणा से यहाँ पधारे। महाराज की उपस्थिति में ही समाज की स्थापना हुई। पश्चात् डाक्टर जी के स्वर्गवास हो

जाने पर समाज की अवस्था कुछ शिथिल-सी पड़ गई। पुनः सन् १८८७ में श्री बिहारीलाल, म० मुरलीधर, पं० स्वरूप-नारायण और मास्टर मुरलीधर के पुरुषार्थ से समाज में पुनः जीवन आ गया। पं०विश्वम्भरनाथ लीडर ने भी समाज की उन्नति में बड़ा भाग लिया है। समाज का अपना मन्दिर है।

१११. गुरुकुल कांगड़ी (सहारनपुर)

११२. गोगीरा (मिण्टगुमरी)

११३. गोजरा (लायलपुर)

यहाँ बा० नाथाराम ने दयानन्दाब्द ८५ तदनुसार सन् १६०६ में आर्य विचारों का प्रचार प्रारम्भ किया। कुछ समय के अनन्तर स्वा० सर्वदानन्द जी महाराज यहाँ पधारे और उपदेश दिया और तत्पश्चात् समाज की स्थापना हुई। दयानन्दाब्द ८७ में समाज मन्दिर के लिए ५००) में भूमि खरीदी गई। अब २५००) का मन्दिर बन गया है। इसके निर्माण में बा० डोगरमल ने पर्याप्त सहायता की है। समाज की ओर से बटवाल, चमार, मेघ, डूम आदि जातियों में प्रचार किया गया है। जहाँ इन जाति के लोगों को यवन और ईसाई होने से बचाया गया है वहाँ १५० के लगभग व्यक्तियों को शुद्ध किया गया है। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं :—

(क) कन्या पाठशाला।

(ख) पुस्तकालय। इसमें ५०० पुस्तकें हैं।

(ग) आर्य कुमार सभा। म० हरिश्चन्द्र को इसकी स्थापना का श्रेय प्राप्त है।

११४. गोता फ़तहगढ़ (सियालकोट)

११५. गोबिन्दपुर (मुलतान)

११६. गौरगष्टी (अटक)

११७. घनिये की बांगर (गुरुदासपुर)

यहाँ १९०२ में पं० सोमराज के पुरुषार्थ से आर्य समाज स्थापित हुआ। म० मूलचन्द प्रधान तथा म० ठाकुरसिंह मन्त्री बनाए गए। समाज का प्रथम वार्षिक उत्सव १९०३ में हुआ। मुसलमानों और ईसाइयों के साथ शास्त्रार्थ भी हुए हैं। समाज के साप्ताहिक सत्संग लगते हैं। आजकल म० हीरानन्द प्रधान और म० विश्वमित्र मन्त्री हैं।

११८. घरोटा (गुरुदासपुर)

यहाँ सब से पहले सन् १८९५ में चौ० गुरुदित्तासिंह ने अपने पुत्र का मुण्डन संस्कार वैदिक रीति से करवाया। इसके पश्चात् ला० कालूराम विग, मुं० कृपाराम अध्यापक तथा ला० भगतराम ने समाज का कार्य आरम्भ कर दिया। ला० दौलतराम, चौ० प्रद्युम्नसिंह और ला० गौरीशंकर के प्रयत्न से १ वैशाख १९८५ को आर्य समाज की नियम-पूर्वक स्थापना की गई। साप्ताहिक सत्संग लगने लगे और सभासदों की संख्या ४३ तक पहुँच गई। सं० १९८९ में समाज मन्दिर का भी निर्माण हो गया। आर्य समाज

अछूतोद्धार की दिशा में भी कार्य करता रहा है। मुसलमान लोग अछूतोद्धार के इतने विरुद्ध हो गए कि उन्होंने हिन्दुओं के घरों से खाना-पीना छोड़ दिया। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं :—

(क) स्त्री समाज।

(ख) आर्य कन्या पाठशाला। पहले तो श्रीमती ज्ञानदेवी धर्मपत्नी चौ० प्रद्युम्नसिंह अपने घर पर ही कन्याओं को पढ़ाती थीं। स्वा० धीरानन्द जी महाराज के प्रयत्न से इस गृह में लगने वाली पाठशाला को आर्य कन्या पाठशाला का रूप दे दिया गया।

११९. घरौंडा (करनाल)

१२०. घुमान (गुरुदासपुर)

यहाँ सं० १९६१ में आर्य समाज की स्थापना हुई। उस समय समाज के प्रधान बावा गुलाबदास हकीम थे जो वैदिक साहित्य के बड़े प्रेमी थे। सं० १९७९ में समाज का वार्षिक उत्सव भी मनाया गया। बावा दासराम बड़ी लग्न से इर्द-गिर्द के ग्रामों में प्रचार और शास्त्रार्थ करते रहे। बावा बेलासिंह वृद्धावस्था में होते हुए भी तन, मन और धन से समाज की सेवा करते रहते हैं।

१२१. चक नं० १९२ रख ब्रांच (लायलपुर)

यहाँ श्री सुन्दरदास तथा श्री जीवनदास के प्रयत्न से आर्य समाज की स्थापना हुई है। समाज मन्दिर भी बन गया है। समाज के साप्ताहिक सत्संग नियम-पू

लगते हैं। आर्य समाज के दस सभासद हैं। इसके आधीन एक पुस्तकालय है।

१२२. चकझुमरा (लायलपुर)

यहाँ पहले-पहल म० बूड़ीराम, म० काशीराम तथा गुसाईं गणेशदत्त के परस्पर सहयोग से एक सेवा-समिति की स्थापना हुई। इन्फ्लूएन्ज़ा के दिनों में म० काशीराम का देहान्त हो गया और उन की स्मृति में सेवा-समिति की ओर से एक पाठशाला खोली गई। पाठशाला में सन्ध्या हवनादि वैदिक रीति से ही किये जाते थे। सनातन धर्मियों ने एक मीटिंग बुलाई और माँग की कि एक तो पाठशाला में वैदिक सन्ध्यादि न की जाय और दूसरे "नमस्ते" शब्द का प्रयोग न किया जाय। म० बूड़ीमल और इनके साथियों ने सनातन धर्मियों के कथन को न मान कर एक हज़ार नकद और छः सौ का सामान जो पाठशाला के पास था उन के हवाले कर दिया और स्वयं पृथक् हो गये। पश्चात् ६ नवम्बर १६२१ को यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई। बा० तीर्थराम प्रधान तथा बा० ठाकुरदास मन्त्री बने। १६२२ में सरकार की ओर से सस्ते मूल्य में मन्दिर के लिए भूमि प्राप्त हो गई और मन्दिर का भी निर्माण हो गया समाज में प्रारम्भ से ही दैनिक सत्संग लगता है। समाज पुरोहित रख कर प्रचार-कार्य करता रहता है। गत आठ वर्षों से पं० सूर्यदेव पुरोहित का कार्य कर रहे हैं। सन् १९२३ में म० रलाराम और मास्टर हरिचन्द को जम्मूँ प्रचारार्थ भेजा गया। समाज की ओर से सैकड़ों मेघों और

बटवालों को शुद्ध किया गया है। सं० १९८८ में समाज के आधीन एक दयानन्द आयुर्वैदिक धर्मार्थ औषधालय भी १ वर्ष चलता रहा।

अस्पृश्यता-निवारण के सम्बन्ध में एक घटना उल्लेखनीय है। सन् १९२३ में म० बूड़ीराम ने गृह प्रवेश संस्कार किया। इस संस्कार में शुद्ध हुए भाइयों को भी निमन्त्रण दिया गया। सनातन धर्मियों ने महाशय जी की दुकान पर पिकेटिंग लगाई और बहुत-स आदमियों को प्रीति भोजन में सम्मिलित होने से रोका। इतना विरोध होने पर भी सवा सौ के लगभग भाइयों ने शुद्ध हुए लोगों के साथ भोजन किया। इस के पश्चात् मण्डी के सनातन धर्मियों ने एक मीटिंग बुला कर आर्य समाजियों का बायकाट कर दिया। यह विरोध शनैः-शनैः कम होता गया। अब तो सनातन धर्मी शुद्धि-कार्य में सहायता करते हैं। बाज़ार में होटलों और दुकानों पर शुद्ध हुए भाई काम करते हैं और किसी भान्ति का विरोध नहीं होता।

बा० तीर्थराम, ला० मथुरादास, श्रीमती भगवान्देवी तथा म० मय्यादास ने समाज मन्दिर के लिए आर्थिक सहायता की।

१२३. चकवाल (जेहलम)

१२४. चपराढ़ (सियालकोट)

१२५. चमकौर (अम्बाला)

१२६. चम्बा

पहले वहाँ एक मित्र सभा थी । इस में श्री० मास्टर दुर्गाप्रसाद को निमन्त्रण दिया गया और उनका प्रभावशाली व्याख्यान हुआ। श्री० महात्मा हंसराज जी, श्री० पं० जगत्सिंह, श्री० ला० लाजपतराय, श्री० प० गणपति तथा श्री० चौधरी रामभजदत्त वहाँ समय-समय पर प्रचारार्थ पधारते रहे। जब ईसाईयों ने यहाँ प्रबल प्रचार करना प्रारम्भ किया तब श्री पं० योगेन्द्रपाल के १८ प्रभावशाली व्याख्यान हुए। इन व्याख्यानों के प्रभाव से ईसाई हो गए सब भाई अपने धर्म में लौट आए। कुछ समय के लिए मित्र सभा कई कारणों से बन्द हो गई। परन्तु पुनः सं० १९७२ में इस के सत्संग लगने शुरू हो गए। ४ माघ १९७६ को नियमित रूप से आर्य समाज की स्थापना हुई और इसी वर्ष समाज मन्दिर का भी निर्माण हुआ। १९८० से इस के उत्सव होते चले आते हैं। आर्य समाज का एक उत्तम पुस्तकालय भी है जिस के सुचारु प्रबन्ध का श्रेय श्री मास्टर भगवान्दास को है।

इस इलाके में हाली नामक अछूत निवास करते हैं। आर्य समाज ने इस जाति को शुद्ध किया है। परिणाम-स्वरूप आर्यों की संख्या ४८ से बढ़ कर सन् १९३१ की गणना के अनुसार ८३७७ हो गई है। शुद्धि के कार्य में बड़ी कठिनाइयाँ पड़ीं। इन शुद्ध हुए भाइयों पर बड़े अत्याचार होने लगे। कभी इन पर जरमाने होते, कभी इन का चालान होता। ऐसे अवसर पर सभा के उपदेशक श्री पं० रामस्वरूप को बुलाया गया। और इस से लोगों का

उत्साह द्विगुणित हो गया। परन्तु अत्याचारों का अन्त न हुआ। आर्यों के लिए घराट (पनचक्की) और पानी लाने के मार्ग बन्द कर दिए गए। इन के लिए दण्ड-विधान भी तीव्र हो गया। एक ग्राम के आठ आर्यों के विरुद्ध रिपोर्ट हुई कि उन्हों ने उस वर्ष नागदेवता को बलि नहीं चढ़ाई। परन्तु इनका कहना था कि वे आर्य बन चुके हैं और जीव-हिंसा को पाप समझते हैं, अत एव उन्हों ने बलि नहीं दी। इन बिचारों को डरा-धमका कर छः आने प्रति व्यक्ति प्राप्त करके नागदेवता को एक भेडु अर्पण किया गया। पं० रामशरण ८०) मासिक पर स्टेट हाई स्कूल में अध्यापक थे। उन्हों ने आर्यों पर किए गए अत्याचारों को देखकर अपनी नियुक्ति से त्याग पत्र दे दिया। उन्हों ने अब संकीर्तन करने और व्याख्यान देने प्रारम्भ कर दिये। परन्तु इतना कुछ प्रचार होने पर भी विरोध का अन्त न हुआ। सन् १९३४ में वार्षिकोत्सव के समय जो सरकार की ओर से प्रति वर्ष सहायता मिलती थी वह भी बन्द कर दी गई। उत्सव के प्रयोग के लिए स्टेट की भूमि तक की आज्ञा भी प्राप्त न हुई। ला० गोपाला ने एक बहुत बड़ा मकान आर्य समाज को प्रदान किया है। समाज की ८,०००) की स्थावर सम्पत्ति है।

१२७. चविण्डा (सियालकोट)

यहाँ आर्य समाज की स्थापना सन् १९०५ में हुई। ला० गंगाराम ने यहाँ पहले-पहल काम किया है। सनातन धर्मियों ने आर्य समाज का विरोध किया और जलघाहकों

(कहारों) को बाधित कर दिया कि वे आर्यों का पानी भरना छोड़ दें। इन दिनों म० टेकचन्द कई दिनों तक आर्य भाइयों का पानी भरते रहे। सन् १९१७, १९१८ के वार्षिक उत्सवों के अवसर पर स्वा० सर्वदानन्द, स्वा० विशुद्धानन्द, स्वा० अच्युतानन्द तथा स्वा० सत्यानन्द ने व्याख्यान दिये। दलितोद्धार की दिशा में भी समाज ने काम किया है। इस इलाके में सामाजिक सुधार के लिए सन् १९३५ में एक आर्य सम्मेलन ला० चरणदास वकील की अध्यक्षता में हुआ। आर्य समाज के ३४ सभासद हैं। ३०००) के लगभग इसकी सम्पत्ति है।

१२८. चविण्डा देवीवाला (अमृतसर)

१२९ चिन्तपुरणी (होशयारपुर)

१३० चिस्तियाँ (बहावलपुर)

१३१ चीचावतनी (मिण्टगुमरी)

यहाँ ला० जगन्नाथ डिप्टी कलक्टर नहर के पुरुषार्थ से सन् १९१९ में आर्य समाज की स्थापना हुई। उन्होंने बीस मरला भूमि खरीद कर आर्य समाज को दान की। समाज में साप्ताहिक सत्संग लगते हैं। ज़िला-भर में यह समाज मुख्य समझी जाती है। समाज के प्रबन्धाधीन सभा के उपदेशक पं० सत्यदेव और पं० शान्तिप्रकाश ने मुसलमानों और पं० रामदयालु शास्त्री ने सनातनियों के साथ शास्त्रार्थ किये। यह अब तक ५३ अन्त्यजों की शुद्धि कर चुका है। इसकी सम्पूर्ण कार्यवाही हिन्दी में लिखी जाती है। इसके

आधीन एक वाचनालय है। सम्पत्ति की दृष्टि से समाज मन्दिर ६०००) की लागत का है। मन्दिर के साथ पाँच दुकानें हैं जिन का ४२) मासिक किराया आता है। ८) मासिक चन्दा की आय है।

१३२. चूहड़काना (शेख़ूपुरा)

१३३. चेला (झंग)

यहाँ पं० भूमानन्द के पुरुषार्थ से ७ आषाढ़ १९८३ को आर्य समाज की स्थापना हुई। समाज का अपना मन्दिर भी बन गया है जोकि एक हज़ार के लगभग की सम्पत्ति है। आजकल समाज के आठ सभासद् और तीन सहायक हैं। समाज ने हिन्दी पढ़ाने के लिए एक अध्यापक नियुक्त किया हुआ है। तीस व्यक्ति इस समय तक हिन्दी का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। इसके पास एक पुस्तकालय भी है। समाज के चौ० नत्थनलाल प्रधान और ला० वज़ीरचन्द मन्त्री हैं।

१३४. चोटी (डेराग़ाज़ीख़ाँ)

१३५. चोहा भक्काँ (रावलपिण्डी)

यहाँ संवत् १९६९ में आर्य समाज की स्थापना हुई। सम्पत्ति की दृष्टि से २४५२॥≈)॥ की लागत का समाज मन्दिर है। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं।

(क) कन्या पाठशाला।

(ख) पुस्तकालय।

(ग) गुरुकुल। श्री स्वा० दर्शनानन्द जी महाराज के उपदेश से सं० १९६५ में यह गुरुकुल स्थापित हुआ था।

१३६. छछरौली

१३७. जगराऊँ (लुधियाना)

यहाँ समाज स्थापित है। इसका अपना मन्दिर है। ला० तिलकराम वैश्य पहले दिनों में समाज का काम करते रहे हैं। इस समय ला० अमरचन्द तथा हकीम प्यारेलाल समाज का काम कर रहे हैं।

१३८. जगाधरी (अम्बाला)

१३९. जण्ड (कैमलपुर)

१४०. जड़ांवाला (लायलपुर)

सन् १९१० में यहाँ अनाज की मण्डी बनी। उन्हीं दिनों समाज मन्दिर के लिए एक भूमि का टुकड़ा सरकार से प्राप्त किया गया। समाज मन्दिर के निर्माण में मैहता जैमिमी, बा० गंगाबिशन, एजण्ट सण्डे कम्पनी, बा० किशन-चन्द, एजण्ट राली ब्रादर्ज़, पं० बनवारीलाल बी० ए० स्कूल मास्टर, बा० सेवाराम, एजण्ट लूइस कम्पनी आदि सज्जनों ने सहयोग दिया। सन् १९३० में ला० रामचन्द चावला ने २५००) दान देकर एक कूप और समाज का कुछ अव-शिष्ट भाग बनवा दिया।

इस आर्य समाज ने अछूतोद्धार के क्षेत्र में बड़ा कार्य किया है। अनेक पतितों और जन्म के मुसलमानों को शुद्ध किया गया। अछूतोद्धार के सिलसिले में कई उत्सव और सम्मेलन किये गए। सन् १९२८ में पं० नकीराम की अध्यक्षता में एक भारी अछूतोद्धार कान्फ्रेंस हुई। हरिजन

बालकों के लिए एक पाठशाला खोली गई है। आर्य समाज के साप्ताहिक सत्संग नियम-पूर्वक लगते हैं। इसके ३५ सभासद हैं। सन् १९२३ से पुरोहित रख कर प्रचार का प्रबन्ध किया जाता है। समाज का वर्त्तमान प्रधान ला० शिवनाथराय और मन्त्री म० देशराज हैं।

१४१. जण्डियाला कलसाँ (शेखूपुरा)

१४२. जण्डियाला गुरु (अमृतसर)

यहाँ चिर काल से समाज स्थापित है। म० वीरमल प्रधान तथा म० रघुवीरमल मन्त्री हैं। ५०००) की सम्पत्ति का समाज मन्दिर है। समाज के साप्ताहिक सत्संग लगते हैं।

१४३. जतोई (मुज़फ़्फ़रगढ़)

१४४. ज़फ़रवाल (सियालकोट)

यहाँ स्वा० आलाराम के प्रचार से सन् १९८७ में आर्य समाज की स्थापना हुई। ला० रामाँशाह प्रधान और म० मेहरचन्द मन्त्री बने। ला० मुकुन्दलाल और ला० गिरिधारीलाल भी समाज का काम करते रहे हैं। समाज का अपना मन्दिर है। समाज के प्रबन्धाधीन पं० आत्माराम आर्योपदेशक ने पं० लधाराम के साथ "मूर्त्ति-पूजा" पर आठ दिन लगातार शास्त्रार्थ किया। पं० लक्ष्मीदत्त और पं० शान्तिस्वरूप ने मुसलमानों और ईसाइयों से क्रमशः शास्त्रार्थ किया। मेघोद्धार सभा सियालकोट की ओर से यहाँ एक पाठशाला खोली गई थी जो १९३० तक चलती

रही। सन् १६३३ में राजियाँ ग्राम में सात ग्रामों के ३७५ बटवालों की शुद्धि की गई।

यहाँ की एक घटना उल्लेखनीय है। लगभग छः वर्ष हुए आर्य समाज, अमृतसर के पुरोहित पं० मदनमोहन ने यहाँ मांस-भक्षण-निषेध पर व्याख्यान दिया। उन्हों ने अपने व्याख्यान में यह भी कहा कि मैं उस मुसलमान के हाथ का भी खाने को तय्यार हूँ जो निरामिषभोजी और सदाचारी हो। वहाँ पर उपस्थित एक मौलवी ने, जोकि गौरमिएट स्कूल में फ़ारसी के अध्यापक थे, उठ कर कहा—मैं निरामिषभोजी हूँ, अतः क्या आप मेरे हाथ का भोजन खाने को तय्यार हैं? पण्डित जी ने कहा— हाँ! तदनुसार पण्डित जी ने मौलवी साहिब का तय्यार किया भोजन दूसरे दिन सब के सामने खाया।

१४५. जम्मूँ

यहाँ सं० १९४८ में ला० मेलाराम के पुरुषार्थ से आर्य समाज का बीज बोया गया। प्रारम्भिक दिनों में पं० गणेशदास शास्त्री, दरबारी पण्डित तथा डा० जगन्नाथ ने समाज का काम किया है। पश्चात् कुछक कारणों से समाज की अवस्था कुछ शिथिल पड़ गई। परन्तु इस शिथिलता के समय में भी समाज के कर्त्ता-धर्त्ता ला० मेलाराम समाज का सत्संग घर पर ही लगाते रहे और इस की अवस्था को उन्नत करने में सदा प्रयत्नशील रहे। सं० १६६३ में एक मकान किराये पर लिया गया और समाज के सत्संग वहाँ लगने लगे। समाज की अवस्था दिन प्रति दिन उन्नत होने

लगी। म० लालजीप्रसाद बी० ए०, कैम्प क्लर्क, नहर विभाग ने समाज के सभासदों को साथ ले कर मन्दिर के लिए धन एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया। फलत: २५ वैशाख १९६८ को सिविल हस्पताल के सामने भूमि लेकर ला० रोशनलाल के करकमलों से मन्दिर की आधारशिला रखी गई। सम्पत्ति की दृष्टि से यह मन्दिर ६०००) का है। सम्मेलनों और उत्सवों के लिए इस मन्दिर को अपर्याप्त समझ कर ३१००) की लागत से आर्य भवन बनाने के लिए दो कनाल की एक और भूमि ख़रीदी गई है। मासिक चन्दा ५०) के लगभग हो जाता है।

समाज ने इस इलाक़े में प्रचार और दलितोद्धार का काम खूब किया है। पं० पूर्णचन्द, पं० गजानन्द शास्त्री और पं० जगदीशचन्द्र वाचस्पति समाज के पुरोहित रह चुके हैं। समाज के पुरोहित के अतिरिक्त सभा के उपदेशक भी इस इलाक़े में प्रचार करते रहे हैं। शहीद धर्मवीर म० रामचन्द्र की स्मृति में जम्मूँ से १२ मील के फ़ासला पर बटहरा नामक ग्राम में प्रति वर्ष चैत्र चौदश की सुहावनी ऋतु में तीन दिन वीरमेला बड़े समारोह से मनाया जाता है। इस अवसर पर दंगल, प्रदर्शनी आदि कई चीज़ें होती हैं और पारितोषिक वितरण किये जाते हैं। महाशय जी दलितों के लाभार्थ एक आर्य पाठशाला स्थापित करना चाहते थे इसी कारण उनका बलिदान हुआ। मेले आदि का प्रबन्ध पहले तो जम्मूँ समाज करता था अब सर्व प्रबन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब करती है। सभा की ओर से

बटहरा में महाशय जी की स्मृति को क़ायम करने के लिए रामचन्द् स्मारक बनाया गया है। पहले यह भूमि ६ कनाल और ८ मरले थी। उस में एक कनाल ६॥ मरले की और वृद्धि हुई है। इस भूमि में वाटिका, कूप, यज्ञशाला, धर्मशाला, आर्य पाठशाला और औषधालय स्थापित हैं। रामचन्द्र स्मारक में उक्त कार्यों के अतिरिक्त एक आर्य ग्राम सुधार भी है। इस सम्बन्ध में बटहरा को एक आदर्श ग्राम का रूप दिया गया है। भोजन, वस्त्र, गृह, पशु आदि की सफ़ाई का विशेष ध्यान रखा जाता है। सभा की ओर से म० अनन्तराम इस इलाक़े के प्रचार के अधिष्ठाता नियुक्त हैं।

म० रामचन्द्र के बलिदान ने इस इलाके में शुद्धि का द्वार खोल दिया है। पहली शुद्धि सात सौ की संख्या में आर्य समाज में हुई। पश्चात् सभा के उपदेशकों द्वारा ऊधमपुर, रणवीरसिंहपुरा, भद्रवाह, किश्तवाड़ आदि ग्रामों में सहस्रों मेघ व्यक्तियों की शुद्धि की गई। समाज ने डूमों और बटवालों की शुद्धि को भी हाथ में लिया। इस इलाक़े के बटवाल तो लगभग सब के सब शुद्ध हो चुके हैं। डूम भी सहस्रों की संख्या में शुद्ध हो चुके हैं। चमारों की भी शुद्धि का काम होने लग पड़ा है। आकिलपुर, चक लालदीन, जम्मूँ छावनी आदि स्थानों में उत्सव मनाए गए और सैकड़ों व्यक्तियों की शुद्धि की गई है। पहल-पहल आर्य समाज ने दलित जाति के बालकों के लिए स्कूल खोले थे परन्तु अब सरकारी स्कूलों में भी उन को पढ़ने की आज्ञा मिल गई है, अत एव कुछ पाठशालाएँ अब बन्द हो गई हैं। कुछेक पाठशालाएँ तो अब तक भी चल रही हैं।

१४६. जलन्धर (छावनी)

आर्य समाज जलन्धर छावनी की स्थापना सन् १८८६ में हुई। समाज की स्थापना का श्रेय ला० नारायणदास मुज़फ़्फ़रनगर निवासी को है। आप महात्मा मुंशीराम, ला० रामकृष्ण तथा ला० देवराज आदि के साथ समाज के संगठन के कार्य में लगे रहते। समाज की स्थापना आपके घर पर ही हुई।

डी० ए० वी० हाई स्कूल लाहौर की स्थापना के कुछ समय पश्चात् ही यहाँ विक्टर स्कूल की स्थापना हुई। पहले प्राइमरी की श्रेणियाँ ही खोली गईं। विचार यह था कि इसको शिल्प विद्यालय बनाया जाय परन्तु यह विचार कार्य रूप में परिणत न हो सका। अब यह संस्था नारायण-दास विक्टर हाई स्कूल के नाम से प्रसिद्ध है। मास्टर रामदास (आचार्य रामदेव), मास्टर सुन्दरसिंह, मास्टर मूलराज तथा मास्टर चम्बाराम आदि आर्य महानु-भाव इस संस्था में काम करते रहे हैं। ला० नारायणदास ने सरकार का विरोध, ग्रान्ट का बन्द हो जाना—इत्यादि आपत्तियों के पड़ने पर भी स्कूल को अपने उद्देश्य से विचलित नहीं होने दिया।

कन्या महाविद्यालय की स्थापना के पश्चात् शीघ्र ही सन् १८६१ में आर्य कन्या पाठशाला की यहाँ स्थापना हुई। पहले यह संस्था शिल्प की थी पश्चात् साधारण प्राइ-मरी तक की पाठशाला ही हो गई। ला० कुन्दनलाल ने पाठशाला को सहायता दी अत एव इसका नाम ही कुन्दन-लाल आर्य पुत्री पाठशाला रखा गया।

१४७. जलन्धर (शहर)

यह बड़े पुराने समाजों में से एक है। यह नगर कई आर्य नेताओं का केन्द्र रहा है। महा० मुंशीराम, संस्थापक गुरुकुल कांगड़ी, ला० देवराज संस्थापक कन्या महाविद्यालय जलन्धर, ला० रामकृष्ण और राय बहादुर दीवान बदरीदास भूत-पूर्व प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब आदि महानुभावों ने इस नगरी की जनता को अपने मधुर उपदेशों से आह्लादित किया है। यहाँ सभा के बड़े-बड़े प्रचारक कार्य कर चुके हैं। शहीद पं० लेखराम ने भी इस नगरी को अपने निवास से कुछ देर के लिए अलंकृत किया था। पं० गुरुदत्त, स्वा० अच्युतानन्द, स्वा० प्रकाशानन्द, ला० बीचाराम, ला० दुर्गाप्रसाद, पं० मणिराम (महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि), पं०पूर्णानन्द, पं०आत्माराम आदि महानुभाव यहाँ प्रचारार्थ पधारते रहे हैं। श्रीमती सुरेन्द्रबाला ने यहाँ स्त्री समाज में प्रचार किया है। सन् १८९२ में स्त्री समाज की नियम-पूर्वक स्थापना हो गई।

स्त्री-शिक्षा को नियमित रूप से चलाने के लिए इसी समाज ने यहाँ कन्या महाविद्यालय की नींव रखी।

१४८. जवालपुर कीकनां (जेहलम)

यहाँ आर्य समाज की स्थापना सन् १९१२ में हुई। प्रारम्भिक दिनों में पौराणिक लोग वैदिक संस्कारों पर कई प्रकार की रुकावटें डालते थे। भाई गोपालदास वृद्ध होते हुए भी समाज की सेवा करते रहे। उन्होंने सभासदों को सन्ध्या, हवन, संस्कारविधि आदि धार्मिक ग्रन्थ पढ़ाए।

वे बारह वर्ष पर्यन्त समाज की सेवा करते रहे। ला० लेख-राज, ला० राजाराम मलक, देवीदास आदि समाज का काम करने वाले रहे हैं। १६२२ में समाज मन्दिर के बनने का काम प्रारम्भ हुआ। सम्पत्ति की दृष्टि से समाज मन्दिर ८०००) की लागत का है। कई मास से दैनिक सत्संग का सिलसिला जारी हो गया है। इसके आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं।

(क) आर्य पुत्री पाठशाला—यह शाला गत ६ वर्षों से चल रही है। शाला का भवन ३०००) का है जिसका श्रेय बा० वीरमल और उनकी सुपुत्री श्रीमती भागवन्ती को है।

(ख) आर्य युवक सभा—यह गत वर्ष से ही स्थापित हुई है।

१४६. जलालपुर जट्टाँ (गुजरात)

१५०. जलालपुर नौ (ज़ि० गुजरांवाला)

यहाँ ला० दयाराम मलहोतरा के प्रयत्न से सं० १६५० में आर्य समाज की स्थापना हुई। ला० ईश्वरदास बड़े प्रेम से भजनों द्वारा समाज की सेवा करते रहे। ला० मनोरथराम भी समाज का काम हित से करते रहे। मुसलमानों और सनातनियों के साथ शास्त्रार्थ भी खूब होते रहे हैं। पं० पूर्णानन्द, स्वा० योगेन्द्रपाल और मा० आत्माराम ने 'मूर्त्ति-पूजा' विषय पर सनातनियों के साथ शास्त्रार्थ किया। समय-समय पर मा० दुर्गाप्रसाद, पं० हरनामसिंह, मेहता जैमिनि तथा म० कृष्ण प्रचारार्थ यहाँ पधारते रहे हैं।

समाज के आधीन १८९४ से १६०४ तक एक एंग्लो

संस्कृत मिडिल स्कूल चलता रहा है। ला० सुन्दरदास १५) मासिक लेकर हैड मास्टर का कार्य करते रहे हैं। इस स्कूल द्वारा मुसलमान विद्यार्थी तक वेद मन्त्रों का उच्चारण करना सीख गए थे। पुत्री पाठशाला भी यहाँ पर्याप्त समय तक चलती रही है।

१५१. जलालपुर पीरवाला (मुलतान)

यहाँ ला० चोथूराम, ला० देवीदास हैड मास्टर तथा चौ० होन्धाराम के पुरुषार्थ से १ अगस्त १६१६ को आर्य समाज की स्थापना हुई। सं० १६७९ में पंचायत ने धर्मशाला से भूमि का एक टुकड़ा आर्य समाज को दे दिया। इस पर सनातन धर्मियों ने खूब विरोध किया। अस्तु। समाज मन्दिर का निर्माण हो गया। जून १६२३ में समाज का प्रथम वार्षिक उत्सव मनाया गया। ८ जनवरी १६२५ को ला० चोथूराम के स्वर्गवास हो जाने पर समाज की अवस्था में कुछ शिथिलता आ गई। दैनिक सत्संग साप्ताहिक सत्संग में परिवर्तित हो गया। सन् १६३३ में डा० गोपालदास शुजाबादी के यहाँ आने पर फिर प्रचार प्रारम्भ हो गया। संस्था की दृष्टि से समाज के पास एक पुस्तकालय है।

१५२. जहानाबाद (सरगोधा)

१५३. जहानियाँ मण्डी (मुलतान)

१५४. जाखल (हिसार)

१५५. जामपुर (डेरागाज़ीखाँ)

सभा के उपदेशक पं० चिरञ्जीलाल के करकमलों द्वारा यहाँ १३ अक्तूबर १८६३ को आर्य समाज की स्थापना हुई। सनातनियों के साथ खूब विरोध होता रहा। उन्होंने अभियोग चलाया जोकि खारिज हो गया और समाज का प्रचार होने लगा। समाज के सभासदों और सहायकों ने मांस खाना छोड़ दिया। मा० धन्नाराम समाज का काम खूब लग्न से करते थे। पं० विश्वम्भरदत्त का नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होंने संस्कृत से अनभिज्ञ होते हुए भी संपूर्ण संस्कार विधि शुद्ध उच्चारण के साथ याद कर ली और वे विना किसी पुस्तक की सहायता के सब संस्कार करवा लेते थे। आर्थिक सहायता करने वालों में बा० टाकनराम, भाई कृपाराम तथा ला० जांजीराम का नाम उल्लेखनीय है।

आर्य समाज प्रचार, शास्त्रार्थ, और शुद्धि का कार्य करता रहा है। आर्य समाज की ओर से पं० विष्णुमित्र, पं० आत्माराम और स्वा० विज्ञानभिक्षु ने सनातनी पं० शामलाल, पं० गणेशीदत्त तथा पं० यदुकुलभूषण के साथ क्रमशः शास्त्रार्थ किया। आर्य समाज ने अब तक १० शुद्धियाँ की हैं। लालचन्द नामक एक कुलीन युवक की शुद्धि एक विशेष स्थान रखती है। वह एक मुसमलान सहपाठी की संगति से मुसलमान हो गया था। आर्य समाज के प्रयत्न से इस को पुनः अपने धर्म में लाया गया। इस के माता पिता कट्टर पौराणिक थे। वे ब्राह्मणों के दुर्व्यवहार को देख कर आर्य समाज की शरण में आ गए।

आर्य समाज दलितोद्धार का कार्य भी करता रहा है। वार्षिक उत्सवों पर सहभोज होते रहे हैं। समाज में दैनिक सत्संग का सिलसिला २० वर्षों से जारी है। समाज के सदस्यों तथा सहायकों की संख्या ६२ है। डेढ़ सौ के लगभग वर्ष में संस्कार हो जाते हैं। सम्पत्ति की दृष्टि से समाज के दो मन्दिर १३,०००) की लागत के हैं। १०,०००) नकद जमा है। समाज का वार्षिक आय व्यय चार हज़ार के लगभग बराबर चलता है। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं।

(क) हरि कन्या पाठशाला। यह पाठशाला १३ मार्च १८९६ तदनुसार २ चैत्र १८५५ को स्थापित हुई। गत वर्ष तक पाठविधि कन्या महाविद्यालय जलन्धर के अनुसार रही। इस वर्ष से आर्य शिक्षा समिति पंजाब की स्कीम जारी कर दी गई है। इस में १३० कन्याएँ शिक्षा पाती हैं। इस का वार्षिक व्यय ११५०) है। म्युनिसिपल कमेटी की ओर से ६६०) प्रति वर्ष सहायता मिलती है।

(ख) वैदिक पाठशाला। ला० टिकनलाल मन्त्री के पुरुषार्थ से १ जनवरी १९१५ को यह पाठशाला स्थापित हुई। इस में धर्मशिक्षा की पढ़ाई आर्य शिक्षा समिति की आयोजना के अनुसार है। वार्षिक व्यय ७२५) है। म्युनिसिपल कमेटी की ओर से ४६२) प्रति वर्ष सहायता मिलती है।

(ग) आर्य महिला विद्यालय। इसकी स्थापना १ एप्रिल १९२६ को हुई। यह कन्या गुरुकुल की स्कीम के अनुसार

चल रहा है। हरि कन्या पाठशाला से पाँचवीं श्रेणी पास कर के कन्याएँ इस विद्यालय में प्रविष्ट हो जाती हैं। इस विद्यालय में तीन वर्ष का कोर्स पूरा करने के अनन्तर उत्तीर्ण कन्याओं को "सिद्धान्त विदुषी" की उपाधि मिलती है।

(घ) पुस्तकालय तथा वाचनालय। पुस्तकालय में १,०००) की लागत से दो हज़ार के लगभग उर्दू, अँग्रेज़ी तथा हिन्दी की पुस्तकें हैं।

(ङ) नवयुवक सभा। इस के सत्संग प्रति बुद्धवार को लगते हैं।

(च) टीम। दस वर्ष से एक टीम जारी है। नवयुवक वालीबालादि खेलों में भाग लेते हैं।

(छ) स्त्री समाज। इस के सत्संग प्रति शुक्रवार को लगते हैं।

यहाँ की एक घटना उल्लेखनीय है। ला० सुखोराम के पुत्र श्री आसूराम के विवाह के अवसर पर पौराणिक पक्ष की ओर से खूब विरोध हुआ। बरात ने प्रस्थान कर दिया और मार्ग में पता लगा की विवाह पौराणिक रीति से होगा। निर्णीत स्थान में पहुँचने पर बहुत दौड़-धूप कर लेने के अनन्तर भी कोई निश्चय न हो सका। अन्ततः बरात को दो दिन समाज मन्दिर में रहना पड़ा। मुहूर्त्त तो व्यतीत हो ही गया था। तीसरे दिन प्रातः जब वधू पक्ष ने वर पक्ष को अपने संकल्प पर पक्का और संबन्ध-विच्छेद करने पर भी उद्यत पाया तो उन को बुला कर वैदिक रीति से विवाह कर दिया।

१५६. जींद
१५७. ज़ीरा (फ़ीरोज़पुर)
१५८. जुधाला (सियालकोट)
१५९. जेहलम
१६०. जैजों (होश्यारपुर)
१६१. जैतों (नाभा)
१६२. झंग
१६३. झंग मघियाणा

यहाँ मुंशी सवायाराम के प्रयत्न से सन् १८९० में आर्य समाज स्थापित हुआ। वे ही आयु-भर समाज के कर्त्ता-धर्त्ता रहे। प्रारम्भिक दिनों में समाज के अधिवेशन ला० रमय्याराम सपड़ा के घर पर होते थे। पौराणिक लोग विरोध करते रहे परन्तु समाज का काम उत्तरोत्तर उन्नति ही करता चला गया। समाज की स्थापना के चार-पांच वर्ष अनन्तर इस के वार्षिक उत्सव होने प्रारम्भ हो गए। इन उत्सवों पर महा० मुंशीराम, ब्र० नित्यानन्द, स्वा० विश्वेश्वरानन्द आदि महानुभाव पधारते रहे। सन् १८९७ में १०००) की लागत से दस मरले भूमि ख़रीदी गई और उस पर २०००) की लागत से मन्दिर का निर्माण किया गया।

यहाँ एक प्रबल शास्त्रार्थ हुआ है जिस का इतिवृत्त निम्न प्रकार से है। डा० चेतनशाह, सिविल सर्जन के पिता का देहान्त हो गया। वे पौराणिक मर्यादा के अनुसार पिण्ड तथा क्रिया कर्म आदि करते रहे। पश्चात् जब उन को

मालूम हुआ कि ये सब बातें व्यर्थ हैं तो उन्हों ने एक-दम इस कर्म-काण्ड को बन्द कर दिया। उन्हों ने २००) डी० ए० वी० कालेज के लिए और ३००) एक कूप लगवाने के लिए दिया। यात्रियों के आराम के लिए पन्द्रह बीस लिहाफ़ आदि सामान भी दान किया। पौराणिक आचार्यादि को कुछ न मिला। इस पर सनातन धर्मी बिगड़ बैठे। फलतः आर्यों और सनातनियों के मध्य १६ फ़रवरी १६९३ को "मूर्त्ति-पूजा" पर एक प्रबल शास्त्रार्थ हुआ। आर्य समाज की ओर से पं० पूर्णानन्द तथा सनातनियों की ओर से पं० श्यामलाल तथा पं० दीवानचन्द थे। इस शास्त्रार्थ के प्रधान रिसालदार सरदार प्रतापसिंह ई० ए० सी० नियत हुए। यह शास्त्रार्थ बड़ा ही प्रभाव-जनक रहा। इस से आर्यों का उत्साह बहुत ही बढ़ गया।

१६४. झज्जर (रोहतक)

यहाँ आर्य समाज को स्थापित हुए पचास वर्ष के लगभग व्यतीत हो चुके हैं। सम्पत्ति की दृष्टि से समाज मन्दिर और वैदिकाश्रम ७०००) की लागत के हैं। श्रीमती गुलाबदेवी ने ६००) से एक कमरा वैदिकाश्रम में बनवा दिया है। आर्य समाज की निम्न संस्थाएँ हैं :—

(क) गुरुकुल। सन् १९११ में यहाँ एक आर्य पाठशाला थी। इस में १५० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। यह पांच-छः वर्ष सुचारु रूप से चलती रही। पश्चात् इस को गुरुकुल बनाने का निश्चय किया गया। १६१५ में आर्य समाज ने गुरुकुल के लिए भूमि तथा अन्य सामान भी ख़रीद लिया।

परन्तु दुर्भाग्यवश सन् १९१८ में पं० विश्वम्भरदयाल का दिमाग़ खराब हो गया। वे ही आर्य समाज के कर्त्ता-धर्त्ता थे। गुरुकुल तो क्या बनना था पाठशाला तक को बन्द करना पड़ा। पुनः १९२३ में समाज के वार्षिकोत्सव के अवसर पर स्वा० ब्रह्मानन्द और स्वा० परमानन्द के उद्योग से गुरुकुल की स्थापना हुई।

(ख) वैदिक कन्या पाठशाला। यह शाला १९२५ में स्थापित हुई। इस में ९५ कन्याएँ शिक्षा पाती हैं।

(ग) आर्य प्राइमरी स्कूल। इस स्कूल में उच्च वर्ण तथा दलित जातियों के बालक बिना किसी भेद-भाव के पढ़ते हैं। ३० हरिजन बालक शिक्षा पाते हैं। संख्या की दृष्टि से ७० छात्र स्कूल में प्रविष्ट हैं।

१६५. झुग्गीवाला (मुज़फ़्फ़रगढ़)

१६६. झोक उत्तरा (डेरागाज़ीखाँ)

यहाँ चौ० नेत्रराज रईस-इ-आज़िम सन् १९१४ से १९१७ तक आर्य समाज का प्रचार करते रहे। पश्चात् १९१८ में म० मूलचन्द के प्रयत्न से आर्य समाज की नियम-पूर्वक स्थापना हो गई। १९२९ से समाज के वार्षिक उत्सव मनाये जा रहे हैं। श्रीमती भारीदेवी धर्मपत्नी श्री सावणराम ने समाज को मन्दिर के लिए एक मकान दान कर दिया है। सम्पत्ति की दृष्टि से समाज मन्दिर एक हज़ार का है।

१६७. टांक (बन्नूँ)

१६८. टिब्बी लुण्डा (डेरागाज़ीखाँ)

१६९. टोबाटेकसिंह (लायलपुर)

यहाँ आर्य समाज की स्थापना तो कई वर्षों से हो चुकी है। सं० १९७८ में समाज का तृतीय वार्षिक उत्सव मनाया गया था। इस से अग्रिम वर्ष समाज मन्दिर के लिए दो इहाते खरीदे गए। और उस से अगले वर्ष समाज के वार्षिकोत्सव के अनन्तर श्री स्वा० स्वतन्त्रानन्द जी ने समाज मन्दिर की आधार शिला रखी। सम्पत्ति की दृष्टि से १२,०००) का मन्दिर तय्यार हो चुका है। समाज के पचास के लगभग सदस्य हैं। इस समाज को यह श्रेय प्राप्त है कि इस के १५ सदस्य ऐसे हैं जो सदैव यज्ञ करते हैं। समाज में दैनिक सत्संग लगता है। इस ने दलितोद्धार की दिशा में भी काम किया है। ला० मथुरादास समाज के उत्साही प्रधान हैं। ला० हरभगवान्दास समाज का काम करते रहे हैं। इस के आधीन सं० १९८१ से एक पुत्री पाठशाला चल रही है। १९८४ में पाठशाला मिडिल तक कर दी गई थी। इस समय १६० कन्याएँ शाला में शिक्षा ग्रहण कर रही हैं।

१७०. टोहाना (हिसार)

१७१. टौणीदेवी (कांगड़ा)

यहां सन् १९१६ में आर्य समाज की स्थापना हुई। म० गुरुबख़्शराय तथा ठा० निरञ्जनसिंह उस समय आर्य समाज का काम करने वाले सज्जन थे। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ हैं :—

(क) आर्य स्कूल। यह सन् १९१६ में स्थापित किया

गया। चौ० मिस्त्री तथा ठा० निक्काराम की आर्थिक सहायता से स्कूल का भवन भी बन गया। स्कूल में कन्याओं की संस्था की वृद्धि होती देख कर एक कन्या पाठशाला खोली गई। श्रीमती पार्वतीदेवी ने ८००) शाला के भवन के लिए दान दिया। पश्चात् १५ मार्च १६२५ को पुत्री पाठशाला बन्द कर दी गई और कन्याओं को बालकों के स्कूल में प्रविष्ट किया गया।

(ख) पुस्तकालय।

(ग) औषधालय।

१७२. ठरू (सियालकोट)

१७३. ठोल (करनाल)

१७४. डगशई (शिमला)

यहां बा० नानकचन्द वर्म्मा के पुरुषार्थ से सन् १६०३ में आर्य समाज की स्थापना हुई। पश्चात् बा० रल्लाराम तथा बा० मेहरचन्द के प्रविष्ट होने पर समाज में जागृति आने लगी। सन् १६२७ में समाज का कार्य नियम-पूर्वक चलने लगा। बा० अतरचन्द इस के पुरुषार्थी कार्यकर्त्ता हैं। इस समय सभासदों की संख्या २० है। समाज मन्दिर के लिए ला० सोहनलाल अग्रवाल ने भूमि प्रदान की है। समय-समय पर स्वा० नित्यानन्द, पं० गणपति शर्म्मा, महा० मुंशीराम, स्वा० मुनीश्वरानन्द आदि महानुभाव प्रचारार्थ यहाँ पधारते रहे हैं। समाज प्रचार के अतिरिक्त शुद्धि का कार्य भी करता रहा है। सन् १६३३ में सात ईसाइयों की शुद्धि की गई। समाज के आधीन एक कन्यापाठशाला की

स्थापना १ एप्रिल १६२४ को हुई। इस समय ३९ कन्याएँ इस में शिक्षा ग्रहण कर रही है।

१७५. डलवाल (जेहलम)

१७६. डलहौज़ी (बैलून बाज़ार)

चौधरी रामभजदत्त सरीखे सज्जन सैर के लिए यहाँ पधारा करते थे। वे यहां पारिवारिक सत्संग लगा कर वैदिक धर्म का प्रचार करते थे। ऐसा सिलसिला १८६८ से चला आ रहा था। कुछ काल के अनन्तर स्वर्गीय म० इन्द्रराम ने बैलून बाज़ार में एक चौबारा किराया पर लेकर नियम-पूर्वक सत्संग लगाने आरम्भ कर दिये। वहाँ पर मिशन स्कूल के मुक़ाबिले में एक प्रायमरी स्कूल भी खोल दिया गया। कुछ समय व्यतीत होने के अनन्तर यहाँ एक पुरुषार्थी ओवरसीयर महाशय आये और उन्हों ने मन्दिर बनवा दिया। इस में सत्संग नियम-पूर्वक लगते हैं। ५,०००) का मन्दिर है।

१७७. डलहौज़ी (सदर बाज़ार)

१७ मई, १६२४ को श्री म० मदनजित् जो आजकल फ़ीरोज़पुर कपड़ा की दुकान करते हैं, के पुरुषार्थ से स्थापित हुई। १६२४ में आर्य समाज के वार्षिकोत्सव पर श्री पं० विष्णुदत्त एडवोकेट के निज के मन्दिर पर बल देने पर श्री म० पूर्णचन्द रईस ने एक भवन आर्य समाज को अर्पण कर दिया। आर्य समाज के प्रारम्भिक दिनों में इतने उत्साह से कार्य हुआ कि उस समय आर्य समाज का अधिकारी वह बन नहीं सकता था जो दो काल सन्ध्या

तथा एक समय हवन न करता हो। इस समाज को यह श्रेय भी प्राप्त है कि इस के उपमन्त्री म० सन्तराम और म० जगत्राम जी हरिजन हैं। सम्पत्ति की दृष्टि से समाज मन्दिर ८०००) की लागत का है। लोहाली नामक सम्पूर्ण ग्राम की शुद्धि की गई। इस के अतिरिक्त लाड तथा नूरपुर इत्यादि निकटवर्त्तीय ग्रामों में सैकड़ों शुद्धियाँ की गई हैं। समाज के आधीन एक आर्य कन्या पाठशाला है।

१७८. डस्का (सियालकोट)

यहाँ शहीद पं० लेखराम आर्य पथिक ने स्वयं सन् १८८४ में आर्य समाज की स्थापना की। १८६६ में समाज के वार्षिक उत्सव होने प्रारम्भ हो गए। समाज में प्रति दिन सत्संग लगता है। सम्पत्ति की दृष्टि से समाज मन्दिर ४०००) की लागत का है। एक पुस्तकालय भी चल रहा है।

१७६. डिंगा (गुजरात)

ला० बुलाकीराम तथा डा० गोपालदास यहाँ आर्य विचार के सज्जन थे। सभा के उपदेशक श्री पं० आर्यमुनि यहाँ पधारे और सनातनियों से शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ का ऐसा उत्तम प्रभाव पड़ा कि जून १८८९ में यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई। श्री कालूराम, ला० धनीराम, पं० भक्तराम तथा मुंशी निरञ्जनदास आर्य समाज के पुराने कार्यकर्त्ता रहे हैं। एक शास्त्रार्थ देव समाजियों के साथ हुआ। समाज का अपना मन्दिर है। सन् १९२६ में श्री पं० भक्तराम की प्रेरणा से स्वा० श्रद्धानन्द महाराज यहाँ पधारे और अपने मनोहर उपदेशों से लोगों को आनन्दित किया।

उन को गुरुकुल के लिए एक हज़ार की थैली पेश की गई। समाज के ६० सदस्य हैं। इस के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं :—

(क) कन्या पाठशाला। इसका भवन १५ हज़ार की लागत का है।

(ख) पुस्तकालय।

(ग) आर्य कुमार सभा

(घ) स्त्री समाज

१८०. डिचकोट (लायलपुर)

१८१. डेराग़ाज़ीखाँ

यहाँ भक्त रेमल के पुरुषार्थ से ३ जून १८८६ को आर्य समाज की स्थापना हुई। स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में रायसाहिब ठाकुरदत्त धवन, ई० ए० सी० तथा ला० दौलतराम डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट प्रधान रहे। समाज मन्दिर के लिए सन् १६०० में भूमि भी ख़रीदी गई। रायसाहिब ला० बिशनदास ने हाल के बनाने का सब सामान भी प्रस्तुत कर दिया परन्तु सिन्धु नदी में बाढ़ आने के कारण बड़ी विनष्टि हुई।

इस इलाक़े के लोग रूढ़ियों और भ्रमों में ग्रस्त हैं। पहले-पहल तो समाज का बड़ा विरोध हुआ। एक घटना का उल्लेख वहाँ के लोगों की प्रकृति को स्पष्ट कर देगा। एक बार जब ला० ढीलनराम के हाँ पारिवारिक यज्ञ होने लगा तो यज्ञ के स्थान पर स्त्रियों ने चारपाइयाँ बिछा दीं। सैकड़ों की संख्या में नर-नारियाँ और बच्चे उन के द्वार पर खड़े हो गए। वे आर्य समाजियों को भीतर जाने से रोकते थे। जब

पौराणिकों से और कुछ न बन पड़ा तो इन्हों ने आर्य सदस्यों पर इस बात का इस्तग़ासा दायर कर दिया कि उन्हों ने इन की स्त्रियों को छेड़ा है। क्योंकि यह सारा मामला असत्य तथा कृत्रिम था अतः उन को मुँह की खानी पड़ी। डिप्टी कमिश्नर ने पोलीस नियत कर दी ताकि भविष्य में यज्ञ में किसी प्रकार का क्षोभ न पड़े। इस घटना की भाँति एक अन्य अवसर पर भी ऐसा ही हुआ। १६०२ में दीवान चूहड़लाल के पुत्र दीवान कँवर भान के मुण्डन संस्कार के अवसर पर पोलीस के कप्तान को स्वयं आना पड़ा।

यह समाज प्रचार, शास्त्रार्थ तथा शुद्धि आदि कई प्रकृतियों का कार्य करता रहा है सन् १८६३ में पं० पूर्णानन्द छः मास इस के पुरोहित रहे। इस के सभासद मा० हाकमराय ने १८६० के लगभग पादरी खड्गसिंह के साथ शास्त्रार्थ किया। पुनः १८६५ में पं० लेखराम ने पादरी अब्दुल क़ादरशाह के साथ शास्त्रार्थ किया। यह प्रदेश यवन-प्रधान है अतः जो लोग मुसलमान हो जाते हैं उन को पुनः अपने धर्म में लौटाने में समाज को सफलता प्राप्त हुई है। आजकल समाज का बड़ा सुन्दर मन्दिर बना हुआ है। १६२४ से पं० वासुदेव विद्यालंकार अवैतनिक पुरोहित के रूप में समाज की सेवा कर रहे हैं। रायसाहिब ला० गणेशदास रत्तड़ा, रिटायर्ड डिप्टी सुपरिन्टैण्डैण्ट पोलीस, चौ० जैमिनीदास तथा पं० वेदव्रत अपने उपदेशों और व्याख्यानों द्वारा समाज की सेवा करते रहे हैं। श्री प्रीतमदास टण्डन, श्रीमती द्वारी बाई,

श्रीमती चतनी बाई, श्री मुखी ताराचन्द, श्रीमती शानमो बाई, ला० आत्माराम, ला० डोगरराम आदि महानुभावों ने समाज मन्दिर के लिए आर्थिक सहायता की। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं :—

(क) आर्य पुत्री पाठशाला। इस की स्थापना जनवरी १६०७ में हुई। आरम्भ में ६५ कन्याएँ इस में प्रविष्ट हुईं। यह संख्या बढ़ते-बढ़ते अब ४०० तक पहुँच गई है। शाला में शिल्प की भी शिक्षा दी जाती है। दर्जी श्रेणी अपना एक विशेष महत्व रखती है।

(ख) पुस्तकालय।

आर्य समाज ने १६१६ में एक ए० एस० हाई स्कूल की स्थापना की थी। इस स्कूल को खोलने की आवश्यकता इस लिए पड़ी थी कि वहाँ क एक-मात्र गौरमैंट हाई स्कूल में मुसलमान अध्यापकों की अधिकता थी और विद्यार्थी इस्लाम को स्वीकार करते जा रहे थे। पश्चात् १६२८ में धनाभाव से और आवश्यकता के न रहने से स्कूल बन्द कर दिया गया।

१८२. डेरागोपीपुर (कांगड़ा)

यहाँ ला० किशोरीलाल सूद रईस के पुरुषार्थ से जनवरी १६१५ को आर्य समाज की स्थापना हुई। परन्तु १६१८ में ही उस की अवस्था शिथिल पड़ गई। उस वर्ष कांगड़ा का डिप्टी कमिश्नर यहाँ आया और उस ने पुस्तकालय में महा० गान्धी, महा० तिलक, ला० लाजपतराय आदि महापुरुषों के चित्र देखे और उन को उतरवा दिया। पुस्तकालय

को बन्द करवा कर पोलीस का पहरा लगवा दिया। पुस्तकालय की तलाशी ली गई। समाज के सभासदों को डराया गया। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के हैड मास्टर को मुअत्तल कर दिया गया। ला० किशोरीलाल को हिरास्त में ले लिया गया। अन्ततः फ़हमाइश के अनन्तर सब को छोड़ दिया गया। इस प्रकार के कष्ट से समाज का कार्य दो वर्ष पर्यन्त स्थगित रहा। पुनः १६१६ में समाज की उन्नति होने लगी।

समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं।

(क) जानकी कन्या पाठशाला। ला० किशोरीलाल रईस ने अपनी स्वर्गीय माता श्रीमती जानकी की स्मृति में मार्च १६१६ में शाला की स्थापना की। यह शाला पांचवीं श्रेणी तक है। इसमें कन्या महाविद्यालय की पाठविधि के अनुसार शिक्षा दी जाती है। इस में ५० कन्याएँ शिक्षा पाती हैं। अब इस का प्रबन्ध एक ट्रस्ट के आधीन चल रहा है।

(ख) पुस्तकालय व वाचनालय। यह १६१७ से ला० किशोरीलाल रईस के नाम पर चल रहा है।

(ग) आर्य युवक समाज। श्री परसराम विद्यार्थी बी० ए० क्लास डी० ए० वी० कालेज लाहौर के पुरुषार्थ से जुलाई १६३३ में यह युवक समाज स्थापित हुआ।

१६१६ में समाज को शिथिल अवस्था से उन्नत अवस्था में लाने के लिए एक एंग्लो संस्कृत हाई स्कूल की स्थापना की गई। पश्चात् डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने अपना एक अंग्रेजी स्कूल यहाँ खोल दिया। इस से आर्य स्कूल को बड़ी हानि पहुँची और बाधित हो कर इस को १६३३ में बन्द करना पड़ा।

१८३. डेराबाबानानक (गुरुदासपुर)

यहाँ कुछ समय तक आर्य समाज की चर्चा चलती रही। मन्दिर के अभाव से कभी प्रचार शिथिल हो जाता था। लगभग १२ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं बद्री गोपालदास, मास्टर अमरचन्द और ला० गोविन्दराम सराफ़ के प्रयत्न से नगर के मध्य में डेढ़ कनाल भूमि लेकर आर्य समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। दोनों समय सत्संग लगता है।

१८४. तख़्तहज़ारा (सरगोधा)

यहाँ पहले-पहल श्री प्रभुदयाल ने आर्य सामाजिक विचारों का प्रचार सं० १९५८ में करना प्रारम्भ किया। पश्चात् सं० १९६५ में पं० भोजराजेश्वर यहाँ पधारे और मूर्त्ति-पूजा के खण्डन पर व्याख्यान दिया। इस अवसर पर पौराणिकों ने खूब हल्ला किया। सनातनियों के उकसाने पर एक महन्त का चेला डण्डा ले कर आया और खूब गालियाँ निकालने लगा। अस्तु। पण्डित जी के प्रचार के अनन्तर आर्य समाज की स्थापना हुई। आर्य समाज के प्रचार से नगर में वैदिक विचारों का खूब प्रसार हो गया है। यहाँ के नर-नारी, बाल-वृद्ध लगभग सब के सब गायत्री मन्त्र जानते हैं। सन्ध्या करने वालों की भी पर्याप्त संख्या हो गई है। समाज ने प्रचार कार्य के अतिरिक्त शुद्धि कार्य को भी अपने हाथ में लिया है।

यहाँ की एक घटना उल्लेखनीय है। म० प्रभुदयाल के हाँ पुत्र उत्पन्न हुआ। उन्होंने उसका नाम ओम्प्रकाश

रखा। पण्डितों ने इस पर आपत्ति की और कहा कि इस प्रकार के नाम रखने का विधान हिन्दू शास्त्रों में कहीं नहीं पाया जाता। विरोध इतना हुआ कि लोगों ने महाशय जी को उस दुकान से हटवा देने का प्रयत्न किया जहां वे काम करते थे। इन को कई तरह के कष्ट दिये गए। अन्ततः एक समीपस्थ ग्राम के निवासी जो संस्कृत-वेत्ता थे उनके यह कहने पर कि ओम्प्रकाश नाम बड़ा उत्तम है यह विरोध शान्त हुआ।

१८५. तरनतारन (अमृतसर)

१८६. तलवण्डी भिण्डराँ (सियालकोट)

१८७. तलवण्डी मलक (पटियाला)

१८८. तलवण्डी साबू (पटियाला)

यहाँ सं० १९६० में आर्य समाज की स्थापना हुई। समाज का प्रथम वार्षिक उत्सव १९६४ में हुआ। इस अवसर पर पौराणिकों और सिक्खों ने बड़ा विरोध किया। ला० सोभाराम ने समाज मन्दिर के लिए भूमि दान की और सं० १९८१ में इस का निर्माण हो गया। सम्पत्ति की दृष्टि से यह एक हज़ार की लागत का है। समाज के काम की ख़ातिर म० परसराम और म० रौनकराम को सन् १९०७ में तीन मास जेल में रहना पड़ा।

१८९. तलवन (जलन्धर)

इस नगर को श्रद्धेय स्वा० श्रद्धानन्द जी महाराज की जन्म-भूमि होने का श्रेय प्राप्त है। स्वामी जी महाराज ने यहां आर्य

समाज का बीज बोया। पश्चात् उन के सुपुत्र प्रो० इन्द्र ने भी इस को पुष्पित किया। पुनः दस वर्ष हुए सभा के भजनीक म० सालिगराम ने कुछ समय से शिथिल हुए समाज को पुनरुज्जीवित किया। समाज की स्थापना में सर्वश्री देवराज, सन्तराम, हक़ीक़तराय और प्रीतमचन्द ने प्रयत्न किया। म० मन्शाराम इस के उत्साही मन्त्री हैं। इस में साप्ताहिक सत्संग नियम-पूर्वक लगते हैं। इस के आधीन एक श्रद्धानन्द पुत्री पाठशाला चल रही है।

१९०. तलागंग (कैमलपुर)

यहाँ तीस वर्ष हुए सभा के उपदेशक पं० भोजराजेश्वर प्रचारार्थ पधारे। पश्चात् डा० अमरनाथ के प्रयत्न से यहाँ आर्य विचारों का प्रचार होता रहा। २५ फ़रवरी १९२० को हकीम कृष्णलाल के घर पर ही आर्य समाज की स्थापना हुई। महता गंगाराम उस समय के उत्साही कार्यकर्त्ता रहे हैं। समाज मन्दिर का भी निर्माण हो गया। श्रीमती मंगलादेवी ने १८७३) की लागत से एक कूप बनवा दिया। समाज की सम्पत्ति १६,०००) के क़रीब है। गत तीन वर्षों से दैनिक सत्संग लगते हैं। सभासदों की संख्या एक सौ है। समाज शुद्धि का कार्य भी करता रहा है। सर्वश्री मानकचन्द, सन्तराम, शिवराम, जीवनमल इस के उत्साही कार्यकर्त्ता रहे हैं।

समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं।

(क) आर्य सहायक सभा। इस सभा का उद्देश्य दुःखितों, अनाथों और विधवाओं की सहायता करना है।

(ख) आर्य वीर दल।

(ग) आर्य स्त्री समाज।

(घ) पुस्तकालय तथा वाचनालय।

एक आर्य पुत्री पाठशाला सन् १९२३ में स्थापित की गई थी। यह शाला १९३३ तक चली। पश्चात् डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की नई स्कीम के अनुसार सब पाठशालाएँ मिला कर एक मिडिल पाठशाला बना दी गई।

१९१. तान्दलियाँवाला (लायलपुर)

१९२. तावडू (गुड़गांवाँ)

१९३. तीमारपुर (देहली)

१९४. तुलम्बा (मुलतान)

१९५. तौंसा (डेरागाज़ीख़ान)

प्रो० गोवर्धन शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल० के पुरुषार्थ से सन् १९२१ में आर्य समाज स्थापित हुआ। ला० हेतराम, रीटायर्ड दरोगा जेल ने इस इलाके में प्रचार कार्य बड़े उत्साह से किया है।

१९६. त्राप (अटक)

१९७. थल (कोहाट)

१९८. थानेश्वर (करनाल)

यहाँ इकतालीस वर्ष से आर्य समाज स्थापित है। ला० काकाराम रईस समाज के प्रधान थे। ला० भागीरथमल रईस भी समाज का काम करने वाले सज्जन थे। सन् १९०७ में पं० गणपति शर्मा ने पौराणिक पं० गरुड़ध्वज शास्त्री के

साथ शास्त्रार्थ किया। इस का प्रभाव आर्य समाज के पक्ष में इतना उत्तम रहा कि इस से प्रेरित होकर प्रसिद्ध दानवीर ला० ज्योतिप्रसाद रईस अग्रवाल ने दस हज़ार नकद और पन्द्रह सौ बीघे भूमि दे कर गुरुकुल काँगड़ी की शाखा गुरुकुल कुरुक्षेत्र सन् १९१२ में स्थापित की। दानवीर ला० भागीरथमल अग्रवाल ने भी अपनी सम्पत्ति अर्पण कर दी। इस गुरुकुल का उद्घाटन श्री स्वा० श्रद्धानन्द जी महाराज के करकमलों द्वारा हुआ। आर्य समाज ने कई जन्म के मुसलमानों और ईसाइयों की शुद्धि की है। दिसम्बर १९३२ में आर्य कन्या पाठशाला की स्थापना की गई। इस में ६५ कन्याएँ शिक्षा पाती हैं। आजकल ला० लज्जाराम समाज के उत्साही प्रधान हैं।

१९९. दसूआ (होशयारपुर)

२००. दाजल (डेरागाज़ीखाँ)

२०१. दातारपुर (होशयारपुर)

२०२. दारा दीनपनाह (मुज़फ़्फ़गढ़)

यहाँ भक्त आयाराम और पं० बालकराम की लग्न और पुरुषार्थ से समाज का बीज सन् १८८६ के क़रीब पड़ा। श्री लेखराम इस के उत्साही कार्यकर्त्ता रहे हैं। समाज के आधीन एक पुत्री पाठशाला और एक धमार्थ औषधालय चलता रहा है।

२०३. दीनानगर (गुरुदासपुर)

सन् १८८३ में स्वा० आत्माराम के प्रचार से यहाँ आर्य

समाज की स्थापना हो गई। ला० दासामल, ला० कश्मीरामल तथा श्री गौरीशंकर उस समय आर्य समाज का कार्य लग्न से करने वाले थे। १८८७ में आर्य समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव हुआ। इस में पं० आर्यमुनि पं० हरनामसिंह, मा० दुर्गाप्रसाद, मा० आत्माराम तथा म० चिरञ्जीलाल प्रचारार्थ पधारे। १८८८ के उत्सव में महात्मा मुंशीराम, ला० देवराज, मियाँ जनमेजा (सुकेत राज्य), स्वा० स्वात्मानन्द, स्वा० कृष्णानन्द आदि महानुभावों ने अपने उपदेश सुनाए। पं० पूर्णानन्द के प्रचार का हैडक्वार्टर दीनानगर था। ला० कश्मीरामल ने एक मकान आर्य समाज को दान कर दिया जिस पर समाज ने और व्यय कर के अब एक सुन्दर मन्दिर बना लिया है। १८८९ में पं० आर्यमुनि ने मूर्त्ति-पूजा पर सनातनियों से शास्त्रार्थ किया जिस का बड़ा उत्तम प्रभाव रहा। दीनानगर शास्त्रार्थों के लिए प्रसिद्ध चला आ रहा है। एडवार्ड धर्मार्थ औषधालय के नाम से एक औषधालय समाज के आधीन १९१० से १९१२ तक चलता रहा।

अछूतोद्धार का कार्य आर्य समाज दीनानगर ने पहले-पहल ज़ोर से प्रारम्भ किया। १८९३-९४ में माधोपुर (गुरुदासपुर) में रहतियों की बस्ती में शुद्धि की गई। इस में लाहौर से बा० तेजासिंह तथा बा० कालीप्रसन्न सहायक सम्पादक ट्रिब्यून सहायतार्थ यहाँ पधारे। यहाँ म० रौनक-राम तथा म० गोकुलराम निर्वाह-मात्र लेकर बहुत काल तक ख़ूब प्रचार करते रहे। श्री महा० मुन्शीराम तथा श्री पं०

रामभजदत्त की उपस्थिति में २८, २६ जुलाई १६१२ में ९०० अछूत भाइयों का शुद्धि संस्कार बड़े समारोह से मनाया गया। तब से वे "महाशय" नाम से पुकारे जाने लगे। इस समारोह में ला० वज़ीरचन्द्र वकील (रावलपिण्डी), प्रो० बालकृष्ण एम०ए०, स्वा० परमानन्द तथा ठा० प्रवीणसिंह भी सम्मिलित हुए। इस समय के प्रधान ला० निहालचन्द तथा मन्त्री ला० लच्छमनदास बड़े पुरुषार्थी कार्यकर्त्ता थे। इस समय ज़िला गुरुदासपुर में डूमना बिरादरी का एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं जो शुद्ध न हो चुका हो। पं० रामभजदत्त शुद्धि कार्य के अग्रसर नेता थे। ज़िला-भर में शुद्धि का केन्द्र दीनानगर ही है।

२६, २७ जुलाई १६२९ में म० कृष्ण की अध्यक्षता में एक नवयुवक कान्फ्रेंस बड़े समारोह से हुई। इसमें हज़ारों नर-नारियाँ सम्मिलित हुईं। प्रधान का जुलूस आध मील लम्बा था। दयानन्द दलितोद्धार सभा की ओर से यहाँ एक मण्डल क़ायम है जिस में दो तीन प्रचारक कार्य करते हैं। इस के अधिष्ठाता श्री गौरीशंकर हैं। इस के आधीन 'मराड़ा' ग्राम में महाशय लोगों के लिए एक हिन्दी पाठशाला चल रही है। महाशयों के बालकों के लिए "ठाकुरदत्त चैरिटेबल इण्डस्ट्रीज़", गुरुदत्त भवन लाहौर की एक शाखा खोल दी गई है जिस में तरखाना काम सिखाया जाता है। समाज के सदस्यों की संख्या ३६ है।

२०४. दीपालपुर (मिण्टगुमरी)

१६०२ में मुन्शी सुखरामदास, ला० लच्छमनदास,

मलहोतरा, बा० परमेश्वरीदास आदि महानुभाव इकट्ठे हो कर एक स्थान पर मिल कर सन्ध्या किया करते थे। उन्हीं दिनों भूमि भी मन्दिर के लिए खरीदी गई और आर्य समाज की स्थापना हो गई। परन्तु सदस्यों के तबदील हो जाने पर समाज शिथिल पड़ गया। पुनः १६३२ में म० नन्द-लाल पटवारी, डा० जयदयाल, म० सूरतराम पटवारी ने मिल कर समाज को पुनरुज्जीवित किया। मन्दिर के अभाव होने के कारण साप्ताहिक सत्संग डा० जयदयाल के घर पर ही लगते रहे। अब मन्दिर का निर्माण हो गया है। यहाँ सभा के भजनीक तथा उपदेशक समय-समय पर पधार कर प्रचार करते रहे हैं। आर्य समाज के ४० सभासद हैं।

२०५. दुनियापुर (मुलतान)

२०६. दूधोचक (गुरुदासपुर)

आर्य समाज दूधोचक की स्थापना पं० सुखरामदास जी ने की। आर्य समाज ने शुद्धि का कार्य बड़े प्रयत्न से किया है। सन् १६१६ में ७५ पुरुष, ४० स्त्रियाँ और ८ बालक जो दलित जाति के थे, की शुद्धि की गई। समाज का अपना मन्दिर बन गया है। श्री पं० हरिश्चन्द्र, म० फ़क़ीर-चन्द, मुन्शी देवराम, श्रीमती मालनदेवी तथा म० फ़कीर-चन्द महाजन ने आर्थिक सहायता की। श्री स्वामी धीरानन्द जी द्वारा स्थापित एक पाठशाला समाज के आधीन कार्य कर रही है। यह शाला माघ सं० १६८७ को उद्घाटित की गई।

२०७. दौलतपुर (गुजरात)

२०८. देहली [करौलबाग़]

जनवरी १६३१ को आर्य समाज की स्थापना हुई। समाज की ओर से एक पुत्री पाठशाला चल रही है। इस में अधिकतर दलित जातियों की कन्याएँ पढ़ती हैं। यहाँ दलित जातियों में समाज ने काफ़ी काम किया है। कई स्त्रियों को विधर्मियों के पंजे से बचाया गया है। दिवंगत ला० गोविन्दराम समाज के बड़े उत्साही कार्यकर्त्ता थे।

२०६. देहली [चावड़ी बाज़ार]

२१०. देहली [नया बांस]

२११. देहली [हनुमान रोड]

यह समाज ८ जनवरी १६२० को आर्य समाज रायसीना के नाम से श्रीयुत ला० श्रद्धाराम के निवास स्थान पर श्री स्वा० अच्युतानन्द तथा श्री पं० रामचन्द्र देहलवी की उपस्थित में स्थापित हुआ और १८ सभासद् बनाये गए जिन में श्री श्रद्धाराम प्रधान तथा म० हरनारायणसिंह वर्मा मन्त्री नियत हुए।

जब से यह समाज स्थापित हुआ तब से ही समाज मन्दिर के लिए सरकार से भूमि लेने का यत्न होता रहा, परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी इस में सफलता प्राप्त न हुई। अन्त में १६२८ में हनुमान रोड पर स्थित वर्तमान भूमि श्री ला० नारायणदत्त के प्रयत्नों से ६०००) में प्राप्त हुई। इस भूमि पर वर्तमान समाज मन्दिर दिसम्बर सन् १६३३ में बन कर तय्यार हो गया। मन्दिर पर कुल लागत ५५०००) आई जिस को श्रीमती सतभ्रांवादेवी धर्मपत्नी स्वर्गीय श्री

ला० दीवानचन्द रईस नई देहली ने अत्यन्त उदारता-पूर्वक देना स्वीकार कर लिया और समाज मन्दिर को अपने स्वर्गीय पति का स्मारक बना दिया। इस मन्दिर का उद्घाटन श्री महात्मा नारायणस्वामी प्रधान सार्वदेशिक के कर-कमलों से १० दिसम्बर १६३३ को हुआ। इस समाज में दिसम्बर १६३४ तक श्री पं० सत्यानन्द विद्यालंकार पुरोहित रहे। वर्तमान पुरोहित श्री पं० चन्द्रभानु सिद्धान्तभूषण हैं। समाज का वर्तमान वार्षिक व्यय लगभग ४०००) है।

सितम्बर १९२५ में आर्य पुत्री पाठशाला जारी की गई, जिस में इस समय मिडिल विभाग तक शिक्षा दी जाती है। ४ अध्यापिकाएँ हैं, और १०० कन्याएँ शिक्षा पाती हैं। वार्षिक व्यय २५००) के लगभग होता है।

८ मार्च १६२३ की साधारण सभा में इस समाज का सम्बन्ध आ० प्र० सभा पंजाब से किया जाना स्वीकार हुआ और सब से पहले प्रतिनिधि ला० मंगराम व पं० बालकृष्ण चुने गये। अप्रैल १६२३ में मलकानों की शुद्धि के लिए विशेष आन्दोलन हुआ और हैवलक स्क्वेयर में श्री स्वा० स्वतन्त्रानन्द व स्वा० सत्यानन्द की उपस्थिति में कई स्त्री व पुरुषों की शुद्धि की गई तथा अपील पर शुद्धि फण्ड के लिए लगभग १०००) जमा हुए। जनवरी १६२४ में अछूतोद्धार के प्रचारार्थ पं० छेदीलाल को रखा गया था और पं० धर्मचन्द्र की अध्यक्षता में वैदिक औषधालय खोला गया, प्रारम्भ में पंडित जी की सहायता के अतिरिक्त १५) मासिक का व्यय तथा औषधियों के लिए १००) की स्वीकृति हुई।

२१२. दौलतनगर (गुजरात)

आर्य समाज की स्थापना के पूर्व यहाँ कई सज्जनों के पुरुषार्थ से एक आर्य मिडिल स्कूल १० वर्ष तक चलता रहा। १९०७ में आर्य समाज मन्दिर ढ़ाई हज़ार की लागत से तय्यार हुआ। सन् १९३० में इस समाज का वार्षिक उत्सव हुआ। सन् १९०५ में पं० पूर्णानन्द ने बरकतराम ज़रगर को, जो मुसलमान हो चुका था, शुद्ध किया। सन् १९१० में गुलाबू नामक मेघ की शुद्धि की गई। उस की मृत्यु हो जाने पर सनातनियों ने उस की लाश को श्मशान भूमि में जलाने से रोका जिस पर आर्य वीरों ने भय-रहित हो कर उस का श्मशान भूमि में दाह संस्कार किया और सनातनी देखते रह गये। आर्यों का बायकाट हो जाने पर भी वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। सन् १९१३ में सनातनियों के साथ एक बड़ा भारी शास्त्रार्थ हुआ। आर्य समाज की ओर से पं० चाननराम तथा पं० राजाराम थे। १९१७ में एक जन्म से मुसलमान देवी की शुद्धि की गई।

यहाँ पं० गणपति शर्म्मा, पं० पूर्णानन्द, पं० भोजदत्त आदि उपदेशक महानुभाव प्रचारार्थ पधारते रहे हैं। समाज के आधीन एक पुस्तकालय है। स्त्री समाज के भी सत्संग लगते हैं। इस समय समाज के ३० सभासद हैं। समाज के प्रधान म० काशीराम साहूकार तथा मुं० गोपालसिंह वानप्रस्थी मन्त्री हैं।

२१३. धमतान (पटियाला)

२१४. धर्मकोट (फ़ीरोज़पुर)

२१५. धर्मकोटरन्धावा (गुरुदासपुर)

जनवरी १९१३ को श्री म० बूआदित्तामल, श्री म० काशीराम और म० पूर्णचन्द के लगातार उत्साह से आर्य समाज की यहाँ स्थापना हुई।

अक्टूबर १९१४ में दशहरा के दिनों में म० लभूराम नामक एक शुद्ध हुआ मेघ यहाँ मेला देखने आया। म० पूर्णचन्द ने उसे अपने हाँ चौके में बिठा कर भोजन कराया। बिरादरी ने निश्चय किया कि महाशय जी के अतिरिक्त म० काशीराम और ला० हज़ारीमल का बायकाट कर दिया जाय और इन्हें कुओं से पानी न लेने दिया जाय। इन्हें क्षमा मांगने के लिये कहा गया परन्तु ये दृढ़-व्रती कहाँ मानने वाले थे। १९७१ में एक हिन्दू युवक को जो प्रेम-बद्ध एक युवती के साथ मुसलमान होना चाहता था बचाया गया और उस युवती को शुद्ध कर के उसका उस से विवाह करवा दिया गया। इस शुद्धि कराने में म० बूआदित्तामल और पं० भूमानन्द आर्योपदेशक का हाथ था। इस शुद्धि से इलाके में तहलका मच गया। म० पूर्णचन्द का जिनका इस इलाके में लेन-देन था, बड़ा विरोध किया गया। इनका पानी तक बन्द किया जाने लगा परन्तु इनके छोटे भाई म० अनन्तराम ने बाज़ार में विरोधियों को ललकार कर उनका मुँह बन्द कर दिया और पानी घर में ले आए। सं० १९७५ से साप्ताहिक सत्संग नियम-पूर्वक होते चले आ रहे हैं। सभासदों की संख्या २७ तक पहुँच गई है।

श्री स्वामी विज्ञानानन्द जो आर्य जगत् में एक प्रख्यात

संन्यासी हैं उनका पहला घर यही है। वे जन्म के मुसलमान थे। बाल्य काल में ही उनको वैदिक धर्म की पुस्तकें पढ़ने का शौक हो गया था। श्री म० काशीराम तथा म० पूर्णचन्द के सत्संग से उन्हों ने इसलाम को तिलाञ्जलि दे दी। विद्योपार्जन के लिए वे गुरुकुल चोहाभक्ताँ तथा काशी भी गए। आप यहाँ समय-समय पर प्रचार करते रहे हैं।

सन् १९२० में आर्य युवक समाज बना और तीन वर्ष तक चलता रहा। सं० १९७७ में एक पुत्री पाठशाला खोल दी गई। तीन वर्ष तक यह भली भांति चली पश्चात् अध्यापिका के न मिलने के कारण कार्य कुछ शिथिल पड़ गया। सं० १९८१ में शाला को पुनरुज्जीवित किया गया। आजकल ८२ कन्याएँ इस में शिक्षा पा रही हैं। सं० १९८४ में म० काशीराम का स्वर्गवास हो गया। उनके दिए गए ७१००) के दान में उनके नाम पर आर्य पुत्री पाठशाला का नाम रखा गया। १९८० में समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। इस पर तेरह सौ रुपये के लगभग व्यय हुआ है। सं० १९८५ में समाज का पहला उत्सव हुआ। इस उत्सव पर पं० धर्मभिक्षु, पं० सत्यदेव आर्य मुनाज़िर तथा पं० जगदीशचन्द्र अरबी के विद्वान् पधारे। मुसलमानों से शास्त्रार्थ होना निश्चित हुआ। शास्त्रार्थ तो न हुआ परन्तु आर्योपदेशकों के व्याख्यानों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि समाज के छः सदस्य और बन गए। सं० १९८९ में पं० दौलतराम शास्त्री का सनातनियों से शास्त्रार्थ हुआ। इस

वर्ष पं० सत्यदेव आर्य मुसाफ़िर का ईसाइयों से शास्त्रार्थ हुआ। इन सब शास्त्रार्थों में वैदिक धर्म की जय हुई।

आजकल समाज के २६ सदस्य हैं। इनके अतिरिक्त कई सहायक हैं। यहाँ का उत्सव बड़े रौनक वाला होता है।

२१६. धर्मपुर (शिमला)

डा० द्वारकानाथ कुमार एम० डी० के पुरुषार्थ से यहाँ मई १९२६ में आर्य समाज की स्थापना हुई। इसके पश्चात् पं० रामनाथ बाली एस० डी० सी०, श्री केशोराम, पं० जगदीशचन्द्र कोशल, एम० डी० सी०, पं० दौलतराम पोस्ट मास्टर यहाँ समय-समय पर बड़ी लग्न से काम करते रहे।

२१७. धर्मशाला (कांगड़ा)

२१८. धारीवाल (गुरुदासपुर)

२१९. नकोदर (जलन्धर)

२२०. नज़फ़गढ़ (देहली)

२२१, ननकाना साहिब (शेखूपुरा)

श्री मेलाराम, श्री डा० सोहनामल और श्री लखमीदास के पुरुषार्थ से १९ अप्रैल, १९२५ को आर्य समाज स्थापित हुआ। समाज आरम्भ से ही शुद्धि का कार्य करता रहा है। २१ जून १९२५ को 'टीला' ग्राम निवासी १६ बटवालों की शुद्धि की गई। २७ अप्रैल १९२७ को चमारों की शुद्धि की गई। इस अवसर पर सनातनियों की ओर से घोर विरोध हुआ। चक नं० ५६२ में २, ३ सितम्बर १९३४ को बटवालों की शुद्धि की गई। इस स्थान पर

मुसलमानों ने अनेक बाधाएँ डालीं। परन्तु बड़ी सफलता से २५० व्यक्तियों की शुद्धि की गई। अब तक इस समाज ने २८८ बटवाल, १२ नवीन मुसलिम, १५ चमार, ५ डोम, २२ जाट और २ ईसाई अर्थात् कुल ३४४ व्यक्ति शुद्ध किए हैं। मन्दिर के लिए केवल भूमि खरीदी हुई है।

२२२. नरवाना (पटियाला)

२२३. नरेला (देहली)

लगभग सन् १९१४ में आर्य समाज की स्थापना हुई। पुनः समाज की अवस्था के कुछ शिथिल हो जाने पर १९३१में इसको पुनरुज्जीवित किया गया। २७ मार्च, १९३३ को श्री नारायणस्वामी जी के करकमलों से समाज मन्दिर की आधार शिला रखी गई। साप्ताहिक सत्संग नियम से लगते हैं। समय-समय पर प्रचारक रख कर ग्रामों में भी प्रचार कराया जाता है। पर्व नियम-पूर्वक मनाये जाते हैं। गत चार-पांच वर्ष के समय में आर्य समाज ने कई कान्फ्रैंसें की हैं। इन कान्फ्रैंसों में महात्मा गान्धी, श्री पटेल, श्री राजगोपालाचार्य तथा पं० जवाहरलाल सरीखे नेताओं ने व्याख्यान दिये हैं। प्रचार को सुदृढ़ करने के लिए निम्न संस्थाएँ बनी हैं।

(क) आर्य वीर दल। यह कई वर्षों से स्थापित है। देहातों में प्रचार करने में इसका बड़ा हाथ है। सेवा के लिए यह निर्वाण अर्द्ध-शताब्दी अजमेर भी गया था।

(ख) पुस्तकालय तथा वाचनालय। पुस्तकालय गत सात वर्षों से चल रहा है।

(ग) आर्य कुमार सभा। कई वर्षों से यहाँ यह सभा स्थापित है।

(घ) व्यायामशाला। ब्रह्मचर्य के प्रचार के लिए एक व्यायामशाला स्थापित है।

(ङ) रात्रि-पाठशाला। बहुत से अनपढ़ भाई और कई हरिजन इस से लाभ उठाते हैं। निर्धन विद्यार्थियों को पुस्तकें मुफ़्त दी जाती हैं।

(च) शिल्प-शिक्षणालय। समाज की ओर से जिल्द साज़ी, साबुन साज़ी आदि का कार्य सिखाया जाता है।

यहाँ कुछ देर तक एक औषधालय भी चलता रहा। समाज की ओर से जनता में औषधियाँ बाँटी जाती थीं।

इस समय तक आर्य समाज ने लगभग २०० वैदिक संस्कार करवाये हैं।

नरेला में तथा बाहिर ग्रामों में कई सौ हरिजनों की जो ईसाई हो गए थे शुद्धि की गई। नव मुसलिमों की भी शुद्धि की गई। दलितों के उद्धार के लिए कई एक सहभोज और कान्फ्रेन्सें की गई हैं।

आर्य समाज का मन्दिर अपना है जिसकी भूमि १॥ बीघ से अधिक है। यह भूमि चौ० कनकसिंह ने आर्य समाज को प्रदान की है।

श्री दीनदयाल आर्य तथा श्री भगवान्‌सिंह आर्य समाज की सेवा करने में अग्रेसर नवयुवक हैं।

२२४. नरोट जैमलसिंह (गुरुदासपुर)

२२५. नवांशहर (जलन्धर)

आर्य समाज नवांशहर सन् १८९७ में स्थापित हुआ। उस समय ला० पोहुमल, अरायज़नवीस, ला० दुर्गादास अरायज़नवीस तथा ला० काशीराम लीडर कार्यकर्त्ता थे। ला० मुंशीराम, ला० देवराज तथा पं० पूर्णानन्द आदि महानुभाव यहाँ प्रचारार्थ पधारते रहे हैं। इन्होंने पं०ज्वालाप्रसाद तथा पं० भीमसेन से शास्त्रार्थ भी किये हैं। यहाँ पौराणिकों के साथ बड़ा विरोध रहा है। एक वार आर्यों ने प्रीति भोजन किया और उस में शुद्ध हुए रहतिये भी सम्मिलित हुए। पौराणिकों ने आर्यों के घरों में पुरोहितों का आना-जाना बन्द कर दिया। ऐसी ही एक और घटना है। ला० चरणदास, ला०सखीचन्द और एक अन्य सज्जन जब आस्ट्रेलिया से लौटे तो पौराणिकों ने उनका तथा उनसे मेल-जोल रखनेवालों का बहिष्कार कर दिया। परन्तु आर्य वीर कभी इन बातों से नहीं घबराये।

ला० हंसराज चोपड़ा ने अपने आप को फ़ौज में आर्य लिखवाया। नौकरी भले छोड़ दी परन्तु आर्यत्व का अभिमान नहीं छोड़ा।

२२६. नाभा

यहाँ १ वैशाख १९८२ को आर्य समाज की स्थापना हुई। समाज तथा स्त्री समाज के साप्ताहिक सत्संग लगते हैं। समाज के ४४ सदस्य हैं। ला० शिवराम ने १५७≈॥) दान करके धनदेवी आर्य भवन बनवाया। मन्दिर पर २१९७॥)॥ व्यय हुआ है। पाठ शाला के भवन पर ६३०)

व्यय हुए हैं जो ला० बनारसीदास से दानरूप में प्राप्त हुए। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं।

(क) मिडिल स्कूल।

(ख) कन्या पाठशाला।

(ग) पुस्तकालय।

२२७. नारनौल (पटियाला)

२२८. नारायणगढ़ (अम्बाला)

२२६. नारोवाल (सियालकोट)

२३०. नाहन

२३१. नूरकोट (गुरुदासपुर)

२३२. नूरदी (अमृतसर)

२३३. नूरपुर (काँगड़ा)

२३४. नूरमहल (जलन्धर)

जून ४, १८६० में महात्मा मुंशीराम, ला० देवराज, ला० काशीराम हैडमास्टर द्वाबा हाई स्कूल जलन्धर तथा कई अन्य सज्जनों के प्रचार से यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई। उस समय ला० तुलसीराम तथा ला० दौलतराम समाज के कार्यकर्त्ता थे। हिन्दुओं की ओर से विरोध कड़ा था। इससे समाज में कुछ शिथिलता आ गई। १९०६ में पुनः जागृति उत्पन्न हुई। स्वा० योगेन्द्रपाल यहाँ प्रचार कर गए हैं। १९०६ में यहाँ रहतिया लोगों की शुद्धि की गई। पौराणिकों ने विरोध किया और आर्यों का बायकाट कर दिया। स्वा० योगेन्द्रपाल ने एक जाट कुल को बाल-बच्चे समेत शुद्ध किया

जिससे विरोध की अग्नि .खूब प्रचण्ड हुई। इन दिनों यहाँ उपदेशकों को मँगवाकर खूब प्रचार करवाया गया। रात के १२-१२ बजे तक सहस्रों नर-नारियों की प्रचार में उपस्थिति होती थी। समाज के उत्सवों पर स्वा० सत्यानन्द, स्वा० ओंकार सच्चिदानन्द, पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ, पं० वासुदेव भजनीक, ठाकुर प्रवीणसिंह, भक्त मंगतराम यहाँ प्रचारार्थ आते रहे हैं। ला० देवराज भी कन्या महाविद्यालय की छात्राओं सहित यहाँ पधारे। इस प्रचार से सनातन धर्म में विरोध उत्पन्न हुआ। आर्य समाज के आधीन जारी हुए स्कूल में शुद्ध बालकों को प्रविष्ट होते देख सनातनियों ने अपना नया स्कूल खोला जो ग्यारह वर्ष चल कर बन्द हो गया। समाज के साप्ताहिक तथा वार्षिक उत्सव नियम-पूर्वक होते हैं।

२३५. नूरशाह (मिण्टगुमरी)

२३६. नौनार (सियालकोट)

यहाँ १ वैशाख १९८९ को आर्य समाज स्थापित हुआ। सभा के उपदेशक पं० जगन्नाथ की प्रेरणा से श्रीमती कौड़ा-देवी ने अपना मकान आर्य समाज को दान कर दिया। आर्य सदस्यों ने इस मकान को बेच कर एक अच्छे स्थान पर भूमि ले कर समाज मन्दिर बना लिया है। समाज के सत्संग नियम-पूर्वक लगते हैं। बा० मुलखराज बी० ए०, हैडमास्टर प्रधान तथा बा० अमरनाथ साहूकार उपप्रधान और म० सन्तराम मन्त्री हैं। समाज के बारह सभासद हैं।

२३७. नौशहरा (जम्मूँ)

२३८. नौशहरा छावनी (पेशावर)

२३९. नौशहरा ढाला (अमृतसर)

२४०. नौशहरा पनवाँ (अमृतसर)

२४१. पक्खोवाल (लुधियाना)

यह समाज लगभग ४ वर्ष से कार्य कर रहा है। वर्त्तमान कार्यकर्त्ता बा० रामरक्खामल तथा म० बाबूराम हैं।

२४२. पटियाला

२४३. पटियाला (सियालकोट)

३० चैत्र, १९९१ को पं० नत्थूमल की प्रेरणा से आर्य समाज की स्थापना की गई। पं० मूलामल साहूकार, मास्टर बाबूलाल आदि पुरुषार्थी सज्जन समाज का कार्य करने वाले हैं।

२४४. पठानकोट (गुरुदासपुर)

२४५. पत्तोकी (लाहौर)

२४६. पलवल (गुड़गांवाँ)

सन् १८९८ में कुछ युवकों के पुरुषार्थ से आर्य समाज पलवल की स्थापना हुई। इसके तीन वार्षिक उत्सव हो चुके हैं। समाज में साप्ताहिक सत्संग नियम-पूर्वक लगते हैं। समाज के लिए श्री चंदनसिंह ने भूमि दान दी। श्री छाजूराम ने एक कूप बनवा दिया है। एक दालान श्रीमान् चुन्नीलाल ने बनवा दिया है। श्री शिवदयाल, रामदयाल, कृपाराम आदि पुराने कार्यकर्त्ता हैं।

२४७. पसरूर (सियालकोट)
२४८. पहाड़पुर (मुलतान)
२४९. पाई (करनाल)
२५०. पाइल (पटियाला)
२५१. पाकपट्टन (मिण्टगुमरी)
२५२. पानीपत (करनाल)

स्वर्गीय रायज़ादा ला० योगध्यान के पुरुषार्थ से सन् १८८६ में यहां आर्य समाज की स्थापना हुई। पहले-पहल तो समाज का इतना विरोध हुआ कि अछूतों को यज्ञोपवीत धारण करने के लिए नगर से एक मील बाहर जाना पड़ा। बिरादरी ने आर्यों का बायकाट कर दिया। इन्हें ईसाई और भंगियों के नाम से पुकारा गया। कई प्रकार की कठिनाइयाँ इनके मार्ग में आईं। समाज बीस वर्ष तक किराये के मकान में लगता रहा।

ला० मूलचन्द के स्वर्गवास होने पर उनके पुत्र ला० हर-गुलालसिंह को बिरादरी ने बुला कर कहा कि उनका दाह संस्कार वैदिक रीति से मत करना। परन्तु उन्होंने यह नहीं माना। बात इतनी बढ़ी कि पोलीस में रिपोर्ट तक देनी पड़ी। अन्ततः संस्कार वैदिक रीति से हुआ। इसी भान्ति स्व० ला० काशीराम हलवाई अपने भतीजे ला० रामस्वरूप के विवाह पर आर्यों को बरात में ले गए तो बिरादरी ने बरात के साथ जाने वालों का बायकाट कर दिया।

रायज़ादा ला० योगध्यान ने वाणी तथा लेखों द्वारा

आर्य समाज की सेवा की। उन्होंने 'आर्य मुसाफिर' की निरन्तर सेवा की। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के कई भागों का सबसे पहले उर्दू में उल्था किया, और जैनियों, ईसाइयों और मुसलमानों से कई बार शास्त्रार्थ किया। इसी भांति स्व०ला० शादीराम जोकि ला० देशबन्धुदास डायरेक्टर 'तेज' देहली के पिता थे आर्य समाज का काम बड़ी लग्न से करते रहे। पं० रितीराम और उनकी धर्मपत्नी दोनों बड़े उत्साही व्यक्ति थे। कई वर्ष तक उन्हीं के घर पर स्त्री-समाज लगता रहा। उन्हों ने मरते समय अपनी सारी सम्पत्ति आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के नाम वसीयत कर दी। उनकी दान की हुई भूमि में आर्य वाटिका, आर्य कन्या पाठशाला मौजूद है। फिर ला० क्षेमचन्द रईस आर्य समाज का काम करने वाले हुए। पं० रञ्जीतसिंह शर्मा ने जो एक सनातनी विद्वान् थे, अपनी दस-बारह हज़ार की सम्पत्ति आर्य कन्या पाठशाला को दान कर दी। इसी भांति ला० बारूमल ने जो एक सनातनधर्मी थे, अपनी लगभग पाँच हज़ार की सम्पत्ति आर्य समाज को अर्पण कर दी। श्रीमती आशादेवी ने दो हज़ार की सम्पत्ति का एक मकान आर्य समाज को दान किया। इसी प्रकार ला० मोतीसागर ने एक हज़ार लागत की दो दुकानें दान की हैं। ला० प्रभुदयाल ने १०००) दान दिया है। आर्य समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं:—

(क) कन्या पाठशाला।
(ख) रितीराम आर्य वाटिका।
(ग) पुस्तकालय।

समाज का मन्दिर १५ हज़ार की लागत का है।

आर्य समाज ने गत पचास वर्षों में सैकड़ों व्यक्तियों की शुद्धि की है जिन में कई जन्म के मुसलमान और ईसाई थे। दलितोद्धार की दिशा में भी समाज ने खूब काम किया है। कई विधवा-विवाह भी कराये गये हैं। समाज की ओर से मुसलमानों, सनातनियों और जैनियों के साथ कई शास्त्रार्थ हुए हैं। समाज ने कई ट्रैक्ट और पुस्तकें प्रकाशित की हैं। पं० रामचन्द्र देहलवी ने यहाँ दर्जन के क़रीब शास्त्रार्थ किये हैं। स्वामी कर्मानन्द का कुछ समय के लिए यहां निवास रहा है। उन्होंने भी दो शास्त्रार्थ किये। ला० अनूपचन्द को साहित्य उत्पन्न करने का श्रेय प्राप्त है। उन्हों ने मौ० गुलामहुसैन की रचित "स्वामी दयानन्द और उनकी तालीम" के उत्तर में "ऋषि का बोलबाला" पुस्तक की रचना की है।

२५३. पिण्डदादनखाँ (जेहलम)

मुन्शी हरभगवान् अध्यापक के पुरुषार्थ से सन् १८८७ में आर्य समाज स्थापित हुआ। श्री पं० चिरञ्जीलाल उपदेशक ने भी यहाँ खूब प्रचार किया है। मेहता हरभगवान्दास तहसीलदार तथा ला० गुरसहाईमल यहाँ के कार्यकर्त्ता रहे हैं। आजकल ला० सुखरामदास, श्री तारेशाह, तथा श्री डा० नानकचन्द आर्य समाज के विशेष कार्यकर्त्ता हैं। पं० लोकनाथ ने यहाँ खूब प्रचार किया है। विधवा-विवाह तथा शुद्धि के कार्य में यह समाज अग्रेसर रहा है। एक बार तो शुद्धि के मामले में श्री चानणशाह तथा डा० नानकचन्द की ज़मानतें हो गईं।

आर्य समाज के आधीन एक पुस्तकालय तथा वाचनालय चल रहा है। पुस्तकालय-भवन श्रीमती भागवन्ती धर्मपत्नी ला० ईश्वरदास ने अपने पिता की स्मृति में बनवाया है। ला० कृपाराम ने चार हज़ार रुपया सभा में जमा कराया हुआ है। इस राशि के सूद से वाचनालय का चलत व्यय निकल आता है। वाचनालय लाला जी के नाम से ही प्रसिद्ध है। समाज का मन्दिर अपना है। मन्दिर निर्माण में मलक मेहरचन्द का विशेष प्रयत्न रहा है। समाज ने एक स्नानागार तथा एक व्यायाम-शाला भी खोल रखी है। वर्त्तमान में ही एक नया भवन ख़रीदा गया है। भवन के अर्द्ध भाग में बालकों के लिए पाँचवीं श्रेणी तक स्कूल है और दूसरे अर्द्ध भाग में पुत्री पाठशाला खोलने का विचार हो रहा है।

२५४. पिण्डीघेब (अटक)

२५५. पिण्डीभट्टियाँ (गुजरांवाला)

बा० हीरानन्द के पुरुषार्थ और सभा के उपदेशक पं० दौलतराम तथा ठाकुर प्रवीणसिंह के प्रचार से यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई। ला० बिशनदास ने समाज मन्दिर के लिए भूमि प्रदान की और मन्दिर का निर्माण हो गया है। १९०७ में समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव हुआ। प्रारम्भ में स्वा० योगेन्द्रपाल के इस्लाम सम्बन्धी व्याख्यान होते रहे। सभा के उपदेशक पं० धर्मदेव ने जो गुरुमुखी भाषा से विज्ञ थे, सरदार कर्त्तारसिंह लासानी ग्रन्थी के साथ सिक्ख धर्म पर शास्त्रार्थ किया। सभा के उपदेशक

पं० विश्वनाथ ने स्वा० रामानन्द बी० ए० नवीन वेदान्ती के साथ शास्त्रार्थ किया। इन शास्त्रार्थों का आर्य समाज के पक्ष में अच्छा प्रभाव रहा। सभा के उपदेशक पं० दीनानाथ मद्य, मांस के विरुद्ध खूब व्याख्यान देते रहे। उन्होंने कई व्यक्तियों का मांस और शराब छुड़वाया। उनको प्रचार की बड़ी लग्न थी। वे बाज़ार, मण्डी, चौक आदि किसी स्थान पर बिना मेज़-दरी के खड़े हो कर व्याख्यान देना प्रारम्भ कर देते।

समाज ने सन् १६०६ में एक आर्य कुमार पाठशाला खोली जो दो साल चलती रही।

समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ कार्य कर रही हैं:—

(क) गोशाला। सन् १६१६ में एक गोशाला स्थापित की गई। सरदार गुरुदित्तसिंह, ला० खुशीराम तथा ला० वधावामल ने शाला के लिए कुछ भूमि प्रदान की।

(ख) आर्य पुत्री पाठशाला। इस की स्थापना १९०७ में हुई। यह १६१२ में कई कारणों से बन्द हो गई। ला० जीवन-दास तथा ला० बिशनदास दो हज़ार का भवन पुत्री पाठ-शाला को दान कर गए जिस की सहायता से पुनः १६१३ में शाला पुनर्जीवित कर दी गई।

श्रीमान् मास्टर निरञ्जननाथ १६२६-३० में यहाँ पधारे और उपनिषदों की कथा से श्रोताओं को आनन्दित किया। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती वेदकुमारी ने स्त्री समाज की स्थापना की।

२५६. पीरोशाह (गुजरात)

२५७. पूंछ
२५८. पेशावर [छावनी]
२५६. पेशावर [शहर]

प्रातः स्मरणीय पं० लेखराम 'आर्य-मुसाफ़िर' ने अपने घर पर ही आर्य समाज पेशावर का उद्घाटन किया। उस समय समाज में ला० मेहरचन्द मलहौतरा, ला० मूलचन्द और बाद में बाबू केशोमल हैडक्लर्क खज़ाना (तहसीलदार) शामिल हुए। पश्चात् करीमपुरा में एक मकान किराया पर ले कर वहाँ सत्संग लगाते रहे। पुनः मुहल्ला लाहौरियाँ की केशोमल धर्मशाला में समाज को लाया गया और वहाँ साप्ताहिक और वार्षिक अधिवेशन होते रहे। उस समय पं० मूलराज समाज में पुरोहित का कार्य करते थे। उस समय के उत्साही कार्यकर्त्ता राय बहादुर पं० ईश्वरदास सुपरेंटेंडेंट दफ़तर कमिश्नर प्रधान, डा० सीताराम मन्त्री, ला० मेहरचन्द, ला० दुनीचन्द मुनसफ़, पं० गण्डाराम डिप्टी इन्सपैक्टर पोलीस, बा० (राय साहिब) रलाराम डा० काशीराम, मेहता हुकमचन्द, मुंशी गोकुलचन्द, बा० (राय साहिब) गज्जूमल तथा ला० शिवराम अरायज़नवीस थे।

आर्य समाज मन्दिर १५ मई १८८९ को बनना प्रारम्भ हुआ। यह मन्दिर पन्द्रह हज़ार की लागत से निर्मित हुआ। १८९१ में समाज का आठवाँ वार्षिक उत्सव मनाया गया। इस समाज ने डी० ए० वी० कालेज और लेखराम स्मारक निधि के लिए पर्याप्त रुपया दिया। समाज ने ५००) आर्य समाज हैदराबाद (दक्षिण) को पं० सोमनाथ द्वारा सत्यार्थ-

प्रकाश को तेलगू भाषा में अनुवाद कराने के लिए दिया। ला० शिवराम उत्सवों और अन्य अवसरों पर प्रचार करते रहे। पं० सदाशिव, पं० रामेश्वर तथा पं० यशःपाल को पुरोहित रख कर समाज प्रचार कराता रहा है। आज-कल पं० रामनारायण समय-समय पर आनरेरी रूप से प्रचार कार्य करते हैं।

२६०. पेशावर शहर [आसिया]

सन् १९०५ में ला० मेलाराम, ला० व्रजलाल आदि कई महानुभावों ने मुहल्ला ककड़ाँ में आर्य संगत की स्थापना की। सन् १९१५ में भयानक आग लग जाने से जहाँ मुहल्ला नष्ट हो गया वहाँ आर्य संगत भी बन्द हो गई। १९२२ में पुनः नवयुवकों को आर्य समाज के स्थापना की इच्छा उत्पन्न पाई। फलतः ला० खैरामल ककड़ के खड़ियों के कार-खाने में नियम-पूर्वक समाज की स्थापना की गई। सन् १९२६ में श्री स्वा० विज्ञानन्द की प्रेरणा से मन्दिर निर्माण फ़ण्ड खोला गया। इस के लिए समाज के सदस्यों ने एक मास की आय देने का वचन दिया। १९२८ में ला० विश्वे-श्वरनाथ खन्ना रईस-इ-आज़िम ने मन्दिर के लिए एक भूमि का टुकड़ा दान दिया जिस पर ८२५०) की लागत से एक सुन्दर मन्दिर निर्माण किया गया। मन्दिर की आधारशिला अक्तूबर १९२८ को रखी गई। जून १९३३ को श्रीमती भाग-भरीदेवी पुत्र-वधू ला० सर्वदयाल ने कुछ भूमि आर्य समाज आसियां को प्रदान की। आर्य समाज के पुरुषार्थी सदस्य ला० लच्छुनदास तथा ला० छज्जूमल ने इस वैरान भूमि को

एक रमणीक उद्यान के रूप में परिवर्त्तित कर दिया।

२६१. प्रागपुर (कांगड़ा)

२६२. फगवाड़ा (जलन्धर)

२६३. फ़तहगढ़ चूड़ियाँ (गुरुदासपुर)

पं० पूर्णानन्द तथा ठाकुर प्रवीणसिंह के प्रचार से सन् १९१० में यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई। समाज के प्रचार से मौलवी मुहम्मदलतीफ़ अपनी धर्मपत्नी तथा पुत्री सहित शुद्ध हुए। आपका नाम म० देवप्रकाश रखा गया। इस पर हिन्दू बिरादरी ने आर्यों के साथ खान-पान का बायकाट कर दिया। परन्तु यह बायकाट असफल रहा।

१९१२ में समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव हुआ। यहाँ वार्षिकोत्सवों पर शास्त्रार्थ होते रहते हैं। १९२२ में समाज कुछ शिथिल-सा पड़ गया। १९३२ में समाज को पुनरुज्जीवित किया गया। १९३३ में समाज ने अपना मन्दिर बनाया। इस के आधीन पुस्तकालय तथा वाचनालय जारी है।

२६४. फ़तहगढ़ पंजतूर (फ़ीरोज़पुर)

२६५. फ़तहपुर (गुजरात)

२६६. फ़तहपुर पुण्डरी (करनाल)

२६७. फ़तेहाबाद (अमृतसर)

२६८. फ़रीदकोट

चिरकाल से यहाँ आर्य समाज की चर्चा चलती आई है। श्री पं० तुलसीराम के अनथक परिश्रम से प्रचार कार्य भी होता रहा है। सभा के उपदेशक श्री पं० हरनामसिंह का

प्रचार लोगों पर आर्य समाज की छाप डालता रहा। सं० १९६० में श्री पं० तुलसीराम के शहीद हो जाने से कार्यकर्त्ताओं की कमी हो गई। वैसे भी रियासत में समाज के वहुत विरोधी थे। फलतः इस में कुछ शिथिलता आ गई। सं० १९७८ में श्री पं० विष्णुदत्त बी० ए०, एल०-एल० बी० एक मुण्डन संस्कार के अवसर पर यहाँ पधारे और समाज की उन्नति के लिए लोगों को उत्साहित किया। दो तीन वर्ष तक खूब रौनक रही और समाज का कार्य बड़े नियम से चलने लगा। एक पुत्री पाठशाला स्थापित हो गई। साप्ताहिक सत्संग होने लगे। पुनः आर्य समाज के के विरोधियों का प्राबल्य हो गया और प्रचार में विघ्न पड़ने लगा।

सम्पत्ति की दृष्टि से ४०,०००) की लागत की भूमि ख़रीदी हुई है।

२६९. फ़रीदाबाद (गुड़गांवाँ)

२७०. फ़ाज़लका (फ़ीरोज़पुर)

२७१. फालिया (गुजरात)

२७२. फिल्लौर (जलन्धर)

२७३. फ़ीरोज़पुर [कैनाल कालोनी]

२७४. फ़ीरोज़पुर [छावनी]

२७५. फ़ीरोज़पुर [शहर]

सन् १८७७ में ऋषि दयानन्द के शुभागमन से ही यहाँ आर्य समाज का बीज बोया गया। परन्तु यथार्थ रूप से

समाज की स्थापना सन् १९१३ में हुई। सर्वश्री विष्णुदत्त एडवोकेट, लक्ष्मणदास, तुलसीराम, पालाराम, ताराचन्द, लेखराज, रामचन्द्र, जगत्‌राम, बद्रीदास आर्य समाज का काम करते रहे हैं।

ला० जगतराम ने अपनी धर्मपत्नी श्रीमती गोमादेवी की पुण्य स्मृति में एक यज्ञशाला बनवा दी है। मन्दिर के लिए ३००) पं० विष्णुदत्त ने. ३००), म० तुलसीराम ने, ३०१) म० लक्ष्मणदास ने दान किया। समाज मन्दिर की भूमि वस्तुतः श्रीमती कृपादेवी धर्मपत्नी ला० सरनामल ने महन्त विशुद्धानन्द को दान की थी और वह भूमि श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की प्रेरणा से आर्य समाज को प्राप्त हो गई। समाज के आधीन कन्या पाठशाला पर्याप्त समय तक चल कर बन्द हो गई।

१६२१ से एक आर्य युवक सभा स्थापित है। स्त्री समाज का कार्य अच्छा होता है। पारिवारिक उपासना का सिलसिला जारी है। अछूतोद्धार का कार्य भी समाज की ओर से पर्याप्त हुआ है। सम्पत्ति की दृष्टि से १०,०००) का समाज मन्दिर है और ३५०) कोष में हैं।

२७६. फ़ीरोज़वाला (गुज़रांवाला)

२७७. फुलरवाँ (सरगोधा)

आर्य समाज का अंकुर तो यहाँ चिर काल से बोया हुआ है परन्तु १६२५ में बा० चिमनलाल तथा डा० नन्दलाल के प्रयत्न से समाज को व्यवस्थित रूप से चलाया गया। ला० गंगाराम, ला० सुखरामदास तथा बा० दुनीचन्द के

सहयोग से सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी। कुछ काल यहाँ रा० सा० मय्याभान की सहायता से एक अनाथालय भी चलता रहा। वैदिक संस्कारों की प्रथा चल पड़ी है।

२७८. बंगा (जलन्धर)

आर्य सामाजिक विचारों का प्रचार तो यहाँ चिर काल से चला आ रहा है। यहाँ एक-दो स्कूल भी खोले गए जो कुछ समय तक चलते रहे। सन् १६०५ में बा० गंगाबिशन के पुरुषार्थ से समाज की स्थापना हुई। १६१२ में बा० कृपाराम ने समाज को उन्नत किया और एक हिन्दी पाठशाला की स्थापना हो गई जो कुछ काल पर्यन्त चलती रही। समाज मन्दिर के लिए दो कनाल भूमि खरीदी जा चुकी है। स्वा० योगेन्द्रपाल और पं० धर्मभिक्षु यहाँ प्रचारार्थ पधारते रहे हैं। पं० नत्थूराम रिटायर्ड सब पोस्ट मास्टर, ला० कश्मीरी-लाल, पं० बसन्तराम, ला० अमरनाथ रीटायर्ड एञ्जनीयर समाज का काम करने वाले सज्जन हैं। समाज के आधीन एक कुमार सभा स्थापित है।

२७६. बटखेल (पेशावर)

२८०. बटाला (गुरुदासपुर)

२८१. बडलाडा (हिसार)

२८२. बदोमली (सियालकोट)

२८३. बनूढ़ (पटियाला)

२८४. बन्नूँ

२८५. बम्बावाला (सियालकोट)

२८६. बरनाला (पटियाला)

यहाँ १८ जुलाई १८९९ को आर्य समाज स्थापित हुआ। बा० जीवाराम, ला० शिवचरणदास तथा ला० नारायणदत्त डिप्टी सुपरिन्टैण्डैण्ट बन्दोबस्त जो वर्तमान में देहली में ठेकेदार हैं पुराने कार्यकर्त्ता रहे हैं। सन् १९०४ में आर्य समाज का सनातन धर्मियों से शास्त्रार्थ हुआ। समाज की ओर से पं० गणपति शर्मा, पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ तथा पं० पूर्णानन्द थे। समाज मन्दिर सं० १९६३-६४ में बन कर तय्यार हुआ। सं० १९६६ में पटियाला के राज-विद्रोह के अभियोग चलने के कारण समाज की अवस्था कुछ शिथिल पड़ गई। ला० नारायणदत्त और ला० पृथिवीचन्द आर्य सभासद भी इस अभियोग में अभियुक्त थे। सं० १९६७ में पुनः कार्य प्रारम्भ हुआ।

सं० १९७१-७२ में बरनाला के मास्टर शौनकराम शाद व महाशय विश्वम्भरदत्त पर 'ख़ालसा पन्थ की हक़ीक़त' नामक अभियोग एक वर्ष तक चलता रहा। इस अभियोग के लिए ला० वज़ीरचन्द एडवोकेट, रावलपिण्डी, ला० दुनीचन्द एडवोकेट अम्बाला, राय रोशनलाल बैरिस्टर लाहौर पैरवी के लिए आए। इस समाज के सभासद ला० पृथिवीचन्द एडवोकेट, म० कर्मचन्द तथा म० चाननराम ने अपना अमूल्य समय दे कर सेवा की। इस अभियोग में स्वा० विश्वेश्वरानन्द तथा डा० सत्यपाल आदि महानुभाव भी सफ़ाई की ओर से गवाह के रूप में आये। सं० १९८६ में समाज के पुरुषार्थी सभासद शिबूमल ने आर्य व्यायाम-शाला के

लिए साढ़े नौ बीघा भूमि दान दी। वर्त्तमान प्रधान ला० चिरञ्जीलाल ने इस में कूप भी लगवा दिया है। लाला जी की ओर से एक धर्मार्थ औषधालय स्थापित है जिस में एक योग्य वैद्य कार्य करते हैं। महामहोपाध्याय श्री पं० आर्यमुनि यहाँ पधार कर अपने मनोहर उपदेश सुनाते रहे हैं। इस समय समाज के ३० सभासद हैं। समाज का मन्दिर बहुत सुन्दर है। सर्वश्री ला० पृथिवीचन्द एडवोकेट, चिरञ्जीलाल, पृथिवोचन्द, शिबूमल, वंशीधर, हुकमचन्द, गंगाविशन, रामगोपाल आर्य समाज की सेवा करते रहे हैं।

२८७. बसोहली (जम्मूँ)

२८८. बस्तीकोट खलीफा (मुजफ़्फ़रगढ़)

२८९. बस्तीगुजाँ (जलन्धर)

आर्य समाज बस्तीगुजाँ की स्थापना सन् १९१० में हुई। उस समय ला० मय्यादास, म० फ़कीरचन्द, ला० दीवानचन्द और ला० मलावाराम समाज के उत्साही कार्यकर्त्ता थे। पश्चात् डा० वज़ीरचन्द्र पैनशन लेकर बस्ती में आ गए और सामाजिक कार्य बड़ी लग्न से करने लगे। १९२३ में समाज का प्रथम वार्षिक उत्सव हुआ। पश्चात् कविराज सत्यदेव वैद्य वाचस्पति और मास्टर सन्तराम ने लग्न से कार्य करना प्रारम्भ किया। मास्टर जी ने आर्य सहायक सभा की स्थापना कर के कई पारिवारिक यज्ञ कराए। सभा के मन्त्री कविराज जी रहे। समाज मन्दिर के लिए १९००) में मकान लिया गया। स्वर्गीय ला० चिरञ्जीलाल ने रुपया एकत्र कर के इस मकान की गिरी हुई दीवारों की मरम्मत

करवाई। समाज की सम्पत्ति ७०००) के लगभग है। इस के २५ सदस्य हैं। समाज ने एक 'वज्रांग एसोसिएशन' की स्थापना की। इसके द्वारा नवयुवकों में व्यायाम की प्रवृत्ति उत्पन्न की जाती है। इसके ४२ सदस्य हैं। इसके नायक ला० रामकृष्ण हैं। सन् १९११ में समाज ने प्राइमरी स्कूल की स्थापना की। इस समय यह लोअर मिडिल तक है।

२९०. बस्ती टैंकावाली (फ़ीरोज़पुर)

२९१. बस्ती शेख़ (जलन्धर)

२९२. बरेटा मण्डी (पटियाला)

२९३. बल्लभगढ़ (गुड़गांवाँ)

यहाँ सं० १९५३ में आर्य समाज की स्थापना हुई। यहाँ सनातनियों, मुसलमानों और जैनियों के साथ बड़े प्रबल शास्त्रार्थ हुए हैं। समाज ने अन्य वैदिक संस्कारों के अतिरिक्त विधवा विवाह का भी प्रचार किया है। ज़िला गुड़गांवाँ की उपसभा का हैडक्वारटर कई वर्ष तक यहाँ रहा है। शुद्धि तथा दलितोद्धार के कार्य में यह सर्वदा भाग लेता रहा है। अछूतों के लिए एक पाठशाला भी खोली गई थी परन्तु १० वर्ष चल कर विद्यार्थियों के अभाव से अब यह बन्द हो गई है आर्य समाज ने अपना मन्दिर बना लिया है।

२९४. बलावलपुर (मुल़तान)

२९५. बस्सी (पटियाला)

२९६. बहरामपुर

सन् १८९० में ला० चिरञ्जीलाल आर्योपदेशक, पं०

मणिराम (म० म० आर्यमुनि) यहाँ प्रचारार्थ पधारते रहे। हकीम गोवर्धनदास, ला० देवीचन्द एम० ए०, मास्टर सत्य-देव बी० ए० के पुरुषार्थ से यहाँ १६०१ में आर्य समाज की स्थापना हुई। पं० हरनामसिंह तथा ठा० प्रवीणसिंह का प्रचार बड़े जोश से यहाँ हुआ करता था। यहाँ एक ईसाई परिवार की शुद्धि हुई जिस पर पौराणिकों ने बहुत विरोध किया। आर्यों का बायकाट कर दिया गया। इन से खान-पान का व्यवहार बिल्कुल बन्द कर दिया गया। कोई कहार इन के घरों में पानी तक नहीं भर सकता था। और ये कोई मुसलमान तक नौकर नहीं रख सकते थे। इनके कूओं पर चढ़ने पर भी एतराज़ किया जाने लगा। रिश्ते नाते रोक दिए गए। यहाँ तक हुआ कि एक आर्य सदस्य की धर्मपत्नी तक को इसके पास आने से रोक दिया गया। १६०३ में सनातनियों ने एक बड़ा भारी उत्सव रचने की योजना की। पं० पूर्णानन्द ने हकीम गोवर्धनदास को दीना-नगर बुलाया और कहा—सनातन धर्म के उत्सव की बड़ी चर्चा है, यदि हमारी ओर से कोई शास्त्रार्थ की आयोजना न की गई तो इलाके की आर्य समाजों को बड़ा धक्का पहुँचेगा। जब हकीम जी ने कहा कि हम मुट्ठी-भर आर्य समाजी क्या कर सकते हैं, हमें पाचक वा कहार तक तो मिल नहीं सकते। परन्तु पं० पूर्णानन्द ऐसी बातें कहाँ मानने वाले थे। उन्होंने कहा—पुस्तकें वैदिक पुस्तकालय लाहौर से, पण्डाल का सामान दीनानगर से, और ज़िला-भर के आर्यों के मंगवाने का काम मैं अपने ज़िम्मे लेता हूँ। आप

भोजन बनवाने का प्रबन्ध करें। यदि यह व्यय भी तुम न कर सको तो मैं अपने वेतन से पूरा कर दूँगा। भला इसका क्या उत्तर दिया जा सकता था। सब प्रबन्ध कर दिया गया। सनातनियों की हर एक बात का आर्य पण्डाल से उत्तर दिया जाता रहा। इस अवसर पर दो शास्त्रार्थ हुए। एक शास्त्रार्थ तो पण्डित जी ने स्वयं पं० गणेशदत्त कनौज वाले से किया। इस प्रकार से सनातनियों के प्रचार का प्रतिकार कर दिया गया।

एक वार सत्संग में पं० पूर्णानन्द के व्याख्यान के पश्चात् पौराणिक दल अपने शास्त्रार्थ के लिए उद्यत हो गया। विना किसी नियम, अथवा प्रधान के निर्वाचन के शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया। पौराणिक लोग बारी-बारी भोजन कर आते और शास्त्रार्थ करते। परन्तु न तो पण्डित जी ने और न ही किसी अन्य ने भोजन किया। आखिर पण्डित जी ने रात्रि के १ बजे भोजन किया।

१९१० में एक दानी महानुभाव ने मरते समय २७००) की वसीयत डी० ए० वी० मिडिल स्कूल बनाने के लिए की। २५ मार्च, १९११ को स्कूल के भवन की आधारशिला रखी गई।

२९७. बहादुरगढ़ (रोहतक)

२९८. बहावलनगर (बहावलपुर)

यहाँ सन् १९१५ में आर्य समाज की स्थापना हुई। १९२५ तक समाज साधारण गति से चलता रहा। इतने समय में एक बालकों का स्कूल और एक कन्या पाठशाला

खोली गई। कई कारणों से इन संस्थाओं को बन्द करना पड़ा। १६२५ में पचीस-तीस धानक परिवारों को यज्ञोपवीत पहनाये गये। इस पर समाज के पांच आदमियों पर अभियोग चलाया गया। यह अभियोग कुछ मास तक चल कर फ़ाइल कर दिया गया। बड़ी कठिनाईयों को झेलकर मन्दिर बनाया गया। कमेटी का विचार था कि आर्य समाज का अस्तित्व भयावह है इसलिए वह मन्दिर के निर्माण की आज्ञा न देती थी। १६३३ में एक कन्या पाठशाला खोली गई। पहले-पहल अध्यापिकाएँ न मिलने पर डा० जगदीश्वरनाथ की धर्मपत्नी तथा म० कंवरभान की धर्मपत्नी कुछ काल तक पढ़ाती रहीं। म० ज्येष्ठानन्द तथा डा० जगदीश्वरनाथ समाज के कार्य करने वाले सज्जन हैं।

२६६. बहावलपुर

३००. बहूड़ा (गुड़गांवाँ)

यहाँ आर्य समाज की स्थापना सं० १९६० में हुई। समाज के आधीन सं० १६८९ में वैदिक कन्या पाठशाला की स्थापना हुई। १९८३ में ४०० चमारों की शुद्धि की गई।

३०१. बारामंगा (गुरुदासपुर)

३०२. बिशनाह (जम्मूँ)

यहाँ आर्य समाज कुछ समय से स्थापित है। इस की अवस्था बीच में कुछ शिथिल पड़ गई। इस को पुनः पुनरुज्जीवित किया गया है। डा० शिवराम के यत्न से पांच कनाल ज़मीन समाज मन्दिर के लिए दान मिली है।

३०३. बुजुर्गवाल (गुरुदासपुर)

३०४. बुडलाडा (हिसार)

३०५. बुताला (अमृतसर)

३०६. बूड़ेवाला (मिएटगुमरी)

३०७. बेरी (रोहतक)

३०८. बोहा (पटियाला)

३०९. ब्रह्मी (लुधियाना)

यहाँ कुछ काल से आर्य समाज स्थापित है। म० प्रतापसिंह यहाँ के वर्त्तमान कार्यकर्त्ता हैं।

३१०. भक्कर (मियाँवाली)

यहाँ सन् १८९५ में आर्य समाज की स्थापना हुई। १९०१ में भूमि खरीद कर १९०५-०६ में आर्य समाज मन्दिर का निर्माण किया गया। सन् १९१४ में एक नागरी पाठ-शाला खोली गई। शनैः-शनैः उन्नति करते हुए यह हाई स्कूल के रूप में आ गई और १९२१तक सफलता-पूर्वक काम करती हुई धनाभाव से १९२३ में बन्द हो गई। ग्राम प्रचार के लिए समाज प्रायः पुरोहित, उपदेशक की नियुक्ति करता है। दैनिक तथा साप्ताहिक सत्संग नियम-पूर्वक लगते हैं। वैदिक संस्कार पर्याप्त संख्या में होते हैं। सरदार सन्तसिंह पुस्तक विक्रेता लाहौर ने सीमेंएट की एक पक्की यज्ञशाला बनवा दी है। इस समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ कार्य कर रही हैं।

(क) आर्य वीर दल।

(ख) आर्य स्त्री समाज।

(ग) आर्य कुमार सभा।

(घ) पुस्तकालय तथा वाचनालय।

३११. भटिंडा (पटियाला)

यहाँ आर्य समाज का कार्य सन् १८६४ में प्रारम्भ हुआ। रा० ब० मक्खनलाल एस० डी० ओ०, चौबा जीवाराम तथा बा० भगवान्दास के पुरुषार्थ से आर्य समाज की नींव पड़ गई। समाज मन्दिर का निर्माण हो गया। शुद्धि का काम खूब हुआ। धानकों की हज़ारों की संख्या में शुद्धि की गई। सनातन धर्मियों ने इस का विरोध किया और आर्य समाजियों का बायकाट कर के उनको बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया। शुद्ध हुए धानकों को सरकारी कुएँ पर चढ़ाया गया। इस पर विरोध हुआ और अदालत में अभियोग छिड़ गया। न्यायालय से आज्ञा हुई कि एक धानक मुसलमान हो कर कुएँ से पानी भर सकता है तो क्या कारण है कि वह हिन्दू हो कर पानी न ले। इस सरकारी व्यवस्था से अब तक धानक लोग लाभ उठा रहे हैं। इस के अनन्तर सभा के उपदेशक पं० मनसाराम का सनातनी पण्डित राजनारायण से विवाद हुआ। इस का आर्य सामाजिक जनता पर बड़ा उत्तम प्रभाव पड़ा। सन् १९२३ में श्री स्वा० श्रद्धानन्द और स्वा० गंगागिरि की अनुमति से गुरुकुल भटिंडा खोला गया। ला० रामजीदास ने भूमि प्रदान की। एक पुत्री पाठशाला की भी स्थापना की गई।

३१२ भदौड़ (पटियाला)

३१३. भद्रवाह (जम्मूँ)

सं० १९७५में म० बद्रीनाथ ने यहाँ प्रचार किया। पं०राम स्वरूप अलीगढ़ वाले और म० सालिगराम भजनीक ने सं० १९८१ में यहाँ आर्यसमाज की स्थापना की। कोतवाल बेली-राम प्रधान बने। श्री पं० जगदीशचन्द्र वाचस्पति के उद्योग से मन्दिर के लिए धन एकत्र हो गया। ठाकुर हरिचन्द रईस और श्री अनन्तराम के दान से समाज को भूमि मिल गई। इस समय तीन हज़ार की लागत का मन्दिर है। इसकी आधारशिला स० अमरसिंह तहसीलदार ने रखी। सभा के उपदेशक और भजनीक समय-समय पर पधार कर मनोहर उपदेश सुनाते रहे हैं।

३१४. भलवाल (सरगोधा)

३१५. भवन (जेहलम)

३१६. भवानी (हिसार)

३१७. भागियाँ (शेख़ूपुरा)

आर्य समाज भागियाँ की स्थापना १३ एप्रिल १९०७ को हुई। आर्य समाज का मन्दिर अपना है जिस पर १८००) व्यय हुआ है। ४००) की लागत की एक नहरी भूमि समाज को दान में प्राप्त हुई है। आर्य समाज की सम्पत्ति दो हज़ार की है। सं० १९७६ में शुद्धि के विषय पर सभा के उपदेशक पं० पूर्णानन्द का पं० रामचन्द्र से शास्त्रार्थ हुआ जिसका प्रभाव उत्तम रहा। इस समाज ने मेघोद्धार की दिशा में भी खूब काम किया है। सं० १९७५ में एक बड़ा भारी भोज हुआ जिस में मेघों ने भोजन तय्यार किया।

दिवंगत म० रामधन और म० दयाराम समाज के पुरुषार्थी सज्जन थे। म० मथुरादास और म० वज़ीरचन्द ने भी समाज का खूब काम किया है। प्रथम वैशाख १९९२ से दैनिक सत्संग की प्रथा जारी हो गई है।

३१८. भिम्बर (जम्मूँ)

३१९. भूपालवाला (सियालकोट)

इसका निवासी ला० देवीदास अध्यापक स्थानिक प्राइमरी स्कूल के पुरुषार्थ से यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई। सन् १९०५ में समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। १९१३ में एक प्राइमरी स्कूल की स्थापना की गई। स्कूल की आधार-शिला चौ० रामभजदत्त ने रखी। सन् १९१९ में इसको हाई स्कूल तक कर दिया गया। पं० मूलराज और ला० होशनाकराय ने ७९,०००) की लागत से आश्रम बनवा दिया। इन्हीं सज्जनों के पांच सहस्र के दान से एक सुन्दर यज्ञ-शाला बनाई गई है। स्कूल के मुख्याध्यापक ला० रामचन्द्र बी० ए०, बी० टी० हैं। श्री पं० मूलराज १९०५ से प्रधान चले आते हैं। समाज के आधीन एक पुस्तकालय है जिस में एक सहस्र के लगभग पुस्तकें हैं।

३२०. भेरा (शाहपुर)

श्री ला० हंसराज साहनी, वकील के पुरुषार्थ से सन् १८८२ में आर्य समाज की स्थापना हुई। ८ एप्रिल १८९२ को भूमि खरीदी गई और उसी वर्ष रायसाहिब लब्धाराम साहनी एग्ज़ैकेटिव एञ्जीनियर के करकमलों से आर्य समाज की आधारशिला रखी गई। मन्दिर-निर्माण में राय

सीताराम एञ्जीनियर और राय भक्तराम साहनी आदि दानी पुरुषों का हाथ था। श्री पं० गोकुलचन्द सरीखे उत्साही सज्जनों के अनथक पुरुषार्थ से ही समाज ने इतनी उन्नति की। सर्वश्री सीताराम एञ्जीनियर, कृपाराम, हरिराम, साईंदास, पिण्डीदास, धनीराम, देवीदयाल, मय्यादास, रामलाल साहनी के दान से मन्दिर के विविध भाग निर्मित हुए हैं। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ हैं :—

(क) आर्य लक्ष्मी पुत्री पाठशाला।

(ख) पुस्तकालय तथा वाचनालय।

(ग) कुमार सभा।

३२१. भैंसवाल (रोहतक)

३२२. भैनीगोड़ा (लुधियाना)

यह समाज लगभग ४० वर्ष से स्थापित है। पिछले कार्यकर्त्ताओं में सरदार हरिसिंह तथा म० त्रिलोकचन्द थे। आजकल सरदार सम्पूर्णसिंह, बा० खुशीराम तथा स० हाकिमसिंह काम करने वालों में हैं।

३२३. भोड़ाकलाँ (गुड़गांवाँ)

३२४. मखदूमपुर (मुलतान)

३२५. मंगोवाल (गुजरात)

३२६. मजीठा (अमृतसर)

पहले-पहल यहाँ आर्य समाज का नाद पं० खड्कसिंह ने सं० १९३८ में बजाया। उनका व्याख्यान स्वर्गीय राजा सूरतसिंह, के० सी० आई० ई० जो सर सुन्दरसिंह मजीठिया

के पिता थे, की प्रधानता में हुआ । इस अवसर पर आर्य समाज के नियमों की प्रतियाँ लोगों में वितरण की गईं इसके पश्चात् साधु आलाराम यहाँ प्रचारार्थ पधारे । उनके प्रयत्न से यहाँ समाज की नियम-पूर्वक स्थापना हो गई। समाज के प्रथम प्रधान सरदार मघरसिंह जो राजा साहिब सूरतसिंह के चाचा थे, नियुक्त हुए। ला० प्रभुदयाल, ला० मायाराम, ला० अचरजामल, म० दुर्गादास, पं० लालजीदत्त तथा ला० हरदयाल भल्ला उस समय के कार्यकर्ता थे। सन् १८८८ में आर्य समाज की स्थापना का समाचार सुन कर सनातन धर्म महामण्डल के पं० दीनानाथ और पं० काशीनाथ आये और महर्षि के विरुद्ध कुछ कहने लगे । आर्य समाज ने शास्त्रार्थ की चुनौती दे दी । उन्होंने स्वीकार करली। आर्य समाज की ओर से पं० लेखराम और पं० लाजूराम जो उसी वर्ष काशी से व्याकरणाचार्य की परीक्षा पास करके आये थे शास्त्रार्थ के लिए आये। दोनों पक्षों की ओर से निश्चय यह हुआ कि सम्पूर्ण पत्र-व्यवहार संस्कृत में होगा और जिस पक्ष की अशुद्धियाँ संस्कृत भाषा में निकलेंगी वह परास्त माना जायगा। महामण्डल के पण्डितों का पत्र आया । पं० लाजूराम ने इस में बहुत-सी व्याकरण की अशुद्धियाँ निकाल दीं । शास्त्रार्थ पत्र-व्यवहार और मध्यस्थ की नियुक्ति पर ही समाप्त हो गया । जैनियों और ईसाइयों से भी शास्त्रार्थ हुए । समाज की अवस्था अभी डांवांडोल ही थी, कभी खुल जाती कभी बंद हो जाती।

सन् १८९५ में आर्य समाज के युवकों ने एक मिडिल

स्कूल खोला। यह स्कूल तीन वर्ष चलकर धनाभाव के कारण बन्द हो गया। ८ मार्च १९०३ को पुनः आर्य समाज स्थापित हुआ। इसको पुनर्जीवित करने में म० दुर्गादास तथा स्वर्गीय पं० लालजीदत्त ने परिश्रम किया। ३१ मार्च १९०३ में सभा के उपदेशक पं० हरनामसिंह यहाँ प्रचारार्थ पधारे। पण्डित जी के उपदेशों से समाज की स्थापना सुदृढ़ हो गई। १९०४ में समाज ने अपना पहला उत्सव किया। इस अवसर पर अमृतसर से मुसलमानों की ओर से मौ० सनाउल्ला और सनातनधर्म की ओर से पं० शामलाल शास्त्रार्थ के लिए पधारे। आर्य समाज की ओर से पं० पूर्णानन्द ने सनातनी पण्डित द्वारा पूछे गए नियोग-विषयक प्रश्नों के उत्तर दिए। १६ अक्तूबर १९०४ को मुसलमानों के साथ स्वामी योगेन्द्रपाल ने लेख-बद्ध शास्त्रार्थ किया। मौलवी साहिब अन्तिम उत्तर दिये विना ही शास्त्रार्थ से चले गए।

१० आश्विन १९७८ को श्री स्वामी सर्वदानन्द जी के करकमलों द्वारा आर्य समाज के वार्षिकोत्सव पर आर्य समाज मन्दिर की आधारशिला रखी गई। भूमि के अतिरिक्त मन्दिर पर आठ हज़ार रुपया व्यय हुआ। यह मन्दिर भक्त चाननमल व म० किशनचन्द के परिश्रम से बना है।

३२७. मटिण्डू (रोहतक)

आर्य समाज मटिण्डू की स्थापना सं० १९७९ में हुई। इसके सभासद प्रायः गुरुकुल मटिण्डू के अध्यापक ही हैं। समाज के आधीन एक पुस्तकालय है जिससे इसके सदस्य और अन्य ग्रामीण जनता भी लाभ उठाती है।

३३८. मढ़बलोचाँ (शेख़ूपुरा)

३३८. मण्डी बहावुद्दीन (गुजरात)

३३०. मनीमाजरा (अम्बाला)

३३१. मनौली (अम्बाला)

३३२. ममदौट (फ़ीरोज़पुर)

३३६. मरदान (पेशावर)

३३४. मरी (रावलपिण्डी)

मरी एक पर्वतीय स्थान है। १८६५ में पंजाब कमाण्ड के फ़ौज के दफ़तर यहाँ आने आरम्भ हुए। इन दफ़तरों में देसी सज्जन भी थे। प्रतीत ऐसा होता है कि पंजाब कमाण्ड के आने के साथ ही यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई। दान-वीर ला० कृपाराम साहनी मालिक "कृपाराम एण्ड ब्रादर्ज़" फ़र्म ने एक मकान समाज को दान दिया। १८६६ में इस मकान पर दूसरी मनज़ल डाल कर समाज के सत्संग के लिए एक हाल बनाया गया। उस समय बा० कालीशरण कमसेरेट कार्यालय के कर्मचारी ने समाज की अच्छी सहायता की। वार्षिक उत्सव मनाने के लिए ला० कृपाराम ने एक और मकान समाज को दे दिया। १६१० में लाला जी ने बाहर से आये यात्रियों के ठहरने के लिए एक मकान दिया जिस का नाम "कृपाराम एडवर्ड हिन्दू आश्रम" रखा गया। इस का प्रबन्ध लाला जी ने अपने हाथ में रखा। १६१३ में समाज में एक पुत्री पाठशाला की स्थापना की गई। लाला जी के स्वर्गवास हो जाने पर उन के छोटे भाई

ला० हरिराम भी धन से समाज की खूब सहायता करते रहे। ला० दरबारीलाल, चौ० धर्मदास, म० कश्मीरीलाल ने भी आर्थिक सहायता की। ला० रामलाल, ला० मुलखराज, म० श्रीराम, म० रामप्रसाद, बा० रूपलाल, ला० लालचन्द चड्ढा समाज का काम लग्न से करते रहे हैं। १६२७ में म० ज्येष्ठानन्द यहाँ तबदील हो कर आए। उन्हों ने भी खूब लग्न से कार्य किया। इन दिनों पं० विश्वदेव समाज के पुरोहित रहे। उन की धर्मपत्नी श्रीमती लज्जावती पाठशाला की मुख्याध्यापिका थीं। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं।

(क) आर्य कन्या पाठशाला।

(ख) हस्पताल। १९२६ के आरम्भ में समाज मन्दिर की निचली मनज़िल में एक हस्पताल खोला गया। एक साल तक डा० इन्द्रसेन सेठी इस के इन्चारज रहे। १९३० से डा० नानकचन्द कपूर कार्य कर रहे हैं।

(ग) कृपाराम एडवर्ड हिन्दू आश्रम।

(घ) पुस्तकालय तथा वाचनालय। पुस्तकालय तो चिर काल से ही स्थापित है। म० ज्येष्ठानन्द के प्रयत्न तथा ला० हरिराम की आर्थिक सहायता से हरिराम वैदिक लायब्रेरी के भवन का १ जून १६२८ में सरदार मोहनसिंह रईस-इ-आज़िम के हाथों से उद्घाटन हुआ। एक वाचनालय भी खोल दिया गया।

३३५. मलकवाल (गुजरात)

यहाँ १२ वर्ष से आर्य समाज स्थापित है। पहले ला०

दीवानचन्द प्रधान के मकान पर साप्ताहिक सत्संग लगा करते थे। वर्त्तमान प्रधान म० मोहनलाल जोकि एक सच्ची लग्न वाले और उत्साही कार्यकर्त्ता हैं सात वर्ष से यहाँ आप हैं। इन के पुरुषार्थ और म० सीताराम के दान से समाज मन्दिर का निर्माण हुआ है। इस समय समाज के ३० सभासद हैं। म० सीताराम, म० चिमनलाल, ला० कुन्दनलाल, और बा० फ़क़ीरचन्द ने समाज की आर्थिक सहायता की है। म० ज्ञानचन्द और बा० खुशवक़्तराय गार्ड उत्साही कार्यकर्त्ता रहे हैं।

३३६. मलसियाँ (जलन्धर)

३३७. मलोटमण्डी (फ़ीरोज़पुर)

३३८. मल्लाह (गुरुदासपुर)

३३९. महतपुर (जलन्धर)

३४०. महतम (डेरागाज़ीखाँ)

३४१. महम (रोहतक)

३४२. महलांवाला (अमृतसर)

यह समाज स्थानिक म० राधाकृष्ण वर्त्तमान स्वामी धीरानन्द द्वारा सं० १९४५ में स्थापित हुआ और ला० कर्मचन्द के पुरुषार्थ से सन् १९०२ में पुनरुज्जीवित हुआ। म० कालूराम ने आर्य समाज को भूमि दान की। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं।

(क) आर्य कन्या पाठशाला।

(ख) देहाती वैदिक धर्म प्रचारिणी सभा।

३४३. माछीवाड़ा (लुधियाना)

३४४. माड़ी इन्डस (मियाँवाली)

३४५. माड़ी भिण्डराँ (गुजरांवाला)

३४६. मान (गुजरांवाला)

३४७. मानसा (पटियाला)

३४८. मालेरकोटला

३४९. मालोमेह (सियालकोट)

यहाँ २ कार्त्तिक १९८१ को आर्य समाज की स्थापना हुई। प्रारम्भ में इस के १० सदस्य बने। पश्चात् यह संख्या बढ़ते-बढ़ते २० तक पहुँच गई। सं० १९८२ में २०००) की लागत से समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। २८ मई १९२५को पड़ापियाँ ग्राम में एक नव मुसलिम की शुद्धि की गई जिस से इलाक़े में शोरश उत्पन्न हो गई। आर्य समाज ने सब कष्ट सहे। एक वर्ष के पश्चात् लोग आर्य समाज का यश गाने लग गए। समाज के प्रयत्न से १९३० से सब कूप अछूतों के लिए खोल दिये गए। इस इलाक़े में प्रायः हिन्दू अछूतों के साथ खान-पान में कोई संकोच नहीं करते। वार्षिक मेलामण्डी के अवसर पर समाज प्रचार करता रहता है। समाज द्वारा पचास के लगभग संस्कार हो चुके हैं। समाज के आधीन एक आर्य पुत्री पाठशाला पाँच-छः वर्ष चलती रही है। समाज में एक पुस्तकालय है।

३५०. मिट्ठाटिवाना (सरगोधा)

यहाँ सं० १६७० में कई एक पुरुषार्थी सज्जनों ने एक हिन्दू सुधार सभा की स्थापना की। इस के साप्ताहिक सत्संग लगने भी आरम्भ हो गए। उपदेशक महानुभाव यहाँ प्रचारार्थ पधारते रहे। समाज मन्दिर तथा पाठशाला भवन का भी निर्माण हो गया। धनाभाव से कन्या पाठशाला को बन्द करना पड़ा।

३५१. मिण्टगुमरी

३५२. मियानी (सरगोधा)

३५३. मियाँचन्नूँ (मुलतान)

श्री बाबा रामजीदास के पुरुषार्थ से आश्विन १० विक्रमी १६८६ में आर्य समाज की स्थापना हुई। श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज के कर-कमलों द्वारा समाज मन्दिर की आधारशिला रखवाई गई। श्री म० फ़कीरचन्द आर्य समाज के अनथक सेवकों में से एक हैं। समाज में दोनों समय सत्संग लगता है जिसमें वेद की कथा की जाती है। इस आर्य समाज की ओर से तीन शास्त्रार्थ हुए हैं। एक, पौराणिक पं० राजनारायण का पं० मनसाराम आर्योपदेशक के साथ मूर्त्तिपूजा विषय पर और दूसरा दो ईसाइयों के साथ पं० रामचन्द्र देहलवी ने शास्त्रार्थ किया। इन शास्त्रार्थों से आर्य समाज का अच्छा प्रभाव पड़ा है। इस समय ३५ सभासद हैं। आर्य समाज के पास एक विस्तृत हाल, ९ दुकानें तथा एक कूप है।

३५४. मियाँवाली

यह आर्य समाज बहुत समय से स्थापित है। ला० मेलाराम अध्यापक तथा ला० सुखरामदास उत्साही कार्य-कर्त्ता रहे हैं। समाज का मन्दिर अपना है। समाज के आधीन एक पुत्री पाठशाला चल रही है।

३५५. मीरपुर (जम्मूँ)

डा० करुणाशंकर और पं० संतराम वकील के पुरुषार्थ से यहाँ आर्य समाज के विचारों का प्रचार होने लगा। सं० १९६२ में यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई।

समाज की स्थापना के कुछ काल अनन्तर ही पुत्री पाठशाला की स्थापना हो गई। यह पाठशाला स्टेट की प्रार्थना पर उसे दे दी गई और कुछ काल के अनन्तर समाज ने अपनी एक और पाठशाला जारी की जो रामजीशाह आर्य पुत्री पाठशाला के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस में मिडिल तक की शिक्षा का प्रबन्ध है। समाज की ओर से प्रचार व शास्त्रार्थ द्वारा भी खूब कार्य किया गया है। प्रचार के प्रभाव से कोटली, पूँछ आदि नगरों में भी आर्य समाज की चर्चा होने लगी। सं० १९६६ में रामपुरराजोरी में सनातनियों के साथ श्राद्ध विषय पर शास्त्रार्थ हुआ जिस में आर्य समाज की ओर से पं० पूर्णानन्द तथा स्वा० ओंकार सच्चि-दानन्द आये। आर्य समाज मीरपुर ने वसिष्ठों को पहले-पहल १३ श्रावण १९६८ को शुद्ध किया। विरोध बड़ा सख्त था। कई व्यक्तियों को उन के सम्बन्धियों ने शुद्धि संस्कार में सम्मिलित होने से रोकने के लिए घर में ताले के अन्दर बन्द कर दिया। सभा के उपदेशक पं० भक्तराम ने

इस इलाके में शुद्धि का खूब काम किया है। जब शुद्धि का प्रचार रामपुरराजोरी में होने लगा तो यहाँ पौराणिकों ने खूब विरोध किया। पौराणिकों ने एक अस्सी वर्ष के बूढ़े गोपीचन्द को पकड़ कर एक मुसलमान की सहायता से उस का यज्ञोपवीत तोड़ दिया और उस के शरीर पर लोहे की गर्म दात्री से यज्ञोपवीत का निशान दे दिया। इस से उस का शरीर जल गया। उच्च न्यायालय से ३ अपराधियों को छः-छः मास और एक को नौ मास की सज़ा हुई। इस निर्णय से वसिष्ठादि जातियों पर पौराणिकों का नाजायज़ रोब जाता रहा। पौराणिकों ने कूपादि का बायकाट किया।

आर्य समाज मन्दिर बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई। बाहिर से जो चमारादि यहाँ आते थे उन के रहने के लिए कोई स्थान न था। हिन्दुओं के मन्दिरों में स्थान न पाकर मसजिदों में उन्हें आश्रय लेना पड़ता था। फलतः समाज मन्दिर का निर्माण किया गया। १८८१ में कुछ विवाद के पश्चात् समाज का सम्बन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से हो गया। म० जगन्नाथ सराफ़ आर्य समाज का काम बड़ी लग्न से करते थे।

३५६. मीरपुरसिद्धड़ (जम्मूँ)

३५७. मीरोवाल (शेखूपुरा)

३५८. मुकेरियाँ (होशयारपुर)

सन् १८७७ में जब महर्षि दयानन्द गुरुदासपुर पधारे तो उनके व्याख्यान सुनने के लिए यहाँ के भी दो-तीन सज्जन

पहुँच गए। तब से यहाँ आर्य विचारों का प्रचार चला आ रहा है। २८ फ़रवरी १८६० को भाई हरनामसिंह प्रचारक यहाँ पधारे। व्याख्यान से प्रभावित होकर हकीम रामशरण-दास ने उसी दिन से मुकेरियाँ के पुराने २० साथी एकत्र करके भजन-कीर्तन करने और सत्यार्थप्रकाश की कथा करने का नियम बना लिया।

एक घटना ने यहाँ प्रचार की खूब वृद्धि की। ला० मथुरादास एल०-एल० बी० की माता का यहाँ देहान्त हो गया। लाला जी की अनुपस्थिति में उनकी माता का अन्त्येष्टि संस्कार पौराणिक रीति से किया गया। परन्तु चौथे के अव-सर पर वे वहाँ पहुँचे और उन्होंने सब अस्थियाँ और राख व्यास नदी में डालने के लिए भेज दीं। छः-सात दिन शोक के स्थान पर हवन और भजन होते रहे। इस पर महन्त तुलसी-दास वैरागी ने चन्दा इकट्ठा करके सनातन धर्म सभा लाहौर के उपदेशक पं० गणडाराम को भेंट देकर बुलवाया। पालकी लेकर बाजे बजाते हुए सनातनी आये। इसका उत्तर देने के लिए आर्य समाजियों ने भी चन्दा एकत्र कर लिया। पं० गणडाराम के आगमन के छः-सात घण्टा पश्चात् पं० पूर्णानन्द ब्र० ब्रह्मानन्द, पं० त्रिखाराम, ला० मुंशीराम सौ पुरुषों समेत भजन गाते हुए मुकेरियाँ पहुँचे। शास्त्रार्थ के लिए पत्र-व्यवहार चला। लाख कहने पर भी पं० गणडाराम मुकेरियाँ से भाग निकले। पं० पूर्णानन्द ने ५१ सभासद और ७ सहायक जो मुसलमान थे इनके फ़ार्म भरा कर इन से एक-एक वर्ष का चन्दा अगाऊ लेकर आर्य समाज की स्थापना

कर दी। मार्च १८६१ में आर्य समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव हुआ। इस के पश्चात् आर्य समाज के ८५ सदस्य बन गए जिन से ७०) मासिक चन्दा आता रहा। सन् १८६२ में पाठ-शाला जारी कर दी गई। आजकल १०० कन्याएँ पढ़ रही हैं। सन् १८६३ में पं० कल्याणदत्त उपदेशक के मुक़ाबले पर सनातन धर्म सभा के उपदेशक शास्त्रार्थ के लिए उद्यत हो गए। पर मुक़ाबला होने पर वे चुप हो गए। दिसम्बर १८६५ में दस-बारह हज़ार की उपस्थिति में ला० मुंशीराम तथा पं० लेखराम ने सनातन धर्म सभा के श्री गोपाल शास्त्री, पं० हरिकृष्ण आदि कई पंडितों से शास्त्रार्थ किया। सनातनी पंडितों का कहना था कि "गरुडस्य जातिमात्रेण कम्पते भुवनत्रयम्" वेद की श्रुति है। परंतु वे यह सिद्ध न कर सके। आर्य समाज की शानदार विजय हुई। सन् १९१४ में प्रो० जगदीशमित्र के प्रयत्न से एक एंग्लो संस्कृत हाई स्कूल स्थापित हो चुका है। सन् १६१२ से आर्य समाज शुद्धि और दलितोद्धार का भी कार्य करता चला आ रहा है। सन् १६१८ में आर्यों ने सेवा समिति बना कर इनफ़्लूएन्ज़ा व्याधि के निवारण में पर्याप्त भाग लिया। आर्य समाज की शिक्षा का इतना प्रभाव है कि प्रायः सब हिन्दू ऋषि-भक्त हैं। यहाँ के हिन्दू आर्य समाजी वा महाशय कहलवाने में गर्व समझते हैं।। इलाक़े के सैकड़ों मुसलमान 'नमस्ते' कहते हैं। चौ० लच्छमनदास आहलूवालिया और म० भोलानाथ ने वानप्रस्थ ले लिया है। चौधरी जी साधु आश्रम अजमेर के अधिष्ठाता है और म० भोलानाथ आर्य समाज मुकेरियाँ

की सेवा करते हैं। आजकल समाज के ३४ सदस्य हैं। संस्कारों का पर्याप्त प्रचार है। कई पौराणिकों के भी विधवा-विवाह कराये गए। साप्ताहिक सत्संग नियम-पूर्वक लगते हैं। स्त्री समाज और युवक समाज भी स्थापित हैं।

३५६. मुज़फ़्फ़रगढ़

श्री पं० गंगाराम ने सन् १८८० में आर्य समाज मुज़फ़्फ़र-गढ़ की स्थापना की। पंडित जी ने एक उपसभा स्थापित की जिसके आधीन उपदेशक और भजनीक कार्य करते रहे और जिसके द्वारा ज़िला-भर में कई समाजें क़ायम हुईं। इस समय तक इस ज़िला में लगभग २० आर्य समाजें बन चुकी हैं। पण्डित जी ने दलित जातियों में सुधार का बड़ा कार्य किया है। समाज द्वारा पांच हज़ार से अधिक व्यक्तियों की शुद्धि की गई है।

समाज मन्दिर बड़े अच्छे स्थान पर बना हुआ है। एक हज़ार व्यय करके इसको अधिक सुन्दर बनाया जा रहा है। २५ के लगभग सभासद हैं। साप्ताहिक सत्संग नियम-पूर्वक होते हैं। तीन वर्षों से एक कुमार सभा भी स्थापित है।

३६०. मुदकी (फ़ीरोज़पुर)

३६१. मुलतान [छावनी]

३६२. मुलतान [शहर]

श्री स्वामी दयानन्द महाराज ने इस भूमि को १२ से १६ एप्रिल १८७८ तक अलंकृत किया। उस समय स्वामी जी महाराज के उपदेशों में श्री बावा ब्रह्मानन्द, बा०

रलाराम, पं० बसन्तराम, सरदार प्रीतमसिंह, पं० जसवन्तराय असिस्टैण्ट सरजन मुलतान हस्पताल, बा० मनमोहनलाल हैडमास्टर गौरमिण्ट हाई स्कूल, ला० मूलराज सरिश्तेदार तथा कई एक बंगाली सज्जनों ने सहयोग दिया। मिस्टर हरमज़, मिस्टर दिनशॉ तथा अन्य कई एक पारसी सज्जनों की प्रेरणा से स्वामी जी महाराज छावनी पधारे। मौलाना सफ़दरहुसैन और बा० मीरांबख़श प्रायः आप के दर्शन करके लाभ उठाते रहे। छावनी के पारसी सज्जनों ने ७००) श्री स्वामी जी के चरणों में भेंट किया।

४ एप्रिल, १८७८ को स्वामी जी महाराज ने ७ सदस्यों से आर्य समाज की स्थापना की। मलक ज्वालासहाय ठेकेदार मियानी निवासी ने आर्य समाज मन्दिर के निर्माण में आर्थिक सहायता की। म० काशीराम लीडर ने मुसलमानों और ईसाइयों के साथ बहुत शास्त्रार्थ किये। ला० सदानन्द, ला० रञ्जीतराय, महता टेकचन्द वकील और म० रेमल आर्य समाज के कार्यकर्त्ता रहे हैं। श्री पं० गुरुदत्त एम० ए० इस समाज के रत्न थे। सर्वश्री गुरुदयाल खन्ना, भगवानदास, गणपतराय, मातीराम, राजपाल, कन्हैयालाल आदि सज्जन समाज का काम लग्न से करते रहे हैं। मन्दिर-निर्माण में मलक ज्वालासहाय ठेकेदार, ला० काशीराम लीडर, ला० चेतनानन्द वकील, भक्त गोविन्दराम, ला० दयाराम गांधी, ला० रञ्जीतराय और म० रेमल ने सहायता दी। त्यागी गोविन्दराम भक्त ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति जो लगभग दो लाख की होगी आर्य समाज को दान कर दी। उन के दान

से ही मिडिल कक्षा तक पुत्री पाठशाला चल रही है। आर्य समाज मन्दिर में श्री नन्दलाल ने एक सुन्दर यज्ञशाला बनवा दी है। इसके अतिरिक्त मन्दिर में एक कूप भी है। बाहिर से आए अतिथियों के लिए समाज में विश्राम पाने का भी प्रबन्ध है। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं :—

(क) गुरुकुल। यह नगर से तीन मील की दूरी पर स्थित है। इस में अष्टम श्रेणी पर्यन्त अध्ययन का प्रबन्ध है। इस का भवन बहुत सुन्दर है। गुरुकुल का द्वार ला० सदानन्द जेलर ने बनवा दिया है। स्वर्गवासी ला० मनमोहनलाल पोलीस इन्स्पैक्टर की पुत्री ने वहाँ एक धर्मशाला बनवा दी है। जहाँ अतिथि और ब्रह्मचारियों के संरक्षक विश्राम पाते हैं। एक यज्ञशाला श्री परमानन्द बगाही ने बनवा दी है।

(ख) पुत्री पाठशाला। यह पुत्री पाठशाला सन् १९०४ में स्थापित हुई थी। अब इस में २५० कन्याएँ शिक्षा पा रही हैं। इस में मिडिल कक्षा तक शिक्षा दी जाती है। पाठशाला का भवन अपना है जो लगभग बारह हज़ार रुपया की लागत का है। इस का वार्षिक व्यय पांच हज़ार के लगभग है। तीन हज़ार की वार्षिक सहायता सरकार की ओर से मिलती है। और शेष दान तथा गोविन्दा भगत ट्रस्ट कम्पनी पूरा करती है।

(ग) आर्य जसवन्त पाठशाला। स्वर्गवासी ला० जसवन्तराय सहगल ने अपने जीवन में एक पुत्री पाठशाला खोली थी। सरकारी सहायता के अतिरिक्त रुपया की

आवश्यकता को वे पूरा किया करते थे। वे अपनी वसीयत में जसवन्त ट्रस्ट कम्पनी में इस पाठशाला के चलाने के लिए एक पर्याप्त राशि छोड़ गए हैं। उनके स्वर्गवास होने के अनन्तर उनकी धर्मपत्नी श्रीमती गणेशीबाई बड़े प्रेम से पाठशाला की सहायता करती रही हैं। इस पाठशाला में २२० के लगभग कन्याएँ शिक्षा पाती हैं।

(घ) जसवन्त घाट। यात्रियों के विश्राम के लिए श्रीला० जसवन्तराय ने हरिद्वार में एक घाट बनवाया। यह आर्य समाज मुलतान के आधीन ही है। लाला जी की धर्मपत्नी श्रीमती गणेशीबाई उसका प्रबन्ध कर रही हैं।

(ङ) स्त्री समाज। इसका भवन अपना पृथक है।

समाज प्रचारार्थ प्रायः पुरोहित रखता है। आजकल दैनिक सत्संग लगते हैं। समय-समय पर मुहल्लों में भी प्रचार होता रहता है। मेलों पर भी प्रचार होता रहता है। १७ से २१ सितम्बर १६३५ तक जैनियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ। आर्य समाज की ओर से स्वामी कर्मानन्द थे। श्रोताओं की संख्या हज़ारों तक पहुंचती रही। कई बार शास्त्रार्थ होते-होते रात का एक बज जाता। आजकल प० अर्जुनदेव के पुरुषार्थ से मुहल्लों में अच्छा प्रचार हो रहा है।

समाज की ओर से श्मशान भूमि में अन्त्येष्टि के लिए वेदियाँ बनी हुई हैं। आर्यों के अतिरिक्त अन्य सज्जन भी इनसे लाभ उठाते हैं।

श्रीमती पुजारीबाई धर्मपत्नी स्वर्गवासी डा० लोकनाथ

ने पाँच हज़ार का एक मकान दान किया। भगत गोविन्दराम ने दो लाख के लगभग की सम्पत्ति म० जसवन्तराय सहगल ने बीस हज़ार, ठाकुर जसवन्तसिंह ने तीस हज़ार, और भाई कौड़ालाल ने पन्द्रह सौ समाज को दान किया है। भाई दयालदास ने पन्द्रह सौ की लागत का एक मकान दान किया है।

३६३. मुस्तफ़ाबाद (अम्बाला)

३६४. मैलसी (मुलतान)

३६५. मोगा (फ़ीरोज़पुर)

३६६. मोचीवाली (मुज़फ़्फ़रगढ़)

३६७. मोरिंडा

यहाँ आर्य समाज की स्थापना लगभग सं० १६५४ में श्री स्वा० योगेन्द्रपाल के पुरुषार्थ से हुई।

आर्यों को बड़े संकट झेलने पड़े हैं। इन का कुओं से पानी भरना बन्द कर दिया गया। आर्य समाज का मन्दिर पहले साधारण था। १६११ में कुछेक व्यक्तियों के दान से ही नए कमरे बन गए हैं। १६११ में आर्य कन्या पाठशाला की स्थापना की गई। पहले यह प्राइमरी तक थी। अब इस में मिडिल तक की शिक्षा का प्रबन्ध हो गया है। इस में ८० कन्याएँ शिक्षा प्राप्त करती हैं। पाँच अध्यापिकाएँ हैं। कई जन्म के मुसलमानों की शुद्धियाँ समाज द्वारा की गई हैं। समाज ने दलितोद्धार का कार्य भी किया है। दलितों को कुओं पर चढ़वाया है। जराइम पेशा लोगों के लिए समाज

की ओर से कुछेक मकान बनवा कर दिये गए हैं। इन लोगों की पढ़ाई का भी प्रबन्ध कर दिया गया है । इनका आचार व्यवहार सुधर रहा है। अब ये समाज के साप्ताहिक सत्संग में सम्मिलित होने लगे हैं।

३६८. मुकन्दपुर (जलन्धर)

३६९. मौरमण्डी (पटियाला)

३७०. रंगपुर (मुज़फ़्फ़रगढ़)

३७१. रजोआ (झंग)

यहाँ आर्य समाज श्री महाशय गोविन्दराम के ही पुरुषार्थ से स्थापित हुआ है। सन् १९२९ में समाज मन्दिर का निर्माण हुआ । १ कार्त्तिक १९८९ को म० मय्यादास के दान देने पर उनके नाम पर आर्य पुत्री पाठशाला की स्थापना कर दी गई। समाज ने वैदिक धर्म प्रचार के लिए यहाँ एक भजन मण्डली बना रखी है। डा०कृष्णगोपाल की भगिनी का विवाह जात-पात तोड़ कर किया गया। इस पर रजाओ और चिनयोट बिरादरी ने इनका बायकाट करने के अतिरिक्त उनको कराये की दुकान से भी निकाल दिया और कत्ल करने की धमकी दी। समाज के आधीन एक पुस्तकालय है। आजकल दैनिक सत्संग प्रारम्भ हो गया है । समाज के ३० सभासद हैं।

३७२. रजोमजरा (पटियाला)

३७३. रणवीरसिंहपुरा (जम्मूँ)

३७४. रनाला खुर्द (मिण्टगुमरी)

३७५. रन्धावा (सियालकोट)

३७६. रसूल (गुजरात)

३७७. राजनपुर (डेरागाज़ीखाँ)

यहां सन् १८९० में स्व० डा० नैनीयतराम तथा ला० चोथूराम, सब इन्स्पैक्टर पोलीस ने आर्य समाज का बीज बोया। पश्चात् कई महानुभावों के प्रयत्न से समाज की नियमित रूप से स्थापना हो गई। सन् १९२६ में समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। स्व० ला० गोवर्धनदास के वसीयत करने पर उनकी धर्मपत्नी श्रीमती प्यारीबाई ने ५०००) की लागत की एक वाटिका आर्य समाज को पाठशाला के लिए सन् १९२७ में दान की। लाला जी के कथनानुसार उनके नाम पर पाठशाला खोली गई। स्व० सेठ बालाराम, श्रीमती खेमीबाई, स० विश्वम्भरदत्त आदि व्यक्तियों ने समाज की आर्थिक सहायता की। यहां दैनिक सत्संग की प्रथा जारी है। वैदिक संस्कार होते रहते हैं। समाज ने कई विधवा विवाह कराये हैं। स्त्री समाज भी चल रहा है।

३७८. राजपुरा (पटियाला)

३७९. रादौर (करनाल)

स्व० श्री लालाराम के पुरुषार्थ से जून १९०३ में यहां आर्य समाज की स्थापना हुई। पं० गंगादत्त यहां प्रचारार्थ पधारे और श्री शाकम्भरीदास कानूनगो की प्रेरणा से एक प्रतिष्ठित वैश्य ने उनका व्याख्यान अपनी दुकान पर

करवाया। आपके व्याख्यान से पौराणिकों और मुसलमानों में खलबली मच गई। श्री शाकम्भरीदास की प्रेरणा से पं० हरिशरण वैष्णव ने एक ब्राह्मण रथवान् की जो मुसलमान हो गया था, शुद्धि की। इस शुद्धि को देखने बड़े लोग आये। जिन-जिन सज्जनों ने इस शुद्ध किए के हाथ की मिठाई खाई उनका बायकाट कर दिया गया। उनको कुओं पर घड़े तक न रखने दिये जाते थे। आर्य अपने विचार पर दृढ़ रहे। श्री शाकम्भरीदास की शिकायत की गई जिससे उन्हें वहाँ से तबदील कर दिया गया। कई एक रहतियों और ईसाइयों की शुद्धियाँ की गईं। अब छूत-छात कम हो गई है। हरिजनों के लिए मन्दिर खुलते जा रहे हैं। समाज के प्रथम वार्षिकोत्सव में पं० हरनामसिंह तथा पं०पूर्णानन्द पधारे। ला०केवलकृष्ण, ला० मुकुन्दलाल, ला० भगवान्दास तथा ला० काशीराम ने समाज मन्दिर के लिए दान दिया। १६२५में ला० विश्वम्भर दत्त के हाथ से समाज मन्दिर की आधारशिला रखी गई। १६२४ में एक अछूतोद्धार देवनागरी पाठशाला स्थापित की गई है। इसमें ५० से ऊपर हरिजन तथा उच्च जाति के हिन्दू बालक शिक्षा पाते हैं। पहले तो शाला के लिए ला० लाजपतराय कमेटी से २०) मासिक सहायता मिलती रही। १६२६के पश्चात् वह सहायता बन्द कर दी गई। अब ला० मुकुन्दलाल स्टील रूलिंग मिल्ज़ बादामीबाग़ की ओर से १५) मिलते हैं। शाला के मैनेजर श्री शाकम्भरीदास हैं।

३८०. रामटटवाली (होशयारपुर)

३८१. रामनगर (गुजरांवाला)

३८२. रामनगर (जम्मूँ)

सं० १९८० को सभा के उपदेशक पं० परमानन्द बी० ए० ने यहाँ आर्य समाज की स्थापना की। ला० ढेरामल वकील के अनथक परिश्रम से समाज ने खूब उन्नति की। हज़ारों दलित भाइयों को शुद्ध कर के वैदिक धर्म में प्रविष्ट किया गया। १९८० को पं० पूर्णचन्द उपदेशक का सनातन-धर्मावलम्बी पं० गुरुदत्त के साथ शुद्धि पर शास्त्रार्थ हुआ। ला० ढेरामल के ऊधमपुर चले जाने के कारण आर्य समाज का कार्य इतना उन्नति न कर सका। इस समय तक आर्य समाज ने ५० विधवाओं का विवाह किया है। सं० १९८६ में समाज मन्दिर में प्रचार कराने के कारण उस समय के मुसलमान सब इन्सपैक्टर पोलीस ने उपदेशकों, भजनीकों, समाज के प्रधान तथा मन्त्री के विरुद्ध अभियोग खड़ा कर दिया। परन्तु अन्ततः सुपरेंटैन्डैण्ट पोलीस जम्मूँ ने सब वृत्तान्त ज्ञात करने के अनन्तर अभियोग ख़ारिज कर दिया।

३८३. रामपुरराजौरी (जम्मूँ)

३८४. रामामण्डी (पटियाला)

श्री पं० अमीचन्द उपदेशक की प्रेरणा से सं० १९६२ में स्थानिक सज्जनों ने आर्य समाज स्थापित की। सं० १९६५ में आर्य समाज तलवण्डी के उत्सव पर सी० आई० डी० की रिपोर्टों के आधार पर उत्सव में सम्मिलित होने वाले पं० परसराम और म० रौनकसिंह को गिरिफ़तार कर लिया गया। इस से समाज की अवस्था शिथिल पड़ गई।

१ वैशाख १९६६ में स्वामी स्वतन्त्रानन्द महाराज के यहाँ पधारने और प्रेरणा करने पर आर्य समाज पुनः स्थापित हो गया। पं० परसराम, म० गेन्दाराम, म० रौनकसिंह, म० नानकचन्द, म० तिलकराम इत्यादि सज्जन समाज का कार्य लग्न से करने वाले हैं। इसकी सम्पत्ति दस हज़ार की है। इस के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं :—

(क) एँग्लो वैदिक मिडल स्कूल।

(ख) हिन्दी पाठशाला।

(ग) कन्या पाठशाला।

३८५. रायकोट (लुधियाना)

श्री ला० मुंशीराम ने सन् १८९४ में यहाँ आर्य समाज की स्थापना की। ला० नन्दलाल के घर पर समाज के सत्संग लगते रहे। पं० गंडाराम कुछ समय तक सत्यार्थ-प्रकाश की कथा करते रहे। इस समय २५,०००) की लागत का समाज मन्दिर बन गया है। म० नन्दीमल तथा ला० राधाकृष्ण ने आर्थिक रूप से समाज की सहायता की है। डा० गुरुप्रसाद और ला० तिलकराम वर्त्तमान कार्यकर्त्ता हैं। समाज के पुरुषार्थ से ही गुरुकुल रायकोट चल रहा है।

३८६. रावलपिण्डी [लालकुरती बाज़ार]

श्री सत्यव्रत, विद्यार्थी डी० ए० वी० कालेज, म० सेघकराम, ला० रामप्रसाद, तथा श्री केशोराम के पुरुषार्थ तथा डा० ईशरदास की आर्थिक सहायता से ११ जून १९२४ में श्री स्वामी वेदानन्द तीर्थ तथा श्री पं० मुक्तिराम आचार्य की उपस्थिति में आर्य समाज स्थापित हुआ। ला० ज्ञान-

चन्द वकील सदस्य कैन्टोनमैण्ट बोर्ड के प्रयत्न से कैन्टोनमैण्ट से भूमि प्राप्त की और ११ सितम्बर १९२७ को बड़ी धूम-धाम से आर्य समाज मन्दिर तथा पाठशाला की आधार-शिला श्री ला० हरिराम (मैसर्ज़ कृपाराम ब्रादर्ज़) के कर-कमलों से रखी गई। आर्य सदस्यों और विशेष करके म० जगन्नाथ के पुरुषार्थ से धन एकत्र हुआ और आर्य समाज का मन्दिर निर्मित हो गया। आर्य समाज के २० सदस्य हैं। १९३३ में आर्य समाज के आधीन एक युवक सभा खोली गई है।

आर्य समाज की ओर से श्री म० रामलाल आर्य तथा म० मंगतराम ने हरिजनों में प्रचार कार्य किया। सैकड़ों रामदास भाइयों को यज्ञोपवीत पहनाए गये और उन्हें वैदिक धर्म में प्रविष्ट किया गया। वाल्मीकी भाइयों को ईसाई होने से बचाया गया। १९२६ के प्रारम्भ में एक वाल्मीकि सभा खोली गई जिस में म० धर्मदत्त, म० रामलाल तथा म० हंसराज ने कार्य किया। एक-दो मास में ही ईसाई बने हुए वाल्मीकों को वैदिक धर्म में प्रविष्ट किया गया। पहले-पहल सनातनियों ने विरोध किया परन्तु पश्चात् शनैः-शनैः विरोध कम होता चला गया। समाज के आधीन पांचवीं श्रेणी तक एक कन्या पाठशाला चल रही है जिस में ८० के लगभग कन्याएँ शिक्षा ग्रहण करती हैं।

३८७. रावलपिण्डी [शहर]

आर्य समाज रावलपिण्डी तो चिरकाल से स्थापित है। समाज ने इस इलाके में धर्म-प्रचार का भरसक कार्य किया

है। हरिजन सुधार की दिशा में भी पर्याप्त यत्न किया गया है। आर्य समाज ने उपदेशक तय्यार करने के लिए उपदेशक महाविद्यालय स्थापित किया। पं० मुक्तिराम को इस का आचार्य बनाया गया। यह विद्यालय कुछ समय तक चल कर दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर में रूपान्तरित हो गया। शिक्षा के प्रचार के लिए आर्य समाज ने गुरुकुल पोठोहार की स्थापना की जिस की अब एक पृथक् प्रबन्ध समिति बनाई गई है। गुरुकुल के आचार्य पं० मुक्तिराम हैं। कन्याओं की शिक्षा के लिए एक पुत्री पाठशाला की स्थापना की गई है। इसमें रत्न और भूषण की परीक्षाओं का प्रबन्ध भी किया हुआ है। शारीरिक उन्नति के लिए समाज ने एक धर्मार्थ आर्य औषधालय खोला हुआ है। दान-वीर ला० कृपाराम व हरिराम ने सहस्रों रुपये व्यय करके आर्य समाज मन्दिर तय्यार करवा दिया है और उन्हों ने ही इस की आधारशिला रखी।

३८८. रावलपिण्डी [सदर बाज़ार]

ऋषि दयानन्द पंजाब की यात्रा करते हुए रावलपिण्डी भी प्रचारार्थ पधारे। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर ला० मुरलीधर, पं० सीताराम शास्त्री आदि महानुभावों ने आज से ५० वर्ष पूर्व यहाँ समाज की स्थापना की थी। पं० लेखराम और स्वामी दर्शनानन्द की इस समाज पर विशेष कृपा रहती थी। दीवान सुन्दरदास, महता सीताराम दत्त तथा ला० गोविन्दराम ने बड़े पुरुषार्थ से इस समाज की सेवा की है। लाला जी ने पचास हज़ार की लागत से

समाज का मन्दिर बनवा दिया है। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं :—

(क) कन्या पाठशाला। २० वर्ष से ला० गोविन्दराम प्रबन्धक भारत कमरशल कम्पनी की स्वर्गीय धर्मपत्नी की स्मृति में जारी है। इस समय २५० कन्याएँ इस में शिक्षा प्राप्त कर रही हैं।

(ख) हरद्वारीलाल वैदिक पुस्तकालय। ला० रामचन्द्र वैद्य ने अपने भाई ला० हरद्वारीलाल की स्मृति में पुस्तकालय जारी किया। इसका व्यय-भार मैसरज़ हरद्वारीलाल एण्ड ब्रादर्ज़ उठा रहे हैं। पुस्तकालय में तीन हज़ार पुस्तकें हैं। वाचनालय भी चल रहा है।

(ग) खैरायती हस्पताल। महता नरेन्द्रनाथ के व्यय से यह हस्पताल चलता है। डा० रामकृष्ण हाण्डा बड़े प्रेम से चिकित्सक का कार्य करते हैं।

(घ) स्त्री समाज। यह भली भान्ति अपना कार्य करता है।

एक आर्य मिडल स्कूल २५ वर्ष तक समाज के आधीन चलता रहा परन्तु पश्चात् धनाभाव के होने से बन्द हो गया।

आजकल पं० बुद्धदत्त आर्य समाज के पुरोहित है। स्थानिक प्रचार के अतिरिक्त इर्द-गिर्द के इलाक़े में भी प्रचार किया जाता है। हरिजनों को भी प्रचार सुनाने का यत्न किया जाता है। म० सन्तराम अजमानी समाज के विरोधियों का लेख द्वारा उत्तर देते रहते हैं।

३८६. राहों (जलन्धर)

सं० १६४० में आर्य विचार रखने वाले सज्जनों ने एक दुकान किराये पर ली और वे कभी-कभी वहाँ इकट्ठे मिल बैठते थे। सात वर्ष पश्चात् श्री स्वामी योगेन्द्रपाल वहाँ पधारे और तीन दिन तक यहाँ व्याख्यान देते रहे। फिर कई वर्षों तक आते रहे। जब तीसरे साल वे आये तो उन्होंने आर्य समाज मन्दिर बनाने पर बल दिया। जब उससे अगले वर्ष वे यहाँ आये तो पौराणिकों और मुसलमानों ने चुनौती दी। पौराणिक तो चुप हो गये परन्तु मुसलमानों ने मौलाना सनाउल्ला अमृतसरी को राहों बुलवाया। परन्तु वे भी स्वामी योगेन्द्रपाल को देखकर अमृतसर वापिस चले गए। फिर स्वामी जी ने मांस भक्षण के निषेध में व्याख्यान दिये। पुनः मुसलमानों ने एक मौलवी बुलाया और शास्त्रार्थ किया। मौलवी साहिब उत्तर देने में अपने आपको अशक्त पाकर भाग गये। वहाँ के मुसलमान राजपूतों ने जो स्वामी जी के व्याख्यानों पर मुग्ध हो गए थे, स्वामी जी से पुनः शास्त्रार्थ करने के लिए कहा और निवेदन किया कि यदि अब हमारे मौलाना ने मांस भक्षण को प्रमाणित न सिद्ध कर दिया तो हम आर्य धर्म को ग्रहण कर लेंगे। दोनों पक्षों का शास्त्रार्थ हुआ। मांस भक्षण प्रमाणित सिद्ध न हो सका। फलतः वे राजपूत शुद्ध होने के लिए तय्यार हो गये। परन्तु हिन्दू धर्म की लीला न्यारी है। एक पौराणिक पण्डित उन राजपूतों के घर गए और उन्हें बतलाया कि मांस भक्षण का वर्णन तो वेद में आता है। आर्य होते-होते राजपूतों को

अपना कट्टर विरोधी बना लिया। यहाँ समय-समय पर शास्त्रार्थ होते ही रहते हैं। सं० १९५८ में भूमि ली गई और एक कच्चा मकान बनवाया गया। आखिर सं० १९६९ में श्री स्वामी योगेन्द्रपाल के कर-कमलों से समाज मन्दिर की आधारशिला रखवाई गई। पक्का समाज मन्दिर तय्यार हो गया। उस समय ला० हरप्रकाश खासला रईस, ला० गणपतराय मेहता, चौधरी महाराज, पं० रामलाल, पं० रेलूराम, पं० शिवदास तथा पं० पोहलोराम समाज का काम करने वाले सज्जन थे। समाज के आधीन एक औषधालय चल रहा है। ला० हरदयाल हैड मास्टर, गौरमिण्ट हाई स्कूल के पुरुषार्थ से समाज ने उन्नति की।

३९०. रियासी (जम्मूँ)

३९१. रिसालपुर (पेशावर)

सन् १९२७ में आर्य समाज रिसालपुर की नियमपूर्वक स्थापना हुई। श्री मुन्शीराम, म० रामकिशन हैड डराफ्टसमैन तथा म० दीवानचन्द आदि महानुभाव उस समय के कार्यकर्त्ता रहे। समाज के अधिवेशन म० चिरञ्जीवलाल के मकान पर होते रहे। समाज के आधीन पुस्तकालय तथा स्त्री समाज चल रहा है। समाज मन्दिर के लिए भूमि प्राप्त की गई और म० नौनिहालसिंह ने मन्दिर की आधारशिला रखी। सनातनी भाई आर्यों से विरोध करते रहे हैं। सनातनी हलवाई अपने बर्तनों में आर्यों को दूध नहीं देते थे। आर्यों ने एक अपनी दुकान खोल ली। शनैः-शनैः विरोध कम होता गया। समाज के साप्ताहिक तथा वार्षिक उत्सव होते हैं।

३६२. रीवाड़ी (गुड़गांवाँ)

३६३. रोडस (स्यालकोट)

२९ जुलाई १९३४ को ला० मनोहरलाल के पुत्र धर्मपाल के उत्पन्न होने के हर्ष-अवसर पर पं० बनवारीलाल, अध्यक्ष विद्यार्थी आश्रम, लाहौर ने यज्ञ कराया और समाप्ति पर पण्डित जी की प्रेरणा से आर्य समाज की स्थापना की गई। साप्ताहिक सत्संग लगते हैं। सब आर्य पर्व बड़ी धूम-धाम से मनाये जाते हैं। सवा साल से प्रधान जी के घर पर ही साप्ताहिक सत्संग लगते हैं।

३६४. रोपड़ (अम्बाला)

सन् १८८२ में ला० सोमनाथ जो भाई साहिब के नाम से प्रसिद्ध थे, के प्रयत्न से यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई। आप 'सद्धर्मप्रचारक' के सम्पादक तथा गुरुकुल कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता भी रहे। सं० १९०० में जब शुद्धि का चक्कर चला तो आर्य समाज रोपड़ ने रहतियों की शुद्धि की। पौराणिकों ने आर्यों का बायकाट कर दिया। उनके लिए कूएँ बन्द कर दिए गए। आर्यों के पीने के लिए पानी भी नहर से लाना पड़ा। पौराणिकों और जैनियों ने पं० गोपीनाथ के अखबार में छपवा दिया कि आर्य समाजी चमार हो गए हैं। ऐसा करने से उन पर मुकद्दमा चलाया गया। अपराधियों को क्षमा मांग कर अपना पीछा छुड़ाना पड़ा। १९०६ में आर्य समाज ने एक पुत्री पाठशाला की स्थापना की। अब यह आठवीं श्रेणी तक चल रही है। १९०८ में ला० सोमनाथ के

स्वर्गवास होने के अनन्तर पाठशाला का नाम सोमनाथ पुत्री पाठशाला रखा गया। १९१२ में आर्य कुमार सभा की स्थापना की गई। कुमार सभा के कर्त्ता-धर्त्ता म० प्राणनाथ तथा म० बद्रीनाथ थे। चौ० गण्डाराम तथा पोहलोराम समाज के उत्साही कार्यकर्त्ता हैं।

प्रचार और शुद्धि के कार्य में समाज अग्रसर रहा है। इसमें कई विद्वान् उपदेशार्थ पधारते रहे हैं। पं० लेखराम, पं० गणपति, महा० मुन्शीराम, पं० आर्यमुनि, पं० पूर्णानन्द, स्वा० सर्वदानन्द, स्वा० दर्शनानन्द, स्वा० मुनीश्वरानन्द, स्वा० अनुभवानन्द, स्वा० स्वतन्त्रानन्द, स्वा० सत्यानन्द, आचार्य रामदेव, पं० रामचन्द्र देहलवी, पं० बुद्धदेव आदि सज्जनों के नाम उल्लेखनीय हैं। मुसलमानों, पौराणिकों और सिक्खों के साथ शास्त्रार्थ भी हुए हैं। ईसाइयों के साथ शास्त्रार्थ के परिणाम-स्वरूप एक बड़ी भारी शुद्धि हुई जो समाज के इतिहास में सदा याद रहेगी। पुत्री पाठशाला के पास १५,०००) का स्थिर कोष है। सभासदों की संख्या ८० है।

३६५. रोहतक

३६६. रोहिड़ाँवाली (हिसार)

तीस वर्ष हुए यहाँ चौ० मोतीसिंह ने आर्य विचारों का प्रचार करना प्रारम्भ किया। पश्चात् मुंशी कृष्णचन्द्र ने ग्रामों में प्रचार कार्य किया। सन् १९२८ में समाज का प्रथम वार्षिक उत्सव हुआ। इस उत्सव का प्रभाव इतना उत्तम हुआ कि सारा-का-सारा ग्राम ही वैदिक धर्मानुयायी हो

गया। बीच में समाज की अवस्था कुछ शिथिल-सी हो गई। पुनः चौ० सूर्यसिंह, चौ० रामदयाल, चौ० खताराम आदि महानुभावों के उद्यम से समाज चमक उठा और फ़रवरी १९३९ को समाज का उत्सव धूम-धाम के साथ मनाया गया।

३९७. लक्की मर्वत (बन्नूँ)

३९८. लखपुर (कपूर्थला)

यहाँ पौष १९७६ को आर्य समाज की स्थापना हुई। प्रारम्भ में इस के ७ सभासद थे। पश्चात् बढ़ते-बढ़ते यह संख्या २० तक पहुँच गई। साप्ताहिक सत्संग लगते रहे। यहाँ पं० धर्मभिक्षु आदि महानुभाव प्रचारार्थ दर्शनदेते रहे हैं। ३१ आषाढ़ १९८५ को समाज के लिए एक भूमि खरीदी गई और १९९२ में इसकी बुनियादें बनाई गईं। सर्वश्री भगवान्दास, सूबाराम, दौलतराम, कर्मचन्द, गोवर्धनदास, महंगाराम आदि महानुभाव समाज के कार्यकर्त्ता हैं। इस के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं।

(क) आर्य पुत्री पाठशाला। यह पाठशाला १९९० में स्थापित हुई। ३५ कन्याएँ इस में शिक्षा ग्रहण करती हैं।

(ख) पुस्तकालय।

३९९. मुज़फ़्फ़रगढ़

४००. लाडवा (करनाल)

यहाँ आर्य समाज अच्छी तरह चल रहा है। इसके ४० सदस्य हैं। समाज का अपना एक मन्दिर है। आर्य समाज

ने अछूतोद्धार की दिशा में भी प्रचार किया है । दो वर्ष से एक अनाथालय स्थापित है । पं० पूर्णानन्द यहाँ के उत्साही काम करने वाले हैं ।

४०१. लायलपुर

सन् १८९८ में एमनाबाद-निवासी म० गणपतराय के प्रयत्न से आर्य समाज की स्थापना हुई । समाज के पहले प्रधान ला० बालकराम ठेकेदार और मन्त्री म० गणपतराय नियत हुए । पहले सत्संग मन्त्रीजी के मकान पर ही होते थे । १८९९में मन्दिर के लिए भूमि खरीदी गई । अब तो बड़ी देर से समाज मन्दिर बड़ा शानदार बना हुआ है । १९०४ में महता जैमिनी लायलपुर आये और यहाँ वकालत करने लगे । वे समाज के प्रधान नियत हुए । महता जी यहाँ से एक साप्ताहिक "मनुष्य-सुधार" पत्र भी निकालते थे । उन्होंने चौ० अनन्तराम आनरेरी मैजिस्ट्रेट तथा बा० गोपालदास की सहायता से १९०४ में कन्या पाठशाला की स्थापना की जो इस समय भी मिडिल कक्षा तक चल रही है । ला० गुरदित्तामल वकील, ला० अमृतलाल रिटायर्ड एग्जैक्टिव इञ्जीनियर, बा० नारायणसिंह हैड डराफ्टसमैन, बा० बिहारीलाल नायब तहसीलदार, बा० प्रीतमदास आढ़ती, ला० भवानीदास, महता झण्डाराम जी उस समय के कार्यकर्त्ता थे ।

ला० लच्छमनदास कोल मर्चैन्ट टोबाटेकसिंह से लायलपुर आ गए । यह भी एक बड़े उत्साही आर्य थे । समाज की दिन प्रति दिन उन्नति होने लगी । कमालिया-

निवासी डा० सत्यपाल यहाँ आये। यह भी एक आर्य समाज के दृढ़ भक्त थे। ला० खुशहालचन्द्र जी मैनेजर पंजाब नैशनल बैंक समाज के प्रधान रहे हैं। १६१६ के लगभग सेठ ज्वालादास तथा ला० दीवानचन्द ने दस हजार रुपया आर्य हाईस्कूल बनाने के लिए दान रूप में देने के लिए कहा। परन्तु समाज के सदस्यों ने नहीं माना। फिर यह दान डी० ए० वी० कालेज मैनेजिंग कमेटी को दिया गया जिससे आजकल धनपतमल ऐंग्लो संस्कृत हाई स्कूल बना हुआ है। श्री मलक नन्दलाल और सेट महानारायण आर्य समाज को बड़ी सहायता देते रहे हैं।

समाज में स्वा० श्रद्धानन्द, स्वा० दर्शनानन्द, पं० गणपति, पं० शिवशंकर, पं० पूर्णानन्द, पं० रामरत्न, पं० हरनामसिंह, पं० वज़ीरचन्द आदि महानुभाव प्रचारार्थ पधारते रहे हैं।

आर्य समाज के आधीन एक अनाथालय चल रहा है। इसके प्रबन्ध के लिए एक पृथक् समिति बनी हुई है। इसका अपना बड़ा सुन्दर भवन है। श्री स्वामी सत्यानन्द जी के करकमलों से इसकी आधार शिला रखी गई। एक साल के भीतर ही मास्टर जी के उद्योग और राय फ़क़ीरचन्द रिटायर्ड सब डवीयनल आफ़ीसर के संरक्षण में यह भवन तय्यार हो गया। इसका उद्घाटन संस्कार पं० ठाकुरदत्त वैद्य अमृतधारा ने किया।

समाज के आधीन एक स्त्री समाज चल रहा है। इसके साप्ताहिक सत्संग लगते हैं। स्त्री समाज से लगभग तीन सौ

रुपये की सहायता समाज के वार्षिकोत्सव पर मिलती है। स्त्री समाज ने सब से बड़ा दान एक हज़ार रुपये का आर्य अनाथालय लायलपुर को भवन के लिए दिया है। इसकी प्रधाना श्रीमती दुर्गादेवी रही हैं।

आर्य समाज ने अछूतोद्धार के सम्बन्ध में बड़ा कार्य किया है। बड़ी-बड़ी शुद्धियाँ हुई हैं। अछूतों के लिए कई पाठशालाएँ खोली गईं जो पर्याप्त समय तक चलती रहीं। महता जैमिनी और मास्टर गुरुदित्तामल के पुरुषार्थ से बाहिर मण्डियों में कई समाजें स्थापित हुई हैं।

४०२. लायलपुर [डगलसपुरा]

४०३. लालामूसा (गुजरात)

४०४. लाहौर [क़िला गुजरसिंह]

सन् १९१५ के लगभग क़िला गुजरसिंह में म० रामप्रसाद मोटर ड्राइवर के प्रधानत्व में एक आर्यन क्लब की स्थापना हुई। पश्चात् पं० गंगासहाय वर्त्तमान स्वा० मंगलानन्द के प्रयत्न से आर्यन क्लब का नाम आर्य समाज क़िला गुजरसिंह रक्खा गया। एक वैदिक पाठशाला भी खोली गई। १९२१ में म० बद्रीप्रसाद खुल्लर समाज के प्रधान बने। वे समाज का काम बड़े उत्साह से करने वाले सज्जन हैं। सन् १९२८ में म० गोपालदास समाज में प्रविष्ट हुए और शीघ्र ही प्रधान चुने गए। वे समाज का काम अत्यन्त लग्न से करने वाले हैं।

यह समाज शुद्धि, दलितोद्धार, अबला-रक्षा, अन्तर्जातीय भोज आदि सामाजिक सुधार करता रहा है। पहले

तो समाज किराये के मकान में लगता रहा। अब १६३६ से इसका अपना मन्दिर बन गया है। समाज के आधीन सन् १६२६ से आर्य पुत्री पाठशाला चल रही है। इसमें १० अध्यापिकाएँ और २७५ छात्राएँ हैं।

४०५. लाहौर [कृष्णनगर]

४०६. लाहौर [गुरुदत्त भवन]

३-४ वर्ष से आर्य समाज गुरुदत्त भवन स्थापित है। इसके उत्साही कार्यकर्त्ता ला० सोहनलाल ठेकेदार और म० मुन्शीराम हैं। इस समाज में सभा के उपदेशक प० जगन्नाथ ने प्रचार किया है। स्त्री समाज भी अच्छी प्रकार से चल रहा है।

४०७. लाहौर [ग्वालमण्डी]

४०८. लाहौर [चौबुर्जी गार्डनज़]

जुलाई १९३० में ला० हरिश्चन्द्र बत्तरा तथा ला० नानकचन्द ट्रांसलेटर हाईकोर्ट के पुरुषार्थ से चौबुर्जी आर्य समाज की स्थापना हुई। साप्ताहिक सत्संग क्वार्टरों में ही लगते रहे। १६३४ में मन्दिर-निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ। मन्दिर की आधारशिला सर डा० गोकुलचन्द नारंग ने रखी। ला० नानकचन्द ने एक यज्ञशाला बनवा दी है जिस की आधारशिला श्री स्वा० गगागिरि ने रखी। सर डा० गोकुलचन्द, श्री मदनमोहन, राय साहिब सोहनलाल, सेठ वंशीलाल की पूज्या माता, ला० नानकचन्द रईस, बेलीराम ब्रादर्स तथा श्री सम्पूर्णसिंह ने आर्थिक सहायता की है।

पं० ठाकुरदत्त तथा उनके हिस्सेदारों ने एक कनाल पौने पन्द्रह मरले भूमि मन्दिर के लिए दान दी है। ला० अनन्त-राम तथा ला० विलायतीराम ने मन्दिर-निर्माण में सहयोग दिया है।

४०६. लाहौर [धर्मपुरा]

४१०. लाहौर [रामगढ़]

यहाँ सन् १९२४ में आर्य समाज की स्थापना हुई। स्व० म० रामकृष्ण ने प्रारम्भिक दिनों में खूब काम किया है। स्व० म० फ़तहचन्द इतने भक्त थे कि उन्हों ने कर्ज़ा ले कर समाज मन्दिर के लिए १००) दान दिया। आजकल २०००) की लागत का मन्दिर बना हुआ है। समाज के ४० सभासद हैं। पं० बिहारीलाल भजनीक समाज की भजनों द्वारा सेवा करते रहते हैं। म० दुर्गादास भी समाज के पुराने कार्यकर्त्ता चले आ रहे हैं। यहाँ एक आर्य पुत्री-पाठशाला भी चल रही है। स्त्री समाज के भी सत्संग लगते हैं।

४११. लाहौर [रामगली]

४१२. लाहौर [रावी रोड]

४१३. लाहौर [वच्छोवाली]

इस समाज की स्थापना महर्षि दयानन्द ने स्वयं यहाँ पधार कर ज्येष्ठ सुदि १३ सं० १९३४ तदनुसार २४ जून १९७७ को की। सन् १८८१ में समाज मन्दिर का स्थान खरीदा गया। यहाँ सन् १८९० से एक आर्य पुत्री पाठशाला चलती आ रही

है जिस में १६ अध्यापिकाएँ ४, बुलावियाँ और तीन सेवक कार्य करते हैं। इस समय ४५५ कन्याएँ पाठशाला में शिक्षा पा रही हैं। पाठशाला में मिडिल तक की शिक्षा का प्रबन्ध है।

पं० ठाकुरदत्त, म० कृष्ण, पं० विश्वम्भरनाथ डा० ढल्ला-राम, श्रीमान् निरञ्जननाथ, ला० नन्दलाल, आचार्य रामदेव, ला० बांसाराम, पं० बुद्धदेव, स० मेहरसिंह, पं० भीमसेन, प्रो० शिवदयाल, पं० ज्ञानचन्द्र समाज के कार्यकर्त्ता रहे हैं।

यह समाज भारत में एक विशेष स्थान रखता है। आर्य समाज क संशोधित दस नियम यहाँ ही बने थे। पं० गुरुदत्त इसी समाज के रत्न थे। इसका अर्द्ध-शताब्दी महोत्सव सन् १६२७ में मनाया गया। कभी पुराने समय में सन् १८७७ में इसके सभासदों की संख्या ३०० तक रह चुकी है। अब इसके १३४ सभासद हैं। इसने रहतियों और मेघों की शुद्धि की है।

४१४. लाहौर [सदर]

यह आर्य समाज सन् १८६४ में सात सभासदों से स्थापित हुआ। १४ एप्रिल, १६१३ से साप्ताहिक सत्संग अपने खरीदे हुए भवन में होने लगे। समाज को स्थापित करने का श्रेय म० ताराचन्द, म० रामरक्खामल, म० पञ्जम-सिंह, म० कानूराम, म० बख़शीशसिंह, म० सोहनलाल तथा म० रामकृष्ण को प्राप्त है। मन्दिर १६१३ में म० शिवदयाल की देख-रेख में बनवाया गया। मन्दिर के लिए चन्दा एकत्र करने में ला० भगवानदास तथा म० ठाकुरदास ने पुरुषार्थ

किया। स्थापना से लेकर आज तक इसके चालीस उत्सव हो चुके हैं। समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ कार्य कर रही हैं :—

(क) आर्य कुमार सभा और आर्य युवक समाज।

(ख) भगवान्दास आर्य कन्या पाठशाला।

(ग) आर्य स्त्री समाज।

(घ) दयानन्द वैदिक पुस्तकालय, तथा श्रद्धानन्द रीडिंग रूम।

(ङ) आर्य हिन्दी पाठशाला। यह डेढ़ वर्ष से स्थापित है। इसमें दलित तथा अन्य बालक हिन्दी तथा संस्कृत की शिक्षा ग्रहण करते हैं।

म० बख़्शीशसिंह, म० रामकृष्ण, म० केवलकृष्ण तथा म० हरभजनलाल विविध प्रकार से आर्य समाज की सेवा करने वाले सज्जन रहे हैं। आर्य समाज की सम्पत्ति १०,०००) के लगभग है।

४१५. लाहौर [सन्तनगर]

४१६. लुधियाना

३१ मार्च १८७७ को श्री मुंशी कन्हैयालाल की प्रेरणा से ऋषि दयानन्द इस नगर में पधारे और १ एप्रिल को व्याख्यान दिया। इस के परिणामस्वरूप २६ अक्तूबर १८८२ को आर्य समाज की स्थापना हुई। यह समाज श्री ला० रामजीदास ख़ज़ानची, बा० शिवसरनदास ठेकेदार, ला० लाजपतराय थापर, बा० उमाप्रसाद, ला० तुलसीराम, वकील, ला० केदारनाथ थापर आदि सज्जनों के उद्योग से

स्थापित हुआ। १८८६ में जब आर्य समाज ने हिन्दु स्कूल को अपने अधिकार में किया तब से साप्ताहिक सत्संग वहाँ लगने लगे। १९ एप्रिल, १९०६ को नगर के मध्य में तालाब बाज़ार में ५०००) में मन्दिर के लिए पर्याप्त स्थान मिल गया। और पुनः मन्दिर का उद्घाटन श्री महात्मा मुंशीराम के करकमलों से हुआ। मन्दिर निर्माण में श्री ला० लब्भूराम नय्यड़ का प्रयत्न सराहनीय है। ३०,०००) की लागत का विशाल मन्दिर इस समय निर्मित हो चुका है।

इस आर्य समाज ने सब से पहले रामलाल व्यक्ति को शुद्ध किया जो मुसलमान हो गया था। सूद बिरादरी ने इसका विरोध किया। तदनन्तर रहतिया जाति के लोगों को जो ग्रामों में कपड़ा बुनने का कार्य करते थे शुद्ध किया गया। इन में से जो ईसाइयों के पंजों में फंसे थे, शुद्ध किया गया। इसके अतिरिक्त समय-समय पर कई मुसलमानों और ईसाइयों को शुद्ध करके वैदिकधर्मी बनाया गया। १४ जून १९२३ को आर्य समाज ने ६३ बांगरू भाइयों को शुद्ध किया और इन की सन्तान को सुशिक्षित बनाने के लिए उसी वर्ष उनके मुहल्ले में एक पाठशाला भी स्थापित कर दी। इन की कन्याएँ आर्य पुत्री पाठशाला और बालक आर्य हाई स्कूल में शिक्षा ग्रहण करते हैं। कुछ और दलित जाति के लोग जो रोहतक के आस-पास रहने वाले हैं यहाँ रामबाग के पास रहते हैं इन को भी आर्य समाज ने शुद्ध किया। आर्य समाज ने इन के यहाँ भी पाठशाला स्थापित की थी जो कुछ समय तक अच्छा कार्य करती रही। इन भाइयों ने कई बार अपने स्थान पर आर्य पुरुषों को प्रीति-भोज दिया और कई वैदिक

संस्कार कराये हैं। इन्होंने अपनी आबादी का नाम 'दया-नन्द गढ़' रख लिया है। ये बड़े प्रेम से साप्ताहिक सत्संगों में सम्मिलित होते रहते हैं और वार्षिक उत्सवों में और संकीर्तनों में सम्मिलित हो कर भजनों द्वारा उत्सवों की शोभा को बढ़ाते हैं। श्रीयुत अमीरचन्द वानप्रस्थी इन लोगों में बड़ी लगन से प्रचार का कार्य करते हैं। गत ५३ वर्षों में आर्य समाज ने सहस्रों शुद्धियाँ की हैं। पहले-पहल यहाँ कई एक शास्त्रार्थ हुए हैं। सनातन धर्म के व्याख्याता श्री शंकराचार्य, पं० दीनदयाल व पं० गोपीनाथ के साथ यहाँ आए तो आर्य समाज ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिए लल-कारा। और आर्य समाज का आन्दोलन इतना हुआ कि श्री शंकराचार्य शास्त्रार्थ का साहस न करके लुधियाना ही से चले गए। जनता पर उस का बड़ा प्रभाव पड़ा। एक और प्रसिद्ध शास्त्रार्थ यहाँ सनातनधर्मी पं० जगत्प्रसाद के साथ पं० गणपति शर्मा का श्राद्ध विषय पर सरदार मान-सिंह बैरिस्टर के सभापतित्व में हुआ। इसका प्रभाव इतना उत्तम रहा कि ईसाइयों के स्थानीय पत्र 'नूर-अफ़शां' ने अपने कालमों में आर्य समाज के विजय की प्रशंसा की।

१८८३ से इस के वार्षिक उत्सव होते चले आ रहे हैं। यहाँ पर प्रान्त तथा सभा के सम्पूर्ण विद्वान् और उपदेशक समय-समय पर अपने उपदेश करते रहे हैं। मेलों और विशेष उत्सवों पर समाज मौखिक और ट्रैक्टों द्वारा प्रचार करता रहा है। समाज की ओर से कई एक सहभोज भी हुए हैं। समाज के आधीन निम्न संगठन कार्य कर रहे हैं।

(क) स्त्री समाज। यह ८ जून १८९० में स्थापित हुआ।

(ख) नगर समाज कुमार सभा। इस में ला० रामजी-दास खज़ानची अपने व्याख्यानों द्वारा कुमारों के उत्साह को बढ़ाते रहे हैं।

(ग) बोर्डिंग आर्य कुमार सभा। आर्य बोर्डिंग के छात्रों को दूरी और समय के विचार से नगर कुमार सभा में सम्मिलित होना कठिन है। अत बोर्डिंग में यह सभा जारी की गई है।

विधवा विवाह सभा। सन् १८८६ में बा० देवी-चन्द जलन्धर निवासी के उद्योग से कुछ आर्य पुरुषों ने मिल कर एक विधवा विवाह सभा जारी की परन्तु लाला जी के बदल जाने पर यह सभा टूट गई।

यह आर्य समाज गुरुकुल तथा अन्य संस्थाओं को पुष्कल राशियाँ दान करता रहा है। श्री ला० लभूराम ने अपने पुरुषार्थ से डेढ़ लाख रुपया एकत्र करके गुरुकुल कोष में पहुँचाया है।

१३४,०००) आर्य स्कूल के बोर्डिंग का भवन और भूमि का मूल्य है। ३१,०००) की लागत का कन्या पाठशाला का भवन है। ३०,०००) का आर्य समाज मन्दिर है। कुल सवा तीन लाख रुपये की सम्पत्ति है। इस समय लगभग ३६,०००) वार्षिक स्कूल का खर्च है, ५७५०) वार्षिक कन्या पाठशाला का और १०००) वार्षिक आर्य समाज का निजी व्यय है।

समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं।

(क) आर्य हाई स्कूल।

(ख) गणेशीलाल आर्य कन्या पाठशाला। श्री ला० गणेशीलाल ने १५००) आर्य समाज को कन्या पाठशाला खोलने के लिए दिया। आर्य समाज ने गणेशीलाल कन्या पाठशाला के नाम पर २१ अगस्त १६०३ को १६ छात्राओं और ३ अध्यापिकाओं से एक पाठशाला जारी कर दी। ला० गणेशीलाल की मृत्यु के पश्चात् श्रीमती जानकीदेवी ने अपने स्वर्गीय पति का अनुकरण करते हुए अपनी सब सम्पत्ति स्त्री शिक्षा के लिए आर्य समाज लुधियाना की भेंट करदी। इनके इस त्यागभाव से प्रभावित हो कर समाज की अन्तरंग सभा ने यह निश्चय किया कि उनके जीवन पर्यन्त उनकी सहायता की जावेगी। सन् १६०६ में इस पाठशाला के साथ रा० सा० श्री केदारनाथ की सुपुत्री बीबी लज्जावती के नाम पर कन्या आश्रम भी खोला गया परन्तु धनाभाव से यह आश्रम बहुत देर तक नहीं चल सका। ८०००) में भूमि खरीद कर पाठशाला के लिए भवन बनाया गया। यह भवन ३१,०००) की लागत का है। सन् १६२३ में पाठशाला इस भवन में आ गई है।

इस समय ४०० से ऊपर कन्याएँ इस पाठशाला में शिक्षा पा रही हैं। १३ अध्यापिकाएँ, २ अध्यापक और १ प्रज्ञाचक्षु संगीताध्यापक अध्यापन का कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त ३ बुलावियाँ और १ वृद्ध चपरासी भी नियत है। मिडिल की श्रेणियों में संस्कृत पढ़ना आवश्यक है।

४१७. लुधियाना [चौड़ा बाज़ार]

४१८. लूखी (नाभा)

४१९. लोधराँ (मुलतान)

४२०. लोहाली (डलहौज़ी)

डलहौज़ी निवासी आर्य सज्जनों ने सम्पूर्ण लोहाली ग्राम की शुद्धि की है। आजकल इसमें भद्रवाही (हरिजन) के कोली वंश के आर्य भाई निवास करते हैं। म० रामशरण-दास तथा म० दामोदरदास आर्य समाज का कार्य बड़े उत्साह से करते हैं। कन्या पाठशाला रु। ३,०००) मन्दिर है।

४२१. वज़ीराबाद (गुजरांवाला)

४२२. वडालाबांगर (गुरुदासपुर)

४२३. वडोर (डेरागाज़ीखाँ)

४२४. वहाड़ी (मुलतान)

मार्च १९३२ में पं० धर्मदेव उपदेशक गुरुकुल बेटसोहनी द्वारा यहाँ आर्य समाज की स्थापना की गई। ३० एप्रिल १९३३ को आर्य समाज की आधारशिला ला० परमानन्द अग्रवाल ठेकेदार के हाथों से रखी गई। इस समाज के पुरुषार्थी सज्जनों के प्रचार करते हुए चक $\frac{23}{8L}$ में समाज खुल गई। २६ जुलाई १९३३ को $\frac{10.21.23}{8L}$ चकों में १२० जाराइम पेशा लोगों की शुद्धि की गई। २७ ज्येष्ठ १९९२ को जब संशोधित उपनियम सुनाये गए तो चार सहायकों ने मांस न खाने की प्रतिज्ञा की।

४२५. वानभचराँ (मियाँवाली)

म० शिवराम १८९५ में वानभचराँ आये। वे प्रचार कार्य में रुचि रखते थे। इनके तथा अन्य उत्साही कार्य-कर्त्ताओं के उत्साह से फ़रवरी १६२४ में आर्य समाज की स्थापना हुई। स्वा० सर्वदानन्द यहाँ प्रचारार्थ आये। पं० गंगाराम संचालक अनाथालय, मुज़फ़्फ़रगढ़ यहाँ समय-समय पर आते रहे। श्री काकाराम और श्री अमीरचन्द समाज के अच्छे कार्यकर्त्ता रहे हैं। श्रीमती द्रौपदी देवी उपदेशिका यहाँ प्रचारार्थ आईं। समाज मन्दिर का निर्माण हो चुका है। आर्य समाज के आधीन एक कन्या पाठशाला सन् १६२६ में स्थापित की गई। १९२७ में समाज के आधीन एक पुस्तकालय तथा वाचनालय खोला गया।

४२६. वार्बर्टन (शेख़ूपुरा)

४२७. व्यास (अमृतसर)

४२८. शकरगढ़ (गुरुदासपुर)

सन् १८९७ में सभा के उपदेशक पं० मथुराप्रसाद ने आर्य समाज की स्थापना की। सर्वश्री राजसिंह, परमानन्द पटवारी, जयदयाल, बेलीराम, त्रिलोकनाथ, रामरक्खामल ने आर्य समाज का कार्य बड़ी लग्न से किया।

प्रचार के प्रभाव के तहसील में निम्न समाजों की स्थापना हुई है—

(क) दूधोचक, (ख) खानोवाल, (ग) नूरकोट, (घ) नेने-कोट, (ङ) बारामंगा, (च) कंजरूढ़, (छ) सुखोचक, (ज) इख़लासपुर आदि।

इन समाजों में समय-समय पर उत्सव होते रहते हैं। बलबगढ़ में शास्त्रार्थ भी होते रहते हैं।

इस इलाके में हज़ारों मेघों को शुद्ध किया गया है। मास्टर रामरक्खामल ने शुद्ध हुए भाइयों के सुधार के लिए प्रयत्न किया। जिन आदमियों को पानी कूप से नहीं मिलता था और जो तालाबों या छप्पड़ों का पानी पीते थ उनके लिए चन्दा मांग कर कूप तय्यार करवाए गए। लगभग पन्द्रह बीस कूप तय्यार हो गए हैं। इस साल एक फ़कीर को शुद्ध करके उसका नाम धर्मानन्द और एक स्त्री को शुद्ध करके उसका नाम शान्ति देवी रखा गया है।

४२६. शर्कपुर (शेखूपुरा)

यहाँ पहले-पहल सन् १८८६ में धर्म सभा की स्थापना हुई। एक वर्ष पश्चात् इस का नाम आर्य समाज रखा गया। समाज का प्रथम वार्षिक उत्सव १५, १६ दिसम्बर १८६५ को हुआ। उस उत्सव पर पं० लेखराम, चौ० रामभजदत्त और पं० लालमणि पधारे। समाज के प्रारम्भिक दिनों में डा० लद्धाराम, ला० सोहनामल सेठी, मा० हेमराज, ला० देवी-दयाल, डा० सवायाराम आदि काम करने वाले सज्जन रहे हैं। १८६५ से इसके साप्ताहिक सत्संग और वार्षिक उत्सव होते चले आ रहे हैं। अब तक इसके ३५ वार्षिक उत्सव हो चुके हैं। आजकल पं० हंसराज एम० ए० अध्यापक गौरमिएट स्कूल तथा ला० लालचन्द समाज के उत्साही कार्यकर्त्ता हैं।

समाज के आधीन एक पुत्री पाठशाला भी चल रही है। डा० सवायाराम के प्रयत्न से यह शाला खोली गई थी।

सं० १९६४ तक शाला ला० देवीदयाल के मकान पर लगती रही और उनकी धर्मपत्नी ही अवैतनिक काम करती रहीं। पुनः शाला-भवन भी बना लिया गया। ला० सोहनामल के सं० १६८१ में स्वर्गवास हो जाने पर समाज ज़रा-सा शिथिल पड़ गया।

४३०. शहर सुलतान (मुज़फ़्फ़रगढ़)

पहले-पहल म० मनोहरलाल बी० ए० शहीद के प्रयत्न से १५ जून १६२७ को आर्य समाज की स्थापना हुई। १० सभासद बने। एक साल पश्चात् महाशय जी के तबदील हो जाने पर समाज का कार्य शिथिल पड़ गया। पुनः १५ दिसम्बर १६३४ को म० टेकचन्द की कृपा से समाज को पुनरुज्जीवित किया गया। अब सभासदों की संख्या ३६ है। मासिक चन्दा की आय लगभग १०) है। प्रतिदिन प्रातः यज्ञ होता है और रात्रि को कथा होती है। समाज को ४ कनाल ज़मीन मज़रूआ और २ कनाल अन्य भूमि दान से प्राप्त हुई है। समाज के पास १०००) नक़द है। आजकल सोहनलाल डा० पैनशनर सब-असिस्टैण्ट सरजन प्रधान, श्री हरिश्चन्द्र वैद्य कविराज मन्त्री तथा म० ठाकुरदत्त कमरा कोषाध्यक्ष हैं।

४३१. शादीवाल (गुजरात)

४३२. शामनगर (अमृतसर)

४३३. शाहपुर [शहर]

४३४. शाहपुर [सदर]

४३५. शाहदरा [देहली]

४३६. शाहदरा [शेखूपुरा]

४३७. शाहाबाद (करनाल)

४३८. शिमला

हिमालय की पर्वतमाला में सबसे प्रथम शिमला में १८८१ ई० में आर्य समाज की स्थापना हुई। श्री पं० लेखराम की मृत्यु के कुछ काल पश्चात् दोनों विभागों की समाजें पुनः पृथक् हुईं। इस समाज के सदस्यों ने मन्दिर की आधी कीमत ले कर उस समय किराये के मकान में समाज लगाना आरम्भ किया। १९०३ में जस्टिस जयलाल के प्रधानत्व में ४८,०००) में एक गिरजा खरीदा गया। गिरजे को परिवर्तित कर सामयिक मन्दिर बनाया गया है। इससे २१ वर्ष पश्चात् वर्तमान विशाल और सुन्दर मन्दिर बनाया गया है। इस के निर्माण में श्री राय बहादुर ला० मोहनलाल एम० एल० सी०, चौ० केदारनाथ और पं० मुन्शीराम इत्यादि आर्य सज्जनों का विशेष हाथ रहा है। इस की कीमत अब डेढ़ लाख रुपये के लगभग है। यह मन्दिर शिमला की सब संस्थाओं के मन्दिरों से अधिक सुन्दर तथा केन्द्रीय स्थान में है। मन्दिर में ३ मंज़िलें हैं। ऊपर की मंज़िल में यात्रियों के ठहरने के लिए स्थान है। मध्य की मंज़िल में समाज का हाल है। निचली मंज़िल में कन्या पाठशाला लगती है। एक कमरा दयानन्द फ्री होम्यो डिस्पेन्सरी के लिए नियुक्त है। मन्दिर के साथ ११

दुकानें भी सम्मिलित हैं, जिनका वार्षिक किराया लगभग २५००) आता है।

आर्य समाज के सदस्यों की संख्या १५० से २०० तक रही है। वर्तमान संख्या २०० है। निम्नलिखित सज्जन इस समाज के प्रधान-पद को सुशोभित करते रहे हैं।—(१) ला० खुशीराम (२) श्री ला० भंडारीलाल, (३) श्री जस्टिस जय-लाल, (४) श्री ला० सुन्दरलाल वकील, (५) राय बहादुर मोहनलाल एम० एल० सी०, (६) श्री ला० जैशीराम बी०ए० एल० एल० बी० (वर्तमान प्रधान)। उत्साही मंत्रियों में राय साहब ला० गंगाराम का नाम उल्लेखनीय है। शिमला के विभिन्न भागों में तथा आस-पास के पर्वतीय प्रदेशों में प्रचार इत्यादि कार्य के लिये समाज की ओर से विद्वान् पुरोहितों को भी नियुक्त किया जाता रहा है। निम्न व्यक्ति इस समाज के पुरोहित पद को सुशोभित करते रहे हैं। श्री पं० विद्यानन्द (२) श्री पं० जयदेव विद्या-लंकार, (३) श्री पं० धर्मवीर वेदालंकार, (४) श्री पं० सत्या-नन्द विद्यालंकार, (५) श्री पं० नित्यानन्द वेदालंकार। (वर्तमान पुरोहित)।

वाल्टगंज में एक आर्य कन्या पाठशाला तथा नाहन स्टेट में फागू गुरुकुल भी इस समाज के उत्साही सदस्यों द्वारा स्थापित किये गये थे। यह कुछ वर्षों तक बड़ी सफलता से चलते रहे, परन्तु पीछे आर्थिक कठिनाई के उपस्थित होने से कन्या पाठशाला म्युनिसीपेलिटी के सुपुर्द कर दी गई। और फागू के गुरुकुल को आर्थिक सहायता बन्द

करनी पड़ी। अब फागू के गुरुकुल को फिर से संचालन करने का विचार हो रहा है।

समाज के आधीन निम्न संस्थाएँ चल रही हैं :—

(क) आर्य कन्या पाठशाला। शिक्षा और धर्म-प्रचार के उद्देश्य से स्त्रियों में १९०४ में समाज ने कन्या पाठशाला की स्थापना की। उस समय यहाँ केवल ईसाइयों की ही एक कन्या पाठशाला थी। आर्य समाज ने कन्या पाठशाला की स्थापना द्वारा स्त्री शिक्षा का अधिक प्रचार किया। २५ वर्ष तक यह कन्या पाठशाला बिना फ़ीस के उत्तमता से चलती रही, तत्पश्चात् आर्थिक कठिनाई के उपस्थित हो जाने से नाम-मात्र की फ़ीस लगानी पड़ी है जो अन्य पाठ-शालाओं से बहुत कम है। यहाँ की कन्या पाठशालाओं में समाज की कन्या पाठशाला जो ८वीं श्रेणी तक है, सब से अधिक विख्यात हो रही है। कन्याओं की संख्या ४०० के लगभग है जोकि सब पाठशालाओं से अधिक है। सरकार से ३२००) प्रतिवर्ष ग्रांट के रूप में सहायता प्राप्त होती है। श्रीमती यमुना लले एम० ए०, श्री० इन्दिरादेवी, श्री० शुभवती शर्मा बी० ए०, बी०टी० इत्यादि इस पाठशाला की मुख्याध्यापिकाएँ रही हैं। धर्म-शिक्षा के लिए भी इस कन्यापाठशाला में अच्छा प्रबन्ध है। श्री सीतादेवी स्नातिका, (जलन्धर) हिन्दी-प्रभाकर वर्तमान समय में धर्म शिक्षा पढ़ाने का कार्य कर रही हैं।

(ख) बालक पाठशाला। अगम्य पहाड़ी प्रदेश में बालकों की शिक्षा के लिए एक पाठशाला स्थापित की गई है। इस

पाठशाला में हिन्दी तथा संस्कृत पढ़ाई जाती है। इस वर्ष एक विद्यार्थी ने यहाँ से शास्त्री परीक्षा भी पास की है। पाठशाला समाज की आर्थिक सहायता से भली भाँति चल रही है।

(ग) दयानन्द चिकित्सालय। बहुत वर्षों से समाज की ओर से दयानन्द फ्री होम्यो डिस्पैन्सरी चलाई जा रही है। शिमला की जनता को इस से अत्यधिक लाभ पहुँच रहा है। प्रतिदिन ५०, ६० मरीज़ यहाँ से दवा लेते हैं। डा० भक्तराम वर्तमान समय में बड़ी लग्न तथा योग्यता से चिकित्सालय का कार्य चला रहे हैं।

(घ) आर्य युवक सभा। मान्य पुरोहित जी के प्रयत्न से गत वर्ष आर्य युवक सभा की स्थापना हुई। आर्य युवकों में इस सभा द्वारा सेवा-भाव फिर से पैदा किया जाता है। गतका, लाठी तथा तलवार इत्यादि चलाना भी सिखलाया जाता है। वर्तमान समय में इस सभा के ६४ सदस्य हैं। प्रति बुधवार को नियम-पूर्वक इस के सत्संग लगते हैं।

(ङ) अखाड़ा। इस समाज के द्वारा एक अखाड़े का भी बहुत देर से संचालन हो रहा है। श्री म० बाबूलाल वर्मा की अध्यक्षता में हिन्दू नवयुवक शारीरिक व्यायाम कुश्ती इत्यादि का अभ्यास करते हैं।

४३९. शुजाबाद (मुलतान)

४४०. शेखूपुरा

४४१. शोरकोट (झंग)

सन् १९०२ में सभा के उपदेशक श्री पं० रामरत्न जी

की प्रेरणा और ला० कालाराम जी हैडमास्टर तथा म० अरूड़चन्द जी आदि महानुभावों के पुरुषार्थ से आर्यसमाज की स्थापना हुई। पचास के लगभग सदस्य बनाये गए।

आर्य पुत्री पाठशाला की स्थापना सन् १६२५ में हुई। पाठशाला के संचालक और कर्त्ता-धर्त्ता श्री डा० खुशीराम असिस्टैण्ट सर्जन थे। पुत्री पाठशाला के लिए चन्दा एकत्र करते हुए छांगामांगा रेलवे स्टेशन पर वे गाड़ी के नीचे आकर कट गए और उनकी मृत्यु के कुछ समय पश्चात् पाठशाला बन्द करनी पड़ी। सन् १६२२ में एक आर्य रीडिंग रूम जारी किया गया। राज्य कर्मचारियों के विरोध से १६२३ में इसको बन्द करना पड़ा। सन् १६१७ में चक नं० ४०६ तहसील टोबाटेकसिंह ज़िला लायलपुर में एक ओड कुल को जिस में ६ व्यक्ति थे शुद्ध किया गया। सिखों ने कुछ विरोध किया परन्तु पश्चात् समझाने से शान्त हो गए। सन् १६०२ में ८०० की लागत का आर्य समाज मन्दिर बना। १६२३ में भूमि में कुछ वृद्धि की गई है। म० हुकमचन्द सहगल, रायज़ नवीस ने मन्दिर के लिए भूमि दान की। म० बेसाखीराम ने एक कमरा बनवा दिया है। आर्यसमाज वैदिक संस्कार करवाता रहता है। पारिवारिक यज्ञ भी होते रहते हैं। इन का इतना प्रभाव पड़ा कि आर्यों को देखकर सनातनी भाइयों ने भी पारिवारिक यज्ञ करने के लिए आर्य समाजियों को निमन्त्रण दिये।

४४२. श्रीगोविन्दपुर (गुरुदासपुर)

यह आर्य समाज कई नेताओं का उद्भव स्थान रहा

है। इस नगरी ने डा० चिरंजीव भारद्वाज, पं० विश्वम्भर-नाथ भूत पूर्व उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब और पं० भीमसेन विद्यालंकार मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को उत्पन्न किया है। पहले-पहल यहां एक "सत्यविचार सभा" बनी। देवसमाज के एक उपदेशक ने समाचार पत्र में एक सूचना दे दी कि श्रीगोविन्दपुर में देवसमाज स्थापित हो गया है। इस सूचना को जब श्री काशीराम इन्स्पेक्टर डाकखाना ने पढ़ा तो वे स्वा० स्वात्मानन्द को साथ लेकर यहाँ आए। स्वामी जी ने यहां प्रचार किया और समाज की स्थापना हो गई। प्रारम्भ से लेकर समाज के प्रधान ला० बिशनदास तथा मन्त्री म० रणजीतराय ही पिछले दिनों तक चले आए हैं। डा०चिरञ्जीव के पिता श्री काशीराम और श्री पं० विश्वम्भरनाथ के पिता श्री मुकुन्दराम भी समाज का कार्य खूब लग्न से करते रहे हैं। थोड़े से समय के लिए समाज में शिथिलता आ गई। सभा के उपदेशक पं० चिरञ्जीलाल यहां पधारे और खूब प्रचार किया। पंडित जी के प्रचार से नगर की जनता पर खूब प्रभाव पड़ा और समाज की पुनः स्थापना हो गई। समाज के आधीन निम्न संस्थाएं चल रही हैं।

(क) उत्तमदेवी कर्मदेवी कन्या पाठशाला। ला० बिशन-दास ने २५,०००) दान देकर एक ट्रस्ट बना दिया जिस के आधीन पाठशाला चलती है।

(ख) बिशनदास किशनदास आर्य औषधालय। इस औषधालय के लिए ला० बिशनदास ने १०,०००) नकद

और आठ हज़ार का एक भवन दान दिया। इस भवन में ही समाज के सत्संग लगते हैं।

(ग) स्त्री समाज।

एक आर्य कन्या आश्रम पांच-छः वर्ष पर्यन्त चलता रहा है। श्रीमती परमेश्वरी इस की अधिष्ठात्री रही हैं। इस आश्रम में २० के लगभग कन्याएँ निवास करती रहीं जिन में एक अछूत कन्या भी थी। अफ्रीका तक की कन्याएँ इस में प्रविष्ट रही हैं।

इसी समाज को यह श्रेय प्राप्त है कि गुरुकुल खोलने का विचार इस समाज से उत्पन्न हुआ। पं० पूर्णानन्द जब यहां प्रचारार्थ पधारे तो म० मोहनलाल ने उन्हें कहा कि गुरुकुल यदि यहां खोलें तो मैं दस-पन्द्रह घुमाऊँ भूमि देता हूं। इसी प्रकार वेद-प्रचार के कार्य को भी इसी समाज से प्रारम्भ में गौरव प्राप्त हुआ। इस समाज ने पांच-छः विधवाओं को कन्या महाविद्यालय जलन्धर शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा। यहां ला० देवराज, महा० मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज) आदि महानुभाव प्रचारार्थ पधारते रहे हैं।

यहां की एक घटना उल्लेखनीय है। ला० हुलासराय के पुत्र श्री चिन्तराम का विवाह था। लगभग चालीस व्यक्तियों की बरात भजन गाती हुई नवांशहर पहुँची। वधू पक्ष के लोगों ने कहा कि विवाह सनातन रीति से होगा। यह सुनकर ला० हुलासराय ने वर से कहा, पुत्र! स्त्री प्यारी है या धर्म? इस पर वीर पुत्र ने उत्तर

दिया—पिता जी, मुझे धर्म प्यारा है। बरात दो तीन दिन वहां रही और अपना ही खाने पीने का प्रबन्ध करती रही। जब उन्हों ने देखा कि वधू पत्त वाले अपने निश्चय पर पक्के हैं तो वे भी अपने धर्म पर पक्की आस्था रखते हुए श्री गोविन्दपुर को लौटे। आजकल आर्य समाज के कर्त्ता-धर्त्ता श्री दयाराम ही हैं।

४४३. श्रीनगर [नागरिक समाज]

४४४. श्रीनगर [महाराज गंज]

४४५. श्रीनगर [रेनावारि]

४४६. श्रीनगर [हजूरी बाग़]

२२ मई १८६२ तदनुसार सं० १८४६ में कुछेक उत्साही पुरुषों के उद्योग से यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई। सं० १९६७ में मन्दिर (अमीरा कदल) खरीदा गया। सभासदों व सहायकों की संख्या ४० तक ही रही। ला० गोविन्दसहाय समाज के पुराने काम करनेवाले सज्जन हैं। सं० १६७० में समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव हुआ। सं० १९५३ में पं० गणपति शर्मा यहाँ पधारे और पादरी जान्स कृत षट् दर्शनों के परस्पर विरोध का उत्तर दिया। यह सब कुछ महाराजा प्रतापसिंह के सामने हुआ। सरकारवाला बहुत प्रसन्न हुए और पण्डित जी को एक सौ रुपया नकद तथा एक खिलअत दी। सं० १९६६ में ठाकुर प्रवीणसिंह तथा मास्टर लक्ष्मण आर्योपदेशक पधारे। ठाकुर जी के भजनों से प्रसन्न होकर महाराजा जी ने एक

खिलअत दी। इन प्रचारों में दो सौ से चार सौ तक उपस्थिति होती रही। सं० १९८५ में २६ आर्य सदस्य और ६ सहायक थे। सभासदों की कमी का कारण नगर में एक से अधिक समाजें बन गई हैं।

डा० कुलभूषण और ला० चिरंजीतलाल समाज के उत्साही कार्यकर्त्ता हैं। स्त्री समाज के शुक्रवार और कुमार सभा के शनिवार को अधिवेशन लगते हैं। संस्कार और शुद्धियाँ होती रहती हैं। पुस्तकालय भी स्थापित है। ३१०००) से समाज मन्दिर का निर्माण हुआ है। समाज के आधीन एक पुत्री पाठशाला चल रही है जिसमें मिडिल तक की शिक्षा का प्रबन्ध है। रत्न और भूषण की परीक्षा का भी प्रबन्ध कर दिया गया है। सं० १९८४ में राना वारी में एक विधवा पाठशाला भी खोल दी गई। उस वर्ष इसमें ६ विधवाएँ शिक्षा पाती रहीं जिनको ४७) मासिक वृत्ति भी मिलती रही। २० के लगभग कन्याएँ भी इसमें पढ़ती रहीं। इसमें हिन्दी हिसाब आदि के अतिरिक्त सीना-परोनादि भी सिखाया जाता है जिससे विधवाएँ आजीविका कमाने के योग्य हो सकें। स० सुलखनसिंह ने शाला को ३००) दान किया।

४४७. सक्खर

सन् १८८४ में बंगाल निवासी म० बीचाराम चैटर्जी (N. W. R.) ने आर्य समाज सक्खर की स्थापना की। साप्ताहिक सत्संग किराया के मकान पर हुआ करते थे। आपके बंगाल चले जाने पर मुखी हेमनदास गखोमल प्रधान बने। ला० देसराज, ला० वीरमल, ला० हाकमराय, स०

हरिसिंह, हकीम मंगलराय, ला० मोहनलाल, म० खेमचन्द समाज के कार्यकर्त्ता रहे। १९०८ में समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। मन्दिर में पुत्री पाठशाला की स्थापना की गई है। इस में एक सौ कन्याएँ शिक्षा पा रही हैं। ला० टोपनदास जी ने एक आर्य पुत्री-पाठशाला की स्थापना की।

पं० लोकनाथ तर्क-शिरोमणि तथा पं० आर्यभिक्षु यहाँ शास्त्रार्थ करने के लिए पधारते रहे हैं। म० लालचन्द लकड़ी विक्रेता ने अपने पिता सेठ दयालदास के नाम पर वैदिक पुस्तकालय खोल कर समाज को दान किया। इस के साथ एक वाचनालय भी जारी है। १९२८ में "श्रद्धानन्द बैण्ड" भी बनाया गया। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से भाई जीवनलाल और पं० तोलाराम सिन्ध में प्रचार का कार्य करते रहे हैं। भाई जीवनलाल पहले सूफ़ी थे। ऋषि दयानन्द की पुस्तकें पढ़ कर आर्य समाजी हो गए। आप ने कई कविताएँ और सत्यार्थप्रकाश के कुछ समुल्लासों का अनुवाद करके प्रकाशित करवाया। आप ने सिन्ध में कई समाजें क़ायम कीं। पं० तोलाराम देशी भाषा में प्रचार करते थे। वे सक्खर के रहने वाले थे। १९३४ में उन का स्वर्गवास हुआ।

४४८. संगरूर (जींद)

पं०परमानन्द बी०ए० के व्याख्यानों से प्रभावित होकर डा० भूपालदेव, मा० मोलड़सिंह तथा बा० आत्माराम आदि भद्र पुरुषों के पुरुषार्थ से १२ नवम्बर १९२२ में आर्य समाज संगरूर की स्थापना हुई। सन् १९३५ में समाज का हाल

तय्यार हो गया। समाज मन्दिर की लागत दस हज़ार की है। समाज के आधीन एक पुस्तकालय है। इस में ५००) की पुस्तकें हैं। सभासदों की संख्या ४० है। चन्दे से मासिक आय २०) हो जाती है। साप्ताहिक सत्संग बड़े उत्साह से लगाये जाते हैं। आर्य समाज ने दलितोद्धार की दिशा में भी काम किया है। सन् १९२२ में धानकों के घरों के समीप नलके लगवाये गए। १९२६ में वैशाखी के दिन ३० धानक घरों का यज्ञोपवीत संस्कार कराया गया। समाज की ओर से अब तक डेढ़ सौ वैदिक संस्कार करवाए जा चुके हैं।

४४९. संजरपुर (बहावलपुर)

४५०. सतघरा (मिण्टगुमरी)

४५१. सनखतरा (सियालकोट)

यह आर्य समाज प्रथम वैशाख सं० १९७० को स्थापित हुआ। सनातनियों ने शास्त्रार्थ के लिए ललकारा तो ला० कृपाराम बी० ए०, एल-एल० बी० ने चुनौती को स्वीकार कर लिया। आखिर सनातनी पंडित को अपनी पाठशाला जो लड़कों के लिए खाली हुई थी छोड़ कर भागना पड़ा। सं० १९८५ में पं०नत्थूराम पटयाला (सियालकोट) निवासी ने यहाँ दुकान खोल ली। आप यहाँ बड़े पुरुषार्थ से कार्य करने लगे। उन्होंने आर्य समाज का उत्सव रख दिया और शुद्धि का डंका बजाने लगे। ५०० के लगभग चमार शुद्ध किये गए। कार्य इतना बढ़ गया कि पं० नत्थूराम को बाहिर

शुद्धि का काम करते-करते अपना काम भूल गया। सहस्रों डूम शुद्ध किये गए। सभा के उपदेशक पं० रामस्वरूप पाराशरी भी कार्य करते रहे। पं० नत्थूराम मेलों में प्रचार के लिए अकेले ही खड़े हो जाते। पंडित जी और ला० बुड्ढामल भूतपूर्व सुपरवाईज़र रेलवे ने इन ग्रामों की शुद्धि की:— १. दूधोचक, २. सूद, ३. लुडयाल, ४. डला, ५. फतोवाल, ६. मंचारा। २०० के लगभग चमारों की १ फाल्गुन १६८३को शुद्धि की गई। ला० हरिराम अराइज़ नवीस दूधाचक निवासी ने शुद्धि में सहायता दी। २३ चैत्र, १६८४ को भलोर ब्राह्मणां से शुद्धि का निमन्त्रण आया। पं० नत्थूराम तथा म० धर्मप्रकाश वहाँ गए और २० ग्रामों के चमारों को ८०० की संख्या में शुद्ध किया गया।

मन्दिर की आवश्यकता को अनुभव करते हुए बाबू बुड्ढामल ने एक मकान आर्य समाज को दान दे दिया। बड़े प्रयत्न से बाहर से और शहर से धन एकत्र करके मन्दिर का निर्माण किया गया।

४५२. सनावाँ (मुज़फ़्फ़रगढ़)

ला० रामचन्द्र और मुलतानीराम के पुरुषार्थ से सन् १६०५ में आर्य समाज स्थापित हुआ। १६०८ में आर्य कन्या पाठशाला की स्थापना हुई। १८६५ में श्री पं० गंगाराम ने आर्य समाज के नाम से कुछ भूमि खरीद की और १६०५ में एक कमरा बना। ला० रामलाल ने एक सौ रुपया अतिथिशाला के लिए दान किया। म० हरवंसलाल मन्त्री ने अपने पूज्य पिता की स्मृति में २००) दान किए। इससे एक कनाल

ज़मीन ख़रीद कर आर्य समाज मन्दिर में मिला ली गई। मन्दिर अब बड़ा विशाल बन गया है। श्री सोमराज ने अपने पुत्र रामकिशन की उत्पत्ति पर एक कनाल भूमि आर्य समाज को दान की है। समाज के आधीन एक पुस्तकालय है। दैनिक सत्संग लगता है। रात्रि को प्रति दिन कथा होती है।

४५३. नसूर (जम्मूँ)

४५४. सनौर (पटियाला)

४५५. सफेदों (जींद)

४५६. समराला (लुधियाना)

यह समाज सन् १९१५ में स्थापित हुआ। समाज का अपना मन्दिर है। पिछले काम करने वालों में ला० मुकन्द-लाल हैं। वर्त्तमान कार्यकर्त्ता ला० नानकचन्द तथा पं० चेतराम हैं।

४५७. समासट्टा (बहावलपुर)

४५८. समुन्दरी (लायलपुर)

४५९. सरगोधा

यहाँ सन् १९०३ में आर्य समाज की स्थापना हुई। पहले सत्संग पं० परसराम (वर्त्तमान स्वा० निजात्मानन्द) की दुकान पर लगते थे। सन् १९०५ में सर मैलकम हेली मुन्ताज़िम अफ़सर आबादी के कर-कमलों से समाज मन्दिर की आधारशिला रखी गई। श्रीमती हेली

५) मासिक के अतिरिक्त समय-समय पर समाज की सहायता करती रहीं। सन् १६०६ में पुत्री पाठशाला की स्थापना हुई। १६०८ में आर्य समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव हुआ। १६११ में जब महात्मा मुंशीराम जी गुरुकुल के लिए धन एकत्र करने के लिए पधारे तो १,१७१) उनको समर्पण किया गया। १६१६ में पुरोहित रखने पर बल दिया गया। पं० लोकनाथ, पं० सुरेन्द्रशर्मा, पं० बुद्धदेव विद्यालंकार, पं० रामेश्वर सिद्धान्तालंकार, पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, पं० वेदप्रकाश समय-समय पर समाज के पुरोहित-पद को सुशोभित करते रहे। आजकल पंडित सोमदत्त विद्यालंकार पुरोहित हैं। श्री म० ताराचन्द ग्राम-सुधार तथा दलितोद्धार का कार्य बड़ी लगन से करते रहे हैं। दलितों के कष्ट निवारण करने के लिए ६ ग्रामों में हैंडपम्प और एक ग्राम में कूप लगवाया गया।

सन् १६१८ में श्रद्धानन्द जी महाराज जब यहाँ पधारे तो उनके आदेशानुसार यहाँ दैनिक सत्संग प्रारम्भ किया गया जो इस समय तक जारी है। दैनिक सत्संग की नियम-पूर्वकता तथा उपस्थिति की दृष्टि से समाज प्रान्त में सर्व-प्रथम स्थान रखता है। समाज का मन्दिर बड़ा विशाल है। ६०,०००) की लागत से निर्मित हुआ है। इसके साथ ४ दुकानें हैं। १६३३ में समाज की रजत-जयन्ती मनाई गई। १६३४ में आचार्य रामदेव की अध्यक्षता में पंजाब प्रान्तीय आर्य-सम्मेलन हुआ। रायबहादुर पैड़ाराम, दीवान रत्नचन्द, रायसाहिब नारायणदास, ला०

जयगोपाल, म० मेघराज, डॉ० गंडाराम भी आर्य समाज का काम बड़ी लग्न से करते रहे हैं।

४६०. सरदारपुर (मुलतान)

४६१. सराय आलमगीर (गुजरात)

४६२. सराय सिद्धू (मुलतान)

४६३. सरहिन्द (पटियाला)

४६४. सांगला हिल (शेखूपुरा)

सन् १९२५ में यहाँ शिथिल हुए आर्य विचारों को सुसंगठित करके आर्य समाज की दोबारा स्थापना की गई। १९२६ में मन्दिर का काम प्रारम्भ कर दिया गया, परन्तु बीच में ही धनाभाव तथा कई एक अन्य कारणों से सब काम रह गया। साप्ताहिक सत्संग बन्द हो गए। बिल्डिंग अधूरी रह गई। १९३२ में हकीम रामदयाल के पुरुषार्थ से समाज पुनः जागृत हुआ और मन्दिर निर्माण का कार्य भी प्रारम्भ हुआ। मन्दिर निर्माण में सनातनी और दो मुसलमानों ने भी आर्थिक सहायता की। और एक विशाल मन्दिर तय्यार हो गया। अछूतोद्धार का कार्य बड़े उत्साह से किया गया। १९३४ में समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव हुआ। और १९३५ में दूसरा उत्सव हुआ जिसमें छः सात सौ शुद्ध हुए व्यक्ति एकत्रित हुए।

४६५. सानावाल (लुधियाना)

आर्य समाज सानावाल की स्थापना सन् १९२० को सभा के उपदेशक पं० लेखराम की प्रेरणा से हुई थी।

प्रारम्भिक पाँच छः वर्ष मन्त्री की दुकान पर ही साप्ताहिक सत्संग लगते रहे। अब आर्य समाज का मन्दिर बन गया है। महता कृपाराम के द्वारा किसी सज्जन ने दान से मन्दिर में कूप बनवा दिया है।

४६६. सामाना (पटियाला)

४६७. साम्बा (जम्मूँ)

४६८. सालवन (करनाल)

पं० शम्भूदत्त उपदेशक के कई वर्षों के लगातार प्रचार से सं० १९६० में यहाँ आर्य समाज स्थापित हुआ। समाज के प्रथम वार्षिकोत्सव १९६२ के अवसर पर पं० गणपति शर्मा पधारे और जनता पर खूब प्रभाव पड़ा। सनातन धर्मियों से शास्त्रार्थ होते-होते रह गया। चौ० फ़क़ीरचन्द आर्य समाज के पुराने कार्यकर्त्ता हैं। म० शृंगारसिंह ने सरकारी नौकरी छोड़ कर यहाँ स्थिर वास किया और समाज को खूब चलाया और आज तक कार्य करते आ रहे हैं। सन् १९२४ से १९३० तक एक पाठशाला चलती रही जिस में अछूत बालक भी शिक्षा ग्रहण करते थे। सन् १९२८ में समाज मन्दिर का निर्माण हुआ है। समाज के आधीन एक पुस्तकालय चल रहा है। अब तक समाज के १४ वार्षिकोत्सव हो चुके हैं।

४६९. साहना (गुढ़गांवाँ)

४७०. साहनेवाल (लुधियाना)

यह समाज १४ फ़रवरी १९२१ को स्थापित हुआ। समाज का अपना मन्दिर बाज़ार के मध्य में है। वर्त्तमान कार्यकर्त्ता

बा० द्वारकादास हैं। आर्य कन्या पाठशाला चल रही है। ला० देवीदयाल के दान से ही आर्य समाज मन्दिर का निर्माण हुआ है।

४७१. साहोवाल (सियालकोट)

४७२. सिधवांबेट (लुधियाना)

यह समाज ५ जून १६२७ को स्थापित हुआ। यहाँ पर स्त्री समाज भी है जिस के प्रत्येक मंगलवार को नियम-पूर्वक अधिवेशन होते हैं। म० रूड़ाराम तथा म० भगतराम उत्साही कार्यकर्त्ता हैं।

४७३. सिब्बी (बलोचिस्तान)

४७४. सियालकोट

सन् १८८४ में आर्य समाज लाहौर से ला० दिलबाग़-राय एक और साथी सहित यहाँ पधारे और ऋषि के सन्देश को सुनाया। इस प्रचार के प्रभाव स्वरूप स्व० ला० लाभामल वकील तथा स्व० ला० भीमसेन वकील ने यहाँ आर्य समाज की स्थापना कर दी। १८८६ में समाज का दूसरा वार्षिक उत्सव हुआ। इस में पं० लेखराम पधारे। एक प्रीतिभोजन भी हुआ। साप्ताहिक सत्संग लगते रहे। १८८९ में समाज मन्दिर का निर्माण हुआ। १८९६ में ला० गंगाराम ने यहाँ वकालत का काम आरम्भ करने के साथ ही आर्य समाज का काम भी शुरू किया। आगे जा कर लाला जी इस इलाके के प्रचार-कार्य के और विशेष कर अछूतोद्धार के नेता बने। ४ नवम्बर सन् १६३३ को उनका देहान्त हो गया। १९०१ में यहाँ एक वाद-विवाद

सभा खोली गई जिस के अधिवेशन पहले साप्ताहिक और पश्चात् सप्ताह में दो बार होते रहे। इस में दूसरे धर्म वालों के साथ शास्त्रार्थ हुआ करते थे। ला० गणेशदास इस सभा के कर्त्ता-धर्त्ता थे। १९०१ में पहली बार आर्य-भक्त भाइयों ने समाज में आना प्रारम्भ किया। उस समय इन मेघों का हिन्दुओं के साथ मिल बैठ कर एक स्थान पर सन्ध्या हवन आदि में सम्मिलित होना आश्चर्य-जनक था। आर्य समाज ने विरोध की परवाह न करते हुए इन मेघों को शुद्ध करने का विचार किया। १९०३ में आर्य समाज के वार्षिकोत्सव पर चौ० रामभजदत्त वकील (लाहौर) की अध्यक्षता में श्री स्वामी सत्यानन्द जी के कर-कमलों द्वारा मेघ बिरादरी के चौधरियों को इकट्ठा करके इन की शुद्धि करवाई गई। सैकड़ों नर-नारी इस शुद्धि में सम्मिलित हुए। चौधरी जी की अपील पर सैकड़ों एकत्रित हुए व्यक्तियों ने शताब्दियों से विछुड़े हुए अपने भाइयों के हाथ से मिठाई को ग्रहण किया। विरोध स्वाभाविक था, परन्तु आर्यसमाज का उत्साह दिन प्रतिदिन बढ़ता गया। ला० गणेशदास ने "मेघ और उनकी शुद्धि" नाम का ट्रैक्ट प्रकाशित किया और मेघ जाति को ब्राह्मण ज़ाहिर करके उन के पतन के कारण लिखे और उनकी शुद्धि शास्त्रोक्त क़रार दी। १९०४ में वार्षिकोत्सव पर पं० भोजदत्त और श्री धर्मपाल जिस का पहला नाम अब्दुलग़फ़ूर था और नया-नया शुद्ध हुआ था, सम्मिलित हुए। इनका मुसलमानों के साथ शास्त्रार्थ हुआ।

स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता को अनुभव करते हुए

सन् १९०६ में पुत्री पाठशाला की स्थापना की गई। स० अर्जुनसिंह ने ३,०००) शाला को दान दिया। ला० देवीदयाल ने २,०००) गुरुकुल में जमा कराया जिससे सियालकोट समाज की ओर से दलित जातियों का एक विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण किया करेगा। फलतः भक्त पूर्ण के सुपुत्र म० रामचंद्र मेघ जाति में से पहले स्नातक हैं जिनको सियालकोट समाज ने गुरुकुल में शिक्षा दिलवाई। शुद्धि का काम बढ़ता ही गया। सियालकोट और गुरुदासपुर आदि ज़िलों में सैकड़ों नर-नारियों की शुद्धि की गई। शुद्ध हुए बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल खोल दिए गये। सियालकोट शहर में पढ़ाई के अतिरिक्त दर्ज़ी और तरखान की श्रेणियाँ खोल दी गईं। इर्द-गिर्द के ग्रामों में .खूब प्रचार किया गया। सनातन धर्मियों के साथ शुद्धि के विषय पर सभा के उपदेशक पं० लोकनाथ तथा ला० गणेशदास के शास्त्रार्थ होते रहे। इस प्रचार के परिणाम-स्वरूप यहाँ बहुत हद तक अस्पृश्यता दूर हो गई। इन्हीं दिनों "अंजमन शबान-उल-मुसल्मीन" सियालकोट में स्थापित हुई जो आर्यों के विरुद्ध आंदोलन करने लगी। इस पर ला० गणेशदास ने व्याख्यानों का सिल-सिला जारी किया और उनको उत्तर दिये तथा समाज के गौरव को स्थापित किया। सन् १६०७ में म० रामरखामल गुप्त के प्रयत्न से आर्य युवक समाज बनाया गया और वाचनालय खोला गया।

१६०६ में एक भक्त वधावा की कन्या का विवाह श्री आसानन्द अरोड़ा कोटअद्दू (मुज़फ़्फ़रगढ़) निवासी

के साथ हुआ। बरात आर्य समाज में उतरी और फिर आर्य सदस्यों के साथ मियानापुर पहुँची। यह एक अनोखा अवसर था कि आर्य सदस्य भोजन करते थे और शुद्ध हुए मेघ भोजन परोसते थे।

इन्हीं दिनों ला० ज्ञानचन्द पुरी की ओर से "प्रकाश" में शुद्ध हुए बालकों की शिक्षा के लिए लेख निकलते रहे जिस पर स० सायरूसिंह पुस्तक-विक्रेता डेरा इस्माइलखाँ ने एक छात्रवृत्ति शुद्ध हुए बालकों की गुरुकुल में शिक्षा के लिए दी। इससे म० केसरचन्द आर्य भक्त के पुत्र ईश्वरदत्त को गुरुकुल में प्रविष्ट कराया गया जो आजकल डी०ए०वी० कॉलेज कानपुर में प्रोफ़ेसर है। उसका विवाह ब्राह्मण कुल में हुआ है। ला० भीमसेन, डा० सुन्दरदास, म० ईश्वर-दास, मा० खुशहालचन्द, ला० देवीदयाल और ला० चरण-दास उत्तरोत्तर समाज के प्रधान बनाए गए।

[illegible]द्धार के काम को उन्नत करने के लिए १९१० में एक भिन्न आर्य मेघोद्धार सभा बनाई गई। राय ठाकुरदत्त धवन इसके प्रधान तथा ला० गंगाराम मंत्री बनाये गए। १९१२में आर्य हाईस्कूल के भवन की आधारशिला लफ्टनेंट करनल यंग, डिप्टी कमिश्नर सियालकोट के हाथों रखी गई। १९१४ में ला० चरणदास एडवोकेट ने वकालत प्रारम्भ करते ही आर्य समाज का कार्य उत्साह से करना शुरू कर दिया। १९२४ में युवक सभा को पुनरुज्जीवित किया गया। इसी वर्ष ला० गणेशदास साहूकार ने आर्या-भिविनय का उर्दू अनुवाद "प्रार्थनारहस्य" प्रकाशित किया।

पर्व मनाये जाते हैं। पारिवारिक यज्ञों का सिलसिला भी जारी कर दिया गया है। पुस्तकालय और वाचनालय भी स्थापित है। इसको उन्नत करने में म० जगदीशचन्द्र प्रयत्नशील रहे हैं। पुत्री पाठशाला में १९३४ में ५४७ कन्याएँ शिक्षा पाती थीं। पाठशाला की मुख्याध्यापिका सावित्रीदेवी बी० ए० हैं। इसमें रत्न, भूषण, प्रभाकर की शिक्षा का भी प्रबन्ध है। एण्ट्रेन्स (केवल अँगरेज़ी) की श्रेणी खोल दी गई है। ४३,०००) की लागत का पाठशाला का भवन है। ७२००) वार्षिक व्यय है। ४२४६) वार्षिक सरकार की ओर से ग्राण्ट मिलती है।

४७६. सिरसा (हिसार)

ला० शिवनारायण, ला० केशोराम तथा मा० शिवजी-राम के पुरुषार्थ से यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई। सन् १८९२ में भूमि ख़रीद कर समाज मन्दिर का निर्माण किया गया। समाज मन्दिर में एक यज्ञशाला और एक कूप है। समाज की ओर से प्रारम्भ से ही उपदेशक रखकर प्रचार कार्य किया जाता रहा। सनातनियों के साथ आर्य समाज की ओर से पं० गणपति शर्म्मा का शास्त्रार्थ भी हुआ। सिरसा से २० मील के फ़ासले पर बीकानेर रियासत में गूगा चोहाण की समाधि है जहाँ प्रति वर्ष मेला लगता है। यहाँ मेले के अवसर पर लाख के लगभग यात्री एकत्र हो जाते हैं। गत ३५ वर्षों से आर्य समाज सिरसा मेले पर प्रचार का प्रबन्ध करता आ रहा है। समाज की ओर से मुंशी कालेखाँ को शुद्ध करके उसका नाम मुंशी कृष्णचन्द्र

रखा गया है। उन्हों ने २५ वर्षों से शिक्षा का खूब प्रचार किया है। उन्हों ने तीन और सज्जनों को परिवार सहित शुद्ध किया है। समाज की ओर से विपत्ति के समय सर्वदा लोगों को सहायता दी जाती रही। तीन-चार बार प्लेग पड़ने पर औषधि, चाय इत्यादि से जनता की सेवा की गई। लकड़ी, कफ़न आदि मुहय्या करके मुर्दों को जलाया गया।

समाज के आधीन दो पाठशालाएँ चल रही हैं। समाज मन्दिर में एक व्यायामशाला है। समाज के आधीन पुस्तकालय और वाचनालय हैं। यहाँ की पाठशाला के १२ विद्यार्थी गुरुकुल रायकोट प्रविष्ट हो चुके हैं। इस समाज में पं० लेखराम, मा० आत्माराम, पं० वज़ीरचन्द, पं० गणपति शर्म्मा, पं० पूर्णानन्द, पं० भोजदत्त, स्वा० स्वतन्त्रानन्द, स्वा० सर्वदानन्द, स्वा० गंगागिरि, पं० लोकनाथ इत्यादि महानुभावों ने प्रचार किया है।

४७७. सिलांवाली (सरगोधा)

४७८. सिहाला (लुधियाना)

यह समाज ३ दिसम्बर १६२० को स्थापित हुआ। इस समाज के वर्त्तमान कार्यकर्त्ता म० जमनादास हैं।

४७६. सिहालाकलाँ (होशयारपुर)

४८०. सीतपुर (मुज़फ़्फ़रगढ़)

४८१. सुचानियाँ (गुरुदासपुर)

४८२. सुजानपुर (गुरुदासपुर)

४८३. सुनाम (पटियाला)

४८४. सुलतानपुर (मुज़फ़्फ़रगढ़)

४८५. सुलतानपुर लोदी (कपूरथला)

४८६. सुलेमानकी हैड (फ़ीरोज़पुर)

४८७. सैयदवाला (लायलपुर)

४८८. सोनीपत (रोहतक)

पहले-पहल यहाँ आर्य समाज की स्थापना डा० महाराज-कृष्ण के उद्योग से सन् १६०१ में हुई। डाक्टर जी के देहली चले जाने पर समाज का काम शिथिल पड़ गया। स्वर्गीय ला० जगन्नाथ के उद्योग से पुनः सन् १९१६ में आर्य समाज को पुनरुज्जीवित किया गया। इसी वर्ष सभा के उपदेशक पं० विद्यानन्द ने जैनियों के ट्रैक्ट "क्या ईश्वर जगत्कर्त्ता है" का व्याख्यानों द्वारा प्रतिवाद किया। १६१७ में समाज मन्दिर के लिए भूमि खरीदी गई और एक विशाल समाज मन्दिर का निर्माण किया गया। १६२८ में आर्य समाज का प्रथम वार्षिक उत्सव मनाया गया। उन दिनों मस्जिद के सामने बाजा नहीं बजना चाहिए इत्यादि झगड़े चल रहे थे। समाज को नगर-कीर्तन में बाजा बजाने के लिए लायसैन्स लेना पड़ा। जब जलूस मूलों की मसजिद के पास पहुँचा तो वहाँ हज़ारों लोगों की भीड़ लग गई। मैजिस्ट्रेट ने बाजा बजाने को रोका परन्तु आर्य समाजी धमकी में न आये। अगले वर्ष लायसैन्स लेने में अड़चन पड़ी। परन्तु रोहतक के चौ० छोटूराम, चौ० टीकाराम, ला० रामस्वरूप

आदि सज्जनों की सहायता से आज्ञा मिल गई। आजकल उत्सव निर्विघ्न होते चले आते हैं।

ला० हाकिमराम की धर्मपत्नी के पुरुषार्थ से सन् १६२७ से १६३० तक स्त्री समाज चलता रहा। लाला जी के तब-दील हो जाने पर समाज की अवस्था शिथिल पड़ गई। आजकल समाज में एक पुस्तकालय तथा वाचनालय है। समाज मन्दिर के अतिरिक्त समाज के पास ५००) धन है। एक वैतनिक पुरोहित नियुक्त है।

४८६. सोलन (शिमला)

४६०. सोहल (अमृतसर)

४६१. सौकनविण्ड (सियालकोट)

४६२. हंगू (पेशावर)

४६३. हथीन (गुड़गांवाँ)

यहाँ आर्य समाज की स्थापना सन् १८६० में हुई। चौ० रणजीतसिंह तथा ला० दुनीचन्द उस समय के काम करने वाले सज्जन थे। सन् १६०२ में सभा के उपदेशक पं० भोजराजेश्वर प्रचारार्थ यहाँ पधारे। कई ईसाइयों को शुद्ध किया गया। इसका प्रथम वार्षिकोत्सव सन् १६२५ में हुआ। १६२६ में भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा देहली के पं० बाल-मुकुन्द द्वारा एक बड़ी भारी छः सौ के लगभग मौला ठाकुरों की शुद्धि की गयी। कँवर नैनसिंह आजकल के उत्साही कार्यकर्त्ता हैं।

४६४. हरनपुर (जेहलम)

यहाँ समाज कई वर्षों से स्थापित है। वर्त्तमान ही में श्रीमती सतभरावाँ देवी धर्मपत्नी स्वर्गीय दानवीर श्री ला० दीवानचन्द ठेकेदार ने आठ हज़ार की लागत से 'धर्मद्वारा' नामक भवन आर्य समाज को दान दिया है। छः वर्ष से यहाँ एक पुत्री पाठशाला भी चल रही है। यह शाला दीवान हरभगवान् ने ५००) के दान से प्रारम्भ की थी। स्त्री समाज के भी सत्संग लगते हैं।

४६५. हरिपुर (हज़ारा)

४६६. हरियाना (होशियारपुर)

४६७. हलाहर (करनाल)

४६८. हसनपुर (गुड़गांवाँ)

४६९. हसनाबाद (बहावलपुर)

५००. हाफ़िज़ाबाद (गुजराँवाला)

सन् १८९५ के करीब यहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई। कार्यकर्त्ताओं के बाहर चले जाने से समाज शिथिल हो गया। १९०२ में इस को पुनरुज्जीवित किया गया। उसी वर्ष समाज का प्रथम वार्षिकोत्सव हुआ। एक नव मुसलिम की शुद्धि की गई। बा० रामसहाई कपूर पच्चीस वर्ष तक समाज के प्रधान रहे। ला० हज़ारीलाल कपूर कई वर्ष तक मन्त्री रहे। सन् १९०७ में एक पुत्री पाठशाला खोली गई। १३२ कन्याएँ इसमें पढ़ती हैं। डा० दौलतराम ने प्रधान रह कर समाज की सेवा की। समाज मन्दिर बड़ा सुन्दर बना हुआ है। यह मन्दिर वर्त्तमान में दस हज़ार की लागत का है।

५०१. हांसी (हिसार)

५०२. हीरानगर (जम्मूँ)

विशेष:—निम्न दो समाजों का इतिहास पश्चात् प्राप्त हुआ है। इनका निर्देश नाम तथा संख्या से तो किया जा चुका है। अधोलिखित पंक्तियों में इनका इतिहास दिया जाता है।

९७. खेमकरण (लाहौर)

बावा काहनदास साधु के प्रयत्न से यहाँ चिरकाल से आर्य समाज स्थापित है। वे आर्यों को हिन्दी में सत्यार्थप्रकाश और आर्याभिविनय पढ़ाया करते थे। उनके चले जाने पर समाज कुछ शिथिल पड़ गया। १६१३ई० में भूमि खरीदी गई और समाज मन्दिर का निर्माण हो गया। माई लच्छमनकौर ने मन्दिर में एक कूप बनवा दिया है। मन्दिर पर ५०००) व्यय हो चुका है। समाज के प्रतिवर्ष वार्षिक उत्सव होते हैं। समाज शुद्धि का कार्य करता रहा है। इस में किसी प्रकार का विरोध नहीं हुआ। प्रारम्भ में ला० बिशनदास प्रधान रह चुके हैं। अब सर्वश्री चूनीलाल, रलियाराम, तुलसीराम और अमीचन्द समाज के उत्साही कार्यकर्त्ता हैं।

२०६. देहली [चावड़ी बाज़ार]

इस समाज की स्थापना फैज़ बाज़ार दरियागंज में सन् १८८४ में हुई। मुख्य कार्यकर्त्ता राय साहिब ला० केदारनाथ और राय साहिब ला० दामोदरदास रहे हैं। शाहजी के छत्ते के पास राय साहिब ला० कन्हैयालाल के मकान पर समाज के अधिवेशन होते रहे। फिर शाहजी के छत्ते से हटा कर चर्खेवालों में ला० बुद्धासिंह के मकान पर अधिवेशन होते रहे, उसके बाद वर्तमान स्थान चावड़ी बाज़ार में होने लगे। श्री स्वामी दर्शनानन्द और श्री पं० गणपति शर्मा ने सन् १६०० ई० के लगभग

५०३. हेलां (गुजरात)

व्याख्यान दिए तथा शास्त्रार्थ किए। स्वामी श्रद्धानन्द ने १९१७ ई० से देहली में ही अपना निवास स्थान निश्चित किया, उनकी मौजूदगी से समाज की बड़ी वृद्धि हुई। शुद्धि और दलितोद्धार के कार्य को बहुत फैलाया। श्री पं० रामचन्द्र देहलवी आर्य महोपदेशक ने भी सन् १९१५ से २७ तक १२ वर्ष आर्य समाज का बहुत प्रचार किया। श्री सेठ राधूमल ने प्रर्याप्त धन देकर इन्द्रप्रस्थ गुरुकुल की स्थापना कराई। श्री पं० निहालचन्द ने सन् १९२४ ई० में अपनी सारी सम्पत्ति जो ५२,०००) की थी समाज के लिए दान कर दी और आज्ञापत्र लिखा कि आधी रकम का ब्याज गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ को और आधा आर्य समाज को दिया जाया करे। स्वर्गीय श्री ला० दीवानचन्द ठेकेदार ने आर्य समाज मन्दिर बनवाने के वास्ते १॥ लाख रुपया दान किया हुआ है जिस में से ७५ हज़ार की ज़मीन समाज मन्दिर के लिए मोल ले ली गई है और शेप रुपया भवन बनवाने में खर्च किया जायगा। आर्य समाज चावड़ी बाज़ार के सभासद तथा सहायक मिलाकर ५०० के लगभग हैं। सर्वश्री गिरिधारीलाल, निहालचन्द, गौरीशंकर, केशवदेव शास्त्री, नारायणदत्त, बुलाकीदास, मिलखासिंह, देशबन्धु उत्तरोत्तर समाज के प्रधान रह चुके हैं।

आर्य समाज चावड़ी बाज़ार के आधीन निम्नलिखित संस्थाएँ है :—

(क) आर्य कन्या पाठशाला (चावड़ी बाज़ार)। यह समाज मन्दिर में ही लगती है। इस में हिन्दी मिडिल तक पढ़ाई होती है। और इस के अतिरिक्त पंजाब यूनिवर्सिटी की हिन्दी रत्न, भूषण और प्रभाकर की परीक्षायें भी दिलाई जाती हैं। इन के लिए तथा आंगल भाषा के लिए विशेष श्रेणियां खोली गई हैं। पाठशाला में लगभग ३०० छात्राएँ शिक्षा पाती हैं।

(ख) आर्यानाथालय। यह पार्टौदी हाउस में क़ायम है, इसका अपना निजी

२०४. होशयारपुर

बड़ा विस्तृत तथा विशाल भवन है जिस में २०० के करीब बालक बालिकाए परवरिश पाते हैं। बालकों को १०वीं कक्षा तक और कन्याओं को मिडिल तक की शिक्षा दिलवाई जाती है।

(ग) डी० एन० हाई स्कूल। यह पाटौदी हाउस आर्यानाथालय के विशाल भवन में स्थित है।

(घ) वनिता विश्रामाश्रम। इसका लाहौरी गेट में अपना भवन है, जिस में विधवाओं का पालन पोषण तथा विवाह का प्रबन्ध होता है और गुमराहों को वापिस उन के घर भेज दिया जाता है जिस का खर्च आश्रम स्वयं उठाता है।

(ङ) आर्य कुमार सभा। यह समाज मन्दिर मे लगती है, इसके १२५ मेम्बर हैं जिन में २५ सहायक मेम्बर है।

आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब का इतिहास

परिशिष्ट ख.

गुरुकुलों का इतिहास

१. कमालिया (लायलपुर) गुरुकुल

सं० १९८२ में आर्य समाज कमालिया ने स्कूल के विद्यार्थियों के आचार व्यवहार और पढ़ाई को असन्तोष-जनक समझ कर विद्यार्थियों के सुधार के लिए एक विद्यार्थी आश्रम खोला था। श्री ला० सुखदयाल इसके प्रबन्ध कर्त्ता बने। उन्होंने असहयोग के दिनों में पोस्ट आफ़िस के इन्स्पैक्टर पद से त्याग पत्र दे दिया था। उन्होंने विद्यार्थी आश्रम को सफल न होते देख आर्य समाज में गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव पेश किया। परिणाम-स्वरूप १ वैशाख १९८४ में स्वामी गंगागिरि की अध्यक्षता में गुरुकुल की स्थापना की गई। १८ विद्यार्थी प्रारम्भ में भर्ती हुए। गुरुकुल की बुनियाद खोदने के लिए श्री भाई परमानन्द के करकमलों का सहारा लिया गया और इस की आधारशिला श्री आचार्य रामदेव ने रखी। बढ़ते-बढ़ते विद्यार्थियों की संख्या ७२ हो गई। गुरुकुल-समिति के आधीन तीन वर्षों से पांचवीं से आठवीं तक स्कूल और मैट्रिक की विशेष श्रेणी का प्रबन्ध किया गया है। स्कूल और विशेष श्रेणियों की संख्या १२०

है। गुरुकुल की अष्टम श्रेणी पास कर चुकने के पश्चात् बहुत से ब्रह्मचारी गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में अधिकारी परीक्षा देने चले जाते हैं। जो वहाँ नहीं जा सकते वे डी० ए० वी० स्कूल की विशेष श्रेणी में जा कर एक वर्ष में मैट्रिक की परीक्षा दे देते हैं। आजकल गुरुकुल एक प्रबन्ध-कर्तृ सभा के आधीन चल रहा है। सभा के निम्न सदस्य हैं:—

म० यशवन्त प्रधान, म० सुखदयाल मन्त्री व मुख्याधिष्ठाता, श्री लाजपतराय कोषाध्यक्ष, डा० ऋषिकेश, म० लक्ष्मीचन्द और म० दीवानचन्द एस० टी० ई०।

गुरुकुल के लिए निम्न सज्जनों ने दान दिया है—

श्री अमीरचन्द कोल मरचैंट ५००)
महता चहींदाराम २५००)
रा० ब० सेवकराम १२५०)
ला० भगवान्दास धावड़ा २०००)
सेठ गुरुदित्तामल व ला० रामकृष्ण ८००)
धर्मपत्नी श्री महेन्द्रप्रसाद ५००)
महता लेखराज रीटायर्ड तहसीलदार ५००)
श्रीमती सदीबाई धर्मपत्नी ला० पोखरदास २००)
श्रीमती जयदेवी मुख्याध्यापिका आर्य पुत्री पाठशाला कमालिया २००)
श्रीमती विद्यावती धर्मपत्नी ला० गंगाराम २००)
ला० दरबारीलाल ५००)
ला० हरनामदास (जड़ांवाला) २५०)
डा० सन्तराम (जड़ांवाला) २५०)

सेठ कश्मीरीलाल (झंग) ३५०)

महता रोशनलाल १८००)

२. कुरुक्षेत्र (करनाल) गुरुकुल

सं० १९६६ में थानेश्वर निवासी ला० ज्योतिप्रसाद रईस के मन में गुरुकुल बनाने का संकल्प उठा। महात्मा मुंशीराम को वे दश सहस्र और कंथल नामक ग्राम का आधा भाग देने को उद्यत हो गए। १ वैशाख १९६९ को गुरुकुल का उद्घाटन किया गया। पं० विष्णुमित्र आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता नियत हुए। इस समय गुरुकुल में आठ श्रेणियाँ लगती हैं। १५० ब्रह्मचारी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

गुरुकुल के पास २००० बीघा भूमि है जिस में दस-बारह कूप लगे हैं। सवा लाख की गुरुकुल की इमारत है। गुरुकुल का प्रबन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा के आधीन श्री मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी करते हैं। इस गुरुकुल के नियम तथा पाठविधि वही है जो गुरुकुल कांगड़ी की है। भोजन-छादन का शुल्क इस भाँति है। प्रारम्भिक ३ श्रेणियों में १०) ४र्थ तथा ५म में १२) तथा अष्टम तक १६) मासिक है। गुरुकुल में निम्न महानुभाव कार्य कर रहे हैं :—

१. पं० सोमदेव विद्यालंकार आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता

२. श्री ईश्वरदत्त सिद्धान्तालंकार संस्कृताध्यापक

३. श्री ब्रह्मानन्द वेदालंकार संस्कृताध्यापक

४. श्री लालचन्द एम० ए०, एल० एल० बी० आंगलाध्यापक

५. श्री भद्रसेन विद्यालंकार चिकित्सक
६. श्री कौशलचन्द्र गणिताध्यापक
७. श्री रघुवीर शास्त्री संस्कृताध्यापक
८. श्री विक्रमादित्य व्यायाम शिक्षक
९. श्री भक्तराम कार्यालयाध्यक्ष

३. गुजरांवाला गुरुकुल

सन् १९०० में यहाँ गुरुकुल की स्थापना हुई। सन् १९०२ में यहाँ से गुरुकुल हरिद्वार ले जाया गया जोकि अब एक विश्वविद्यालय के रूप में है। परन्तु ला० रलाराम तथा ला० हाकमराय आदि सज्जनों ने एक पाठशाला यहाँ भी जारी रखी जो धीरे-धीरे गुरुकुल के रूप में परिवर्त्तित कर दी गई। १९१० में गुरुकुल के संचालन के लिए एक कमेटी बना दी गई। १९२२ में पंजाब सोसायटी एक्ट के अनुसार इस की रजिस्टरी करवाई गई। ब्रह्मचारियों के संरक्षक, ट्रस्टी तथा अन्य आर्य सज्जन ५०) दे कर गुरुकुल सोसायटी के सदस्य बन सकते हैं। मैनेजिंग कमेटी के १५ सदस्य हैं। अब गुरुकुल की पक्की इमारत बन गई है। ला० चिरञ्जीतलाल ने दो कमरे संन्यासियों तथा महात्माओं के ठहरने के वास्ते बनवा दिए हैं।

पाठ्य विषयों में हिन्दी और संस्कृत आवश्यक हैं। पहले छः साल की पढ़ाई तो अन्य गुरुकुलों की भाँति है। इस में धार्मिक पुस्तकें ही पढ़ाई जाती हैं। अन्तिम दो वर्ष यूनिवर्सिटी की शिक्षा दे कर मैट्रिक की परीक्षा दिलाई जाती है। गत पाँच वर्षों से मैट्रिक का परिणाम शत

प्रतिशत रहा है। यहाँ आठ वर्षों में मैट्रिक की परीक्षा दिलाई जाती है। इस गुरुकुल से ७०० ब्रह्मचारी शिक्षा पा कर चले गए हैं।

ग्रीष्म ऋतु में प्रति वर्ष गुरुकुल के सर्व ब्रह्मचारी तथा अध्यापक पाँच महीनों के लिए कश्मीर जाते हैं। वहाँ नगर से मील भर की दूरी पर महाराजा की ओर से एक बिल्डिंग रहने के वास्ते मिल जाती है। वहाँ गुरुकुल को आठ कनाल ज़मीन भी मिल गई है।

गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को गतका, लाठी, तलवार और स्कौटिंग भी सिखाया जाता है। गुरुकुल का अपना बैण्ड भी है। गुरुकुल की हाकी टीम ज़बरदस्त है। गत दो वर्षों से ज़िले का कप गुरुकुल के ब्रह्मचारी जीत रहे हैं।

गुरुकुल प्रबन्ध कमेटी के निम्न सदस्य हैं—

१. ला० हाकमराय चोपड़ा, एडवोकेट (प्रधान)

२. ला० चिरञ्जीतलाल उपप्रधान

३. ला० रोशनलाल ,,

४. ला० गोविन्दराम मन्त्री तथा मुख्याधिष्ठाता

११ अन्य सदस्य हैं।

४. जेहलम गुरुकुल

सं० १९८८ में जबकि जम्मूँ और काश्मीर रियासत में हिन्दु मसलमानों का झगड़ा हुआ था गुरुकुल पोठोहार के अधिकारियों ने इस भयंकर अवस्था को देखकर यही उचित समझा कि छोटी श्रेणियों के ब्रह्मचारियों को किसी सुरक्षित स्थान में भेजा जाय। फल-स्वरूप पं० रामदेव को इस

उद्देश्य से जेहलम भेजा गया कि वे उस भूमि को रजिस्ट्री करवा लें जिसे ला० लालचन्द कूप, बाग और कुछ कमरों समेत गुरुकुल को दान करने का निमन्त्रण दे रहे थे। श्री ला० लालचन्द ने सात बीघे भूमि हिब्बा करवा दी है। २५ मार्च, १६३२ को कई प्रतिष्ठित सज्जनों की उपस्थिति में गुरुकुल की स्थापना की गई। श्री ला० लालचन्द ने भवन की आधारशिला रखी। श्रीमती माता वीरांवाली धर्मपत्नी श्री महता अयोध्याराम ने ६००) की लागत का एक कमरा पाठशाला के लिए बनवा दिया है। जेहलम की श्रीमती जानकीदेवी, श्रीमती विश्वम्भरदेवी, मीरपुर की श्रीमती दीवानदेवी, ला० जगतूराम श्री म० कर्मचन्द विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। झंग निवासी श्री मलिक साहिबदयाल, डिचकाट निवासी श्री डा० गुलज़ारीलाल व जम्मू निवासी श्री ला० अरूढ़चन्द भी गुरुकुल को अपने गाढ़े पसीने की कमाई से सींचते रहे हैं। आश्रम को अपर्याप्त देखकर ला० लालचन्द ने एक हज़ार रुपया छात्रावास के लिए प्रदान किया। गुरुकुल की ओर से पं० चन्द्रपाल, श्री पं० जयेन्द्र, श्री पं० रामदेव व महात्मा हरिराम समय-समय पर बाहर की समाजों में घूम-घूम कर वैदिक धर्म का प्रचार करते हैं।

गुरुकुल के कार्यकर्त्ता निम्नलिखित हैं—

१. कुलपति श्री पं० मुक्तिराम उपाध्याय
२. एडवाइज़र व निरीक्षक श्री स्वा० वेदानन्द व महात्मा हरिराम

३. आचार्य व मुख्याधिष्ठाता श्री पं० रामदेव भिक्षु
४. सहायक अधिष्ठाता श्री पं० जयदेव 'स्नेही' शास्त्री साहित्योपाध्याय
५. श्री पं० बदनसिंह शास्त्री, अध्यापक
६. श्री पं० बलवीरसिंह अध्यापक
७. श्री म० गणेशदत्त "जिज्ञासु"

गुरुकुल में इस समय पाँच श्रेणियाँ बन चुकी हैं। पाठ्य प्रणाली गुरुकुल कांगड़ी की है। प्रत्येक ब्रह्मचारी को ८) मासिक शुल्क भोजनादि व्ययार्थ देना पड़ता है।

५. झज्झर (रोहतक) गुरुकुल

पंडित विश्वम्भरनाथ झज्झर निवासी ने अफ्रीका से लौट कर अपनी वहाँ की सारी कमाई गुरुकुल कांगड़ी को दे दी और कई वर्षों तक वहाँ अवैतनिक कार्य करते हुए गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की ओर आकर्षित हो गये। झज्झर में अपने मित्रों से गुरुकुल खोलने के विषय में पूर्ण परामर्श कर और उन से सहायता प्राप्त कर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अन्तरङ्ग सभा से झज्झर की गुरुकुल भूमि में शाखा गुरुकुल खोलने की स्वीकृति प्राप्त कर ली और गुरुकुल भवन निर्माण का कार्य आरम्भ कर दिया। यह गुरुकुल श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब की अन्तरङ्ग सभा तिथि ३ ज्येष्ठ १९७२ तदनुसार १६ मई १९१५ के प्रस्ताव संख्या १६ के अनुसार स्थापित हुआ था।

स्वर्गवासी ला० बद्रीनाथ रईस झज्झर ने पंडित विश्वम्भरनाथ जी को पर्याप्त सहायता दी जिस के

लिए वह धन्यवादाई हो चुके हैं। अन्यान्य झज्झर निवासियों ने तथा आस-पास के ग्रामों के रहने वालों ने भी पंडित जी को यथाशक्ति सहायता दी और गुरुकुल भवन निर्माण का कार्य चलता रहा। परन्तु "श्रेयांसि बहुविघ्नानि", इस किंवदन्ती के अनुसार गुरुकुल के लिए असीम चिन्ता के कारण पंडित जी का मन विक्षिप्त हो गया और वह पागल-से हो गये। फिर क्या था? सहायक छिन्न-भिन्न हो गये, बनी-बनाई भोजनशाला और यज्ञशाला टूट फूट गई, रुपये कई जगह पड़े रह गये। किसी को विश्वास न था कि झज्झर में फिर गुरुकुल बनेगा। परन्तु पंडित जी के तप और श्री स्वामी परमानन्द और पं० ब्रह्मानन्द के पुरुषार्थ से गुरुकुल की पुनः स्थापना होने लगी। ला० लक्ष्मणदास तथा अन्यान्य सज्जनों की सहायता से गुरुकुल के रुपये जो पंडित विश्वम्भरनाथ के एकत्रित किए हुए थे और जो इधर-उधर पड़े हुए थे, इकट्ठे किए जाने लगे और धीरे-धीरे उनका बड़ा हिस्सा इकट्ठा हो गया और गुरुकुल भवन फिर से तय्यार होने लगा। गुरुकुल कमेटी एक साधारण आकार से बढ़ कर बृहत् रूप वाली बन गई। इस समय ब्रह्मचारियों के रहने के लिए चतुर्दिक् से घिरे हुए दो पक्के कमरे तथा गोशाला, भोजनशाला और कर्मचारियों के वास्ते चतुर्दिक् से घिरे हुए आठ मकान तैयार हो गये हैं। गुरुकुल की अपनी भूमि लगभग एक सौ पैंतीस बीघे है जिन में गुरुकुल की ओर से खेती होती है। मीठे जल का एक पक्का कुआं भी बन गया है जिस की सहायता से वाटिका भी लग गई है।

शाखा गुरुकुल झज्झर के नौ हज़ार रुपये गुरुकुल काँगड़ी में जमा हैं। यह रुपया पहले लगभग छः हज़ार था, अब सूद सहित नौ हज़ार हो गया है।

गुरुकुल का प्रबन्ध महासभा झज्झर के हाथों में है जिस के लगभग ५० पचास सभासद हैं। इस सभा के वर्तमान पदाधिकारी निम्नलिखित सज्जन हैं :—

प्रधान—श्री चौ० चुन्नीलाल बी० ए०, एल०-एल० बी० सिलानी निवासी।

उपप्रधान—श्री चौधरी रामगोपाल छारा निवासी।

उपप्रधान—श्री चौधरी रूपचन्द्र मातनहेल निवासी।

उपप्रधान—श्री चौधरी जयसिंह बादली निवासी।

मन्त्री—श्री चौधरी स्वरूपसिंह जहांगीरपुर निवासी।

उपमन्त्री—श्री लाला शिवराम झज्झर निवासी।

कोषाध्यक्ष—श्री स्वामी आत्मानन्द सरस्वती।

इस गुरुकुल के कार्यों को सुरीत्या सम्पादन करने के के लिए तथा यह जांचने के लिए कि शिक्षा विभाग में ठीक-ठीक क्या व्यय होता है, इस गुरुकुल में तीन विभागों की स्थापना की गई है। (१) शिक्षा विभाग। (२) गोशाला कृषि विभाग। (३) उपदेशक विभाग। इन तीनों विभागों के आय-व्यय पृथक्-पृथक् रखे जाते हैं। गोशाला, कृषि विभाग तथा उपदेशक विभागों के व्ययों के पश्चात् साल के अन्त में जो बचत होती है वह शिक्षा विभाग को दे दी जाती है जो कि वास्तविक गुरुकुल है।

(क) शिक्षा विभाग—ब्रह्मचारियों की संख्या वर्ष के अन्त

में २३ थी। प्रथम श्रेणी से षष्ठ श्रेणी तक ब्रह्मचारियों को गुरुकुल कांगड़ी की शिक्षा पद्धति के अनुसार पढ़ाया जाता है, और उस से आगे आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के श्रीमद्‌-यानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर की पाठविधि के अनुसार सिद्धान्तभूषण की पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं। प्रत्येक ब्रह्मचारी से ५) मासिक तथा वर्ष भर के पहनने के वस्त्र आदि लिए जाते हैं। परन्तु इस नियम का अपवाद भी होता है अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि वाले निर्धन ब्रह्मचारी सर्वथा निश्शुल्क भी लिए जाते हैं। इस विभाग के निम्नलिखित कर्मचारी हैं:-

अवै० मुख्याधिष्ठाता—श्री स्वामी परमानन्द सरस्वती

अवैतनिक आचार्य—श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती

अवैतनिक सहायक मुख्याधिष्ठाता—श्री स्वामी आत्मानन्द सरस्वती जी हैं जो गुरुकुल की वस्तुओं के रक्षक तथा गुरुकुल के हिसाब किताब के उत्तरदाता (ज़िम्मेवार) हैं।

मुख्याध्यापक—श्री पं० विद्यारत्न सिद्धान्तभूषण।

द्वितीयाध्यापक—श्री पंडित महावीर सिद्धान्तभूषण।

(ख) गोशाला कृषि विभाग। इस विभाग के अध्यक्ष श्री स्वामी आत्मानन्द सरस्वती हैं जिन के आधीन प्रायः तीन कृषक काम करते रहे हैं। खेत एक सौ अड़तीस बीघे और गाय, बैल, बछड़े, बछड़ी की संख्या चौबीस है। दूध गोशाला से प्रायः बीस सेर प्रति दिन निकलता है। वाटिका से शाक पर्याप्त प्राप्त होता है जिस कारण बाहर से शाक मोल लेने की आवश्यकता नहीं होती।

(ग) उपदेशक विभाग। आस पास के ग्रामों के आर्यों के विशेष आग्रह के कारण इस विभाग की स्थापना की गई थी। आर्यों में प्रचार तथा उन के वैदिक संस्कारों का सम्पादन इस विभाग के उद्देश्य थे। इस वर्ष इस विभाग के उपदेशक श्री ब्रह्मचारी रामसिंह तथा भजनीक श्री चौधरी नरसिंह रहे। इन दोनों पुरुषों ने अच्छा काम किया।

२६,०००) गुरुकुल की स्थिर सम्पत्ति है। १७००) का गुरुकुल का विविध सामान है।

ब्रह्मचारियों की संरक्षा के लिए गुरुकुल झज्झर में एक साधारण औषधालय भी स्थापित है, जिस से आस पास के ग्रामों के लोग भी लाभ उठाते हैं।

६. झुग्गीवाला (मुज़फ़्फ़रगढ़) संस्कृत विद्यालय

१९२८ ई० से श्री चौ० रीभूराम की इच्छा के फलस्वरूप यह विद्यालय चल रहा है। श्री पं० धर्मचन्द शास्त्री विद्यालय के मुख्याध्यापक हैं। उनके बड़े भाई स्वर्गीय श्री पं० भीमसेन विद्यालंकार विद्यालय की उन्नति करने में सर्वदा प्रयत्न करते रहते थे। निर्धन विद्यार्थियों को भोजनादि के व्यय के लिए चौ० बिशनाराम, चौ० आसानन्द, चौ० रोशनलाल एग्ज़ेकेटिव आफ़ीसर, भक्त टिकणराम आदि सज्जनों के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ प्राज्ञ, विशारद की परीक्षाओं का प्रबन्ध है। गत वर्ष एक विद्यार्थिनी ने दस ग्यारह वर्ष की अवस्था में प्राज्ञ परीक्षा उत्तीर्ण की है। आजकल शास्त्री में एक विद्यार्थिनी, विशारद में तीन विद्यार्थी और तीन विद्यार्थिनियाँ, प्राज्ञ में एक विद्यार्थिनी और दो विद्यार्थी पढ़ते हैं।

विद्यालय में प्राचीन प्रणाली के अनुसार शिक्षा देने का प्रयत्न किया गया है। दोनों समय नियम-पूर्वक सन्ध्योपासना होती है।

७. पोठोहार चोहा भगतां (रावलपिण्डी) गुरुकुल

श्री स्वामी दर्शनानन्द महाराज के प्रयत्न से सं० १९६५ में यह गुरुकुल स्थापित हुआ। पं० मुक्तिराम इसके आचार्य हैं। इसकी १६० बीघे भूमि और १५०००) के मकान हैं।

८. बेटसोहनी (मुज़फ़्फ़रगढ़) गुरुकुल

श्री चन्दुलाल ने गुरुकुल खोलने के लिए छः सौ बीघा भूमि आर्य प्रतिनिधि सभा लाहौर के नाम रजिस्टरी करवा दी। भूमि ग़ैर आबाद थी। पं० गंगाराम आबादी के पीछे लग पड़े। उन्होंने वहाँ एक गोशाला खोल दी और भूमि का प्रबन्ध उपप्रतिनिधि सभा मुज़फ़्फ़रगढ़ के ज़िम्मे लगा दिया। उन्होंने यहाँ बड़े यत्न से विरजानन्द वाला, दयानन्द वाला, गुरुदत्त वाला, गंगाराम वाला, टिकनराम वाला नामक कूप तथा लेखराम वाला तालाब बनवाया। सैकड़ों वृक्ष लगवाये। सन् १९२१ में दीवाली के दिन गुरुकुल बेटसोहनी की स्थापना की गई। ३५ ब्रह्मचारी इसमें प्रविष्ट हुए। लकड़ी के ५२ मकान यहाँ बनवाए गए। लगभग ग्यारह हज़ार व्यय हुआ। इस इस्टेट के प्रबंधक ला० ताराचन्द नियत हुए। अगस्त १९२९ को सिंधु नदी में बाढ़ आई और सब मकान गिर गए और बड़ी हानि हुई। ब्रह्मचारियों को बड़ी कठिनता से बचाया गया।

गुरुकुल के कर्त्ताधर्त्ता पं० गंगाराम का ११ नवम्बर १९२९ को देहान्त हो गया। ला० विश्वम्भरदत्त सहायक मुख्याधिष्ठाता घबरा गए कि अब रुपया कौन लायगा। लाला ताराचन्द से सलाह करके गुरुकुल को बन्द कर दिया गया। पं० धर्मदत्त ने जब इस बात की खबर समाचार पत्रों में पढ़ी तो वह बन्नू से वापस आए और ला० ताराचन्द को साथ लेकर सभा में पहुँचे और निश्चय हुआ कि गुरुकुल को बन्द करना सेठ चन्दुलाल की वसीयत के विरुद्ध है। गुरुकुल फिर उन्हीं दिनों खोल दिया गया। दूसरी बार पं० विश्वम्भरनाथ उपप्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर के करकमलों द्वारा १५ जून १९३० को गुरुकुल खोला गया।

डा० आसानन्द राजनपुर निवासी ने ५००) से अपनी माता की यादगार में कमरा बनवा देने का दान किया। राय बहादुर ला० जसवन्तराय एम० ए० रीटायर्ड डिस्ट्रिक्ट व सेशन जज मुलतान ने श्रीमती हेमराज प्रेमदेवी फ़एड से ४५०) दिलाया। म० रामदित्तामल सब ओवरसीयर ने २००) दान किया। ला० निरञ्जनदास चोपड़ा ने ५००) कूप बनवाने के लिए दान किया। श्री ला० जेठानन्द ने स्नानगृह बनवा दिया है। गत वर्ष से एक महात्मा ने गुप्त रूप से गुरुकुल के ब्रह्मचारियों और कर्मचारियों को एक समय का भोजन देने का प्रण किया है। यह सब गुरुकुल के कार्यकर्ताओं का ही पुरुषार्थ है कि गुरुकुल के ४०००) वार्षिक व्यय को कहीं न कहीं से पूरा करते हैं।

गुरुकुल में अनाथ बालकों के अतिरिक्त कई निर्धन

बालक भी प्रविष्ट होते हैं जिनसे केवल भोजन व्यय २) से ५) तक मासिक लिया जाता है। प्रथम चार श्रेणियों में शिक्षा गुरुकुल की पाठ-विधि के अनुसार दी जाती है। एक शिल्प —तरखान—क्लास भी हैं। प्राज्ञ, विशारद, शास्त्री परीक्षाएँ दिलाने का भी प्रबन्ध है। आजकल गुरुकुल में ४६ ब्रह्मचारी हैं। इनमें से १२ व्यय देते हैं और अन्यों का भार गुरुकुल पर ही है।

कर्मचारी वर्ग निम्न प्रकार से हैं:—

(क) स्वामी रुद्रानन्द आचार्य
(ख) स्वामी सेवाराम मुख्याधिष्ठाता
(ग) मास्टर लालचन्द अध्यापक
(घ) महेन्द्रप्रताप ,,
(घ) चौ० रामदत्त ,,

इस गुरुकुल से १७ ब्रह्मचारियों ने प्राज्ञ और ७ ने विशारद पास की है। ४ यहाँ चार श्रेणियाँ पढ़ कर गुरुकुल मुलतान चले गए हैं। ४ मिस्तरी बनकर गुज़ारा कर रहे हैं।

९. भटिण्डा (पटियाला) गुरुकुल

१२ नवम्बर १९२७ को भटिण्डा से एक २ मील की दूरी पर यह गुरुकुल जारी हुआ। यह साधारण शिक्षा के अतिरिक्त शिल्प की शिक्षा भी देता है।

१०. भैंसवाल (रोहतक) गुरुकुल विद्यापीठ हरियाना

गुरुकुल की स्थापना २३ मार्च १९२० ई० को हरियाना प्रान्त के विशुद्ध एवं विशद वातावरण ज़ि० रोहतक के गाँव भैंसवाल (कलां) से सवा कोस दूरी पर हुई। पूज्यपाद अमर शहीद श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के करकमलों

द्वारा गुरुकुल की आधारशिला रखी गई थी। हरियाना प्रान्त के प्रसिद्ध उत्साही कार्यकर्ता श्री भगत फूलसिंह तथा स्वामी व्रतानन्द इसके मुख्य संचालक हैं। उन्होंने गुरुकुल को सफल बनाने के लिए भरसक प्रयत्न किया है। गुरुकुल के जन्मकाल से ले कर आज तक विशेष जागृति दीख रही है उस का सब श्रेय आप पर ही है। आप के धार्मिक प्रेम-योग्यता तथा समाज-सेवा से आर्य जगत् भली प्रकार परिचित है। गुरुकुल के संचालन का भार "महासभा गुरुकुल विद्या पीठ हरियाना भैंसवाल" पर है जिस में भिन्न-भिन्न प्रदेशों के सैकड़ों सभासद सम्मिलित है। आन्तरिक प्रबन्ध के लिए महासभा के सभासदों में से निर्वाचित सभासदों द्वारा संगठित 'प्रबन्धकर्तृ सभा' है। इसी सभा के द्वारा विशेष प्रबन्धों की आवश्यकतानुसार आयोजना होती रहती है।

वैदिक धर्म के प्रचारार्थ वार्षिकोत्सव का आयोजन किया जाता है जोकि माघ शुक्ला १३, १४, १५, फाल्गुन कृष्णा १ की तिथियों में सदा नियत है। इस में दलितोद्धार शुद्धि, ग्राम सुधार, हिन्दु संगठन आदि सामयिक सम्मेलनों का जनता के हितार्थ आयोजन किया जाता है जिन में आर्य समाज व हिन्दु समाज के प्रसिद्ध देशसेवक नेता तथा आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् संन्यासी और धुरन्धर विद्वान् महोपदेशक धर्म-प्रचार में सहयोग देते रहते हैं। गुरुकुल की ओर से वैदिक धर्म के प्रचार के लिए अनेक भजन-मण्डलियाँ बराबर काम करती रहती हैं। समीपस्थ ग्रामों में गुरुकुल के पण्डित महोदय

सैकड़ों संस्कार वैदिक रीत्यनुसार संस्कार करवाते रहते हैं, जिन के प्रचार के प्रभाव से अब तक हज़ारों की संख्या में यज्ञोपवीत दिये गये हैं, तथा अन्य विवाह, नामकरण आदि संस्कार कराये गये हैं।

ब्रह्मचारियों की शिक्षा का अत्युत्तम प्रबन्ध है। इस समय तक ब्रह्मचारी व्याकरण, दर्शन, उपनिषद्, वेद आदि की शिक्षा के साथ-साथ इतिहास, भूगोल, गणित, अंग्रेज़ी आदि की शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस के अतिरिक्त आयुर्वेद प्रचार के आदर्श को पूरा करने के लिए आयुर्वेद विद्यालय की आयोजना की गई है। इसका उद्देश्य यह है कि दशम श्रेणी के अनन्तर ब्रह्मचारी इस विद्यालय द्वारा शिक्षित होकर ग्रामों में पुरोहित रूप से रह कर ग्रामीणों की सेवा के साथ-साथ वैदिक धर्म की क्रियात्मक ठोस सेवा करें और ग्राम सुधार का क्रियात्मक कार्य जनता के सामने प्रस्तुत करें। प्राचीन प्रथानुसार ब्रह्मचारियों से फ़ीस नहीं ली जाती। वर्तमान समय में भिन्न-भिन्न श्रेणियों में ७८ ब्रह्मचारी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य पद पर श्री पूज्यपाद स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज कार्य कर रहे हैं। इस समय तक गुरुकुल से उपाधि-परीक्षा प्राप्त कर १३ स्नातक दीक्षित हो चुके हैं जोकि हरियाना प्रान्त की आवश्यकतानुसार इसी प्रान्त में समाज सेवा कर रहे हैं। हरियाना प्रान्त भारतवर्ष के उन प्रान्तों में से है जिनमें कि अब तक भी प्राचीन सभ्यता का आदर्श पाया जाता है। जहाँ हरियाना प्रान्तीय पुरुषों में सादगी

सदाचार और हृदयों में भावुकता तथा उदारता है वहाँ समृद्धिशालिता भी है—ऐसे प्रान्त में गांव-गांव में आर्य समाज के योग्य प्रचारकों की आवश्यकता है जिस को कि कालान्तर में गुरुकुल के स्नातक पूरा कर सकेंगे।

ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य अति उत्तम है क्योंकि गुरुकुल का जल वायु स्वास्थ्य के लिए अति लाभदायक है। समय-समय पर सामयिक ज्वर तथा अन्य आकस्मिक रोगों से पीड़ित होने पर ब्रह्मचारियों की चिकित्सा के लिए "औषधालय" में सुयोग्य वैद्यों की आयोजना की गई है। औषधालय द्वारा गुरुकुल के सेवकों के अतिरिक्त हज़ारों साधारण ग्रामीणों को भी बड़ा लाभ पहुँचा है।

गुरुकुल के आय व्यय को रजिस्टरों में अङ्कित करने के लिए तथा बाहर से आये पत्रों का उत्तर देने तथा तत्संबन्धी कार्यों के लिए लेखक (क्लर्क) नियुक्त हैं। ब्रह्मचारियों तथा गुरुकुल के अध्यापकों आदि के लिए एक पुस्तकालय है जिस में भिन्न-भिन्न भाषाओं तथा विषयों की लगभग ५५० पुस्तकें विद्यमान हैं।

ब्रह्मचारियों को नित्य प्रति सात्विक निरामिष भोजन दिया जाता है। कोई भोजन व्यय (फ़ीस) नहीं लिया जाता। तिस पर भी घी, दूध, फल, शाक, मिष्टान्न आदि पदार्थ दिये जाते हैं। तैल, मिर्च, खटाई आदि पदार्थ जो बल बुद्धि नाशक हैं कभी नहीं दिये जाते।

ब्रह्मचारियों के दूध के विशेष प्रबन्ध के लिए गोशाला है। गुरुकुल की गोशाला दो स्थानों में विभक्त है। एक

गांव खानपुर में दूसरी गुरुकुल भूमि में। गोशाला का विशेष प्रवन्ध खानपुर गांव में है जहाँ कि पशुओं के चरने के लिए लगभग ४००० बीघे का जंगल है। गुरुकुल में बैल, घोड़ा तथा गाय, भैंस दूध देने वाले पशु रहते हैं।

गुरुकुल के पास ३७५ बीघे उपजाऊ भूमि के अतिरिक्त लगभग ७० हज़ार रुपये के मूल्य की स्थिर सम्पत्ति है। मकान, कूआ आदि स्थिर सम्पत्ति के तय्यार करवाने में गुरुकुल के आरम्भ से लेकर अब तक लगभग ७० हज़ार रुपये व्यय हुए हैं। ब्रह्मचारियों के निवास के लिए आश्रम की सुन्दर बिल्डिङ्ग तथा ६ कूए हैं। इनसे कृषि-कार्य्य के लिए सिंचाई का काम भी लिया जाता है।

११. मटिण्डू (रोहतक) गुरुकुल

हरियाना प्रान्त के कर्मवीर श्री चौ० पीरुसिंह का अमर शहीद श्री स्वा० श्रद्धानन्द के साथ बहुत समय पूर्व से ही शिष्य-गुरु सम्बन्ध था। श्री स्वामी जी ने गुरुकुल कांगड़ी के मुख्याधिष्ठातृत्व काल में प्रतिनिधि सभा द्वारा अपने प्रभाव से दो वर्ष तक निःशुल्क शिक्षा प्रचलित करवाई थी। परन्तु वह जारी न रह सकी और उन्हें हानि भी उठानी पड़ी। इसके फल-स्वरूप उन्होंने पूर्ववत् शुल्क क्रम ही जारी रहने दिया। परन्तु उनकी यह उत्कट अभिलाषा थी कि गुरुकुल की कोई निःशुल्क शाखा होनी चाहिए। इस इच्छा को वे कई वार उक्त चौधरी जी पर भी प्रकट कर चुके थे। उन दिनों जब कि इस ओर आर्य समाज का प्रचार कुछ-कुछ बढ़ने लगा तब इसके फलस्व-

रूप कई सज्जनों ने रोहतक में एक जाट स्कूल खोलने की योजना बनाई। परन्तु श्री चौ० पीरूसिंह ने इस बात का विरोध करते हुए अपने विचार प्रकट किये कि संस्था के नाम के साथ "जाट" शब्द का प्रयोग करने से आर्य समाज के सिद्धान्तों की अवहेलना होगी। अतः इस संस्था का नाम आर्यस्कूल ही रखना उचित है। परन्तु सम्प्रदाय-वादिता के कारण श्री चौधरी जी के विचारों का उन सज्जनों ने स्वागत न किया। इसके विरोध-स्वरूप चौधरी जी ने श्री स्वा० श्रद्धानन्द के सभापतित्व में समीपवर्त्ती "समचाना" ग्राम में रोहतक में जाट स्कूल की स्थापना के साथ ही एक विशेष महोत्सव करवाया। इसमें निकट के अनेक गण्य-मान्य व्यक्तियों को निमन्त्रित किया गया था। उत्सव में निःशुल्क आर्य शिक्षणालय की स्थापना का निश्चय किया गया। जलसा समाप्त करते ही तत्काल श्री स्वामी जी उत्सव की पंचायत के साथ मटिण्डू ग्राम के रमणीक वन में पधारे।

श्रद्धेय स्वामी जी ने इस निःशुल्क शिक्षणालय की निज करकमलों द्वारा स्थापना की। इसके पश्चात् कर्मशूर चौधरी जी ने आजीवन अनथक परिश्रम से भवनादि निर्माण कर धन तथा अन्न संग्रह करके हरियाना प्रान्त की निर्धन जनता में अपने सहयोगी सज्जनों के साथ मिल कर शिक्षा का प्रचार करवाया। उनके देहान्त के उपरान्त उनके छोटे भाई कर्मवीर श्री चौ० शिवकर्णसिंह अब तक सतत परिश्रम से अपने ज्येष्ठ भाई के प्रवर्त्तित कार्य को कर रहे हैं।

इनके सदुद्योग तथा अन्य गुरुकुलीय व बाहिर के सज्जनों के सहयोग से यह संस्था २० वर्ष से निरन्तर निःशुल्क वैदिक शिक्षा का प्रचार करती हुई देश व जाति के लिये लाभदायक सिद्ध हो रही है।

इस हरियाना प्रान्त के निवासी ¾ जाट कहलाते हैं जिनकी जीविका केवल कृषि पर ही निर्भर है। अब से पूर्व इस प्रान्त में शिक्षा का प्रचार बहुत कम था। जाटों की शूद्रों में गणना की जाती थी। स्थान-स्थान पर पौराणिक गढ़ होने के कारण "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" का अक्षरशः पालन किया जाता था। विवाहादि संस्कारों में पौराणिक पण्डित जाट भाई से सर्व प्रथम "अहं शूद्रोऽस्मि" की प्रतिज्ञा दोहरवाया करते थे। इनके हाथ का पानी तथा अन्य साधारण वस्तु भी स्पर्श करना पाप समझते थे। वैदिक धर्म के किसी प्रचारक ने इस प्रान्त की ओर पूर्णरूपेण ध्यान नहीं दिया था। ऐसी दशा में गुरुकुल की स्थापना होने से इन जाट भाइयों में आर्य समाज का प्रचार हुआ। समाज ने इनको शुद्ध तथा पवित्र रहने की शिक्षा दी और समान दर्जा दिया। इनके विवाहादि संस्कार तथा अन्य रीति रिवाज बराबरी के व्यवहार से अन्य जातियों के साथ प्रचलित करवाए। इस प्रकार इनकी सामाजिक दशा को उन्नत बना कर इनकी सन्तान में शिक्षा का प्रचार किया तथा सुशिक्षित नागरिक बना कर देश की सेवा के लिये प्रस्तुत किया। इतना ही नहीं, इस संस्था ने वैदिक धर्म के मुख्य अंग "शुद्धि" के कार्य में

भी सुचारु रूपेण भाग लिया है। कई आर्य धर्म से कारण-वश बिछुड़े हुए भाईयों को पुनः वैदिक धर्म में दीक्षित करके उनके विवाहादि रीति रिवाजों को यथा पूर्व प्रचरित कर उनके कष्ट निवारण का पुण्य कार्य किया है।

इस संस्था का प्रबन्ध एक कमेटी के अधीन है तथा वही इसकी स्वामिनी है। १००) की धनराशि एक बार ही देने से अथवा ६) वार्षिक रूप में देने वाले सज्जन इसके सदस्य हो सकते हैं।

कमेटी के सदस्य :—

प्रधान—श्री चौ० अमरसिंह जैलदार सिलाणा, निवासी।

उपप्रधान—श्री चौ० निहालसिंह

मन्त्री—श्री मा० कलिराम B. A.

उपमन्त्री—श्री मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल

अन्य शेष सदस्य १०० हैं।

अब तक कमेटी के ७० अधिवेशन सम्पन्न हुए हैं। प्रथम श्री पं० पूर्णदेव विद्यालंकार स्नातक गुरुकुल काँगड़ी ने तत्परता से ६ वर्ष तक स्थिर रूप से प्रबन्ध सूत्र का संचालन किया। उन के चले जाने के पश्चात् अब तक सुयोग्य स्नातक श्री पं० निरञ्जनदेव विद्यालंकार सतत परिश्रम से सुचारु रूप से प्रबन्ध का कार्य कर रहे हैं। अब तक यहाँ पर कार्य करने वाले कर्मचारियों की संख्या की औसत १५ रही है तथा शिक्षा प्राप्त करने वाले ब्रह्मचारियों की संख्या की औसत ६० रही है।

इस संस्था में शिक्षा सर्वथा निःशुल्क दी जाती है तथा ब्रह्मचारियों से उनके भरण पोषण का व्यय भी बिलकुल नहीं लिया जाता। इस प्रकार शिक्षण-व्यय तथा भोजन छादन पुस्तकादि व्यय न लेते हुए शिक्षा दिलाने वाली पंजाब में ही नहीं, सम्पूर्ण भारत में गुरुकुल काँगड़ी की यही एक-मात्र शाखा है। यहाँ पर गुरुकुल विश्वविद्यालय की पाठ विधि के अनुसार ६ श्रेणियों तक शिक्षा का प्रबन्ध है। इस के साथ ६ श्रेणियों के पश्चात् पंजाब यूनिवर्सिटी की प्राज्ञादि संस्कृत परीक्षाओं के पाठन का भी पूर्णरूपेण प्रबन्ध है। षष्ठ श्रेणी उत्तीर्ण करके ब्रह्मचारी गुरुकुल काँगड़ी भेजे जाते हैं अथवा यहीं पर रहते हुए प्राज्ञादि परीक्षाओं की तय्यारी करते हैं। इस संस्था ने अब तक २५० विद्यार्थियों को सुशिक्षित बनाकर देश व जाति की सेवा के लिए प्रस्तुत किया है।

गुरुकुल की वार्षिक आनुमानिक आय ६०००) है तथा प्रति वर्ष का व्यय लगभग ८०००) है। विद्यार्थियों के भरण पोषण के निमित्त मंडलियों के द्वारा प्रतिवर्ष अन्न संग्रह किया जाता है। जिस की वार्षिक औसत ३००० मन है। समय-समय पर गुरुकुल के अध्यापक वर्ग समीपवर्त्ती ग्रामों में होने वाले विवाहादि संस्कारों को भी पूर्ण वैदिक विधि से सम्पन्न कराते हुए तथा ऋषि मुनि प्रतिपादित संस्कारों की महत्ता दर्शाते हुए वैदिक कर्म-काण्ड का प्रचार करते रहते हैं। इन संस्कारों से गुरुकुल को भी समयानुसार पुष्कल धनराशि प्राप्त होती रहती है। गत वर्ष इस कार्य

के द्वारा लगभग १५००) की धनराशि प्राप्त हुई। गुरुकुल की अचल सम्पत्ति लगभग ३०,०००) की लागत की है। जिस में निम्नलिखित शालाएँ समाविष्ट हैं :—

भण्डार, पाठशाला, गोशाला, यज्ञशाला, आश्रम, कार्यालय, औषधालय, पुस्तकालय, वाचनालय, कुआ, अतिथिगृह, परिवारगृह, अन्नावास, बाग की तथा कृषि की भूमि।

१. औषधालय। गुरुकुल का औषधालय ग्रामीण जनता में दवाई देने व मुफ्त चिकित्सा करने में विशेष तत्पर रहता है। इस में औषधि तथा चिकित्सा कार्य के लिए एक सुयोग्य चिकित्सक रखा जाता है। गत वर्ष से लगभग १५० रोगियों को मुफ्त औषधि दी गई तथा चिकित्सा की गई।

२. गुरुकुल पुस्तकालय। इसका उद्देश्य ब्रह्मचारियों में विशेष ज्ञान का प्रसार करना भी है। इस से ग्रामीण जनता भी समय पर लाभ उठाती रहती है। निकट में कोई अन्य पुस्तकालय विद्यमान नहीं। गत वर्ष ५०) मूल्य की विविध विषयों की पुस्तकें पुस्तकालय को दान द्वारा प्राप्त हुईं। ७० मनुष्यों ने इस से लाभ उठाया। गत वर्षों में वाचनालय में आने वाले हिन्दी, उर्दू तथा संस्कृत भाषाओं के समाचार पत्र तथा पत्रिकाओं की संख्या लगभग १५ रही। वाचनालय कुल निवासियों के लिए विशेष कर ग्रामीण जनता के लाभार्थ उचित रूप में उपयोगी सिद्ध होता रहा है।

३. छात्रोत्साहिनी सभा। यह केवल ब्रह्मचारियों की सभा है। इसके अधिवेशनों में विद्यार्थीगण अपनी वक्तृत्व

शक्ति को विकसित करते हैं। इसका वार्षिक अधिवेशन गुरुकुलीय महोत्सव के सुअवसर पर होता है। इस में ब्रह्मचारी अपने भाषणों तथा भजनों द्वारा जनता को विशेष प्रभावित करते हैं। इस का मन्त्री ब्रह्मचारी ही होता है। समय-समय पर बाहिर के सज्जन भी इस के अधिवेशनों में सम्मिलित होते रहते हैं।

४. प्रचार मण्डली जहाँ यह संस्था इस निर्धन प्रान्त के तथा अन्य संयुक्तप्रान्त, बिहार, बंगाल तथा पंजाब के बालकों में वैदिक राष्ट्रीय शिक्षा का क्रियात्मक प्रचार कर रही है वहाँ एक प्रचार मण्डली के द्वारा विवाहादि संस्कारों के सुअवसर पर तथा कार्य-क्रम के अनुसार क्रमशः ग्राम ग्रामान्तरों में व्याख्यान तथा भजनादि के द्वारा इस प्रान्त की ग्रामीण जनता में वैदिक धर्म का प्रचार करवा कर जागृति भी उत्पन्न कर रही है। शिक्षा प्रदान के साथ-साथ इस मण्डली से धर्म प्रचार कार्य भी सुचारुरूपेण हो रहा है जोकि विशेष लाभ प्रद है।

इस संस्था के शिक्षा प्रबन्ध तथा प्रचार कार्य के लिए स्व० श्री स्वा० श्रद्धानन्द, आचार्य रामदेव प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब आदि नेताओं न अनेक बार अपनी अमूल्य सम्मत्तियाँ प्रकट करके कृतार्थ किया है।

१२. मुलतान गुरुकुल

श्रद्धेय श्री स्वा० श्रद्धानन्द ने इस गुरुकुल की स्थापना १५ फ़रवरी सन् १६०६ में देवबन्धु में की थी। आजकल यह ताराकुंड के समीप परिवर्तित होकर आ गया है। यह गुरुकुल

कांगड़ी की सबसे पुरानी शाखा है। पहले गुरुकुल स्थानिक सज्जनों की एक समिति, पश्चात् स्थानिक आर्य समाज, आजकल दो वर्षों से आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा गुरुकुल कांगड़ी के अधीन हो गया है। सभा ने चार सज्जनों की एक समिति बनाई है जिस में तीन अन्य सदस्य भी सम्मिलित करने का अधिकार है।

१. मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी, प्रधान
२. ला० मोतीराम, मन्त्री
३. ला० गुरादित्तामल वकील
४. सहायक मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल मुलतान

प० विष्णुमित्र, प० रलाराम, प० चन्द्रमणि विद्यालंकार, प्रो० बालकृष्ण पी० एच० डी०, श्री मा० गोपाल बी० ए०, पं० चमूपति एम० ए० आदि सज्जनों ने संस्था का समय-समय पर संचालन किया है।

यह गुरुकुल पहले १० श्रेणियों तक था, १९३२ से आठ श्रेणियों तक हो का रखा गया है। संख्या की दृष्टि से यहाँ १३१ तक ब्रह्मचारी रह चुके हैं।

जिस भूमि मे गुरुकुल की इमारतें हैं वह लगभग ४४ बीघे हैं। लोधरां में ७२ बीघे, तथा सन्दीला में १५० बीघे इसके हैं। गुरुकुल की इमारतें ३०,०००) की लागत की हैं।

पं० आत्मदेव विद्यालंकार सहायक मुख्याधिष्ठाता हैं। गुरुकुल का एक पुस्तकालय है। विद्यार्थियों की वक्तृत्व शक्ति को उन्नत करने के लिए एक कुमार-परिषद् स्थापित है।

१३. रायकोट (लुधियाना) गुरुकुल

श्री स्वामी गंगागिरि महाराज ने महौली (नाभा) में एक संस्कृत पाठशाला खोली हुई थी। उसी पाठशाला को स्वामी जी श्री डा० गुरुप्रसाद, पं० रामजीदास तथा पं० गोपीनाथ प्रभृति रायकोट निवासी महानुभावों की प्रार्थना पर रायकोट ले आये और इसे गुरुकुल का रूप दे दिया। यह गुरुकुल, रायकोट में सं० १९७५ में ११ ब्रह्मचारियों से खुला। इस गुरुकुल की आधारशिला श्री स्वामी श्रद्धानन्द महाराज ने आश्विन बदी द्वादशी संवत् १९७६ को अपने करकमलों द्वारा स्थापित की।

ग्राम प्रचार की आवश्यकता को अनुभव करते हुए एक 'परोपकारी' औषधालय भी गुरुकुल की ओर से खुला हुआ है जिसमें बिना मूल्य औषध दी जाती हैं। इससे ग्रामीण जनता पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इसी का फल है कि सिक्ख आबादी में से भी ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रविष्ट हैं।

इसकी स्थायी सम्पत्ति ४१ हज़ार के लगभग है। इस के अतिरिक्त २५ बीघे ज़मीन भी है जिसमें १२ बीघे में एक सुन्दर बाग़ है। शेष भूमि में कृषि की जाती है। एक गोशाला है जिसमें ४० के लगभग पशु हैं।

इसमें प्रारम्भिक आठ श्रेणियों की पाठविधि गुरुकुल कांगड़ी के अनुसार है। इसके आगे गुरुकुल की अपनी सर्वाङ्ग पूर्ण पाठ विधि है। पंजाब की प्राज्ञ, विशारद, और शास्त्री, तथा बनारस की मध्यमा, शास्त्री, आचार्य परीक्षाओं के लिए भी प्रबन्ध है। गुरुकुल के साथ एक और पुस्तकालय भी है।

अध्यापक वर्ग :—

(क) श्री स्वामी गंगागिरि, आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता

(ख) श्री पं० रामसुख दर्शनाचार्य, कवितार्किकसिंह, उपाचार्य

(ग) श्री पं० हरिश्चन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर, व्याकरणाध्यापक

(घ) श्री पं० अर्जुनदेव विद्यानिधि, धर्मशिक्षा तथा व्याकरणाध्यापक

(ङ) श्री पं० परमानन्द शास्त्री, साहित्याध्यापक.

(च) श्री नन्दलाल गणिताध्यापक

(छ) श्री विश्वशाचैतन्य, आलेख्याध्यापक

(ज) श्री प्रद्युम्नसिंह, आंगल भाषाध्यापक

(झ) श्री प्रकाशचन्द्र सहायकाध्यापक

(ञ) श्री ब्र० व्रतपाल सहायकाध्यापक

प्रबन्धक वर्ग :—

(क) श्री स्वामी आत्मानन्द कोषाध्यक्ष

(ख) श्री पं० हरिवंशलाल भण्डारी

(ग) श्री स्वामी सच्चिदानन्द वैद्य

इस के अतिरिक्त ६ भृत्य हैं।

इस समय तक गुरुकुल ३७ ब्रह्मचारी पढ़ा कर आर्य जनता के सामने उपस्थित कर चुका है। गुरुकुल को आर्थिक सहायता करने वाले ३४ स्थिर सहायक मिले हुए हैं।

निम्न सज्जनों ने विद्यालय तथा आश्रम निर्माण में आर्थिक सहायता की है।

१. श्री बा० हरकरणदास २. श्री ला० दीवानचन्द बज़ाज़ लुधियाना ३. श्रीमती पूर्णदेवी रायकोट ४. श्रीमती कृपा-देवी, ५. श्री ला० रामकृष्ण चौंदा, ६. बा० प्यारेलाल लुधियाना, ७. श्री राय साहब रत्नचन्द पटियाला, ८. श्रीमती सोमादेवी हाफ़िज़ाबाद ६. श्री ला० देवीदित्तामल, १०. श्री ला० चाननराम आहलूवालिया, ११. श्री पं० वीरचन्द्र जलन्धर, १२. श्रीमती राजदेवी धर्मपत्नी बा० बिशनसिंह कपूरथला, १३. श्री बा० पोहलोराम रायकोट, १४. श्री ला० बद्रीप्रसाद सिरसा, १५. श्री पं० पन्नाराम सुजानगढ़, १६. श्रीमती पुन्नादेवी बसियाँ।

आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब का इतिहास

परिशिष्ट ग.

स्कूलों का इतिहास

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

स्कूलों का इतिहास*

१. जलन्धर [छावनी] एन० डी० विकटर हाई स्कूल

२. जलन्धर [शहर] द्वाबा हाई स्कूल

इस स्कूल की स्थापना २ मार्च १८६६ को हुई। इस की प्रथम प्रबन्ध समिति के सदस्य सरदार प्रतापसिंह आहलूवालिया प्रधान, ला० रामकृष्ण भूत-पूर्व प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, ला० गुजरमल प्रबन्धक, ला० लभूराम बी० ए० आनरेरी हैड मास्टर, ला० मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) रायजादा भक्तराम, मन्त्री थे। १८९७ में एंग्लो संस्कृत स्कूल जालन्धर इस के साथ मिल गया। दोनों मिले हुए स्कूलों का नाम एँग्लो संस्कृत द्वाबा स्कूल रखा गया। ला० मुन्शीराम इस के प्रबन्धक बने। पुनः विरोध उत्पन्न हो जाने पर सन् १८६८ में एंग्लो संस्कृत स्कूल अलग हो गया। ला०

* केवल प्रसिद्ध हाइ स्कूलों का नाम तथा इतिहास दिया गया है

लच्छमनदास बी० ए० तथा ला० काशीराम, मा० सुन्दरसिंह बी० ए० बी० टी०, पं० हरचरणदास बी० ए० बी० टी०, ला० चिरञ्जीतलाल एम० ए०, बी० टी० हैड मास्टर का कार्य करते रहे। ला० नन्दलाल (पश्चात् सहायक मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल) बोर्डिंग के अध्यक्ष रहे। रायबहादुर दीवान बद्रीदास मैनेजर रहे। अर्थ की कमी से स्कूल की अवस्था शिथिल पड़ गई। पुनः ला० कर्मचन्द के पुरुषार्थ से स्कूल की आर्थिक अवस्था अच्छी हो गई।

१६२० से ला० कृपाराम हैड मास्टर चले आते हैं। मैट्रीक्यूलेशन का परिणाम जो ३३% तक पहुँच गया था, उन्नत होकर इस वर्ष ९४% हो गया। २१ मई १६२३ में स्कूल का नाम परिवर्तन करके ला० लभूराम के नाम पर लभूराम द्वाबा हाई स्कूल रखा गया। स्कूल की इमारत बन गई है। ला० कर्मचन्द, दीवान श्रीराम वकील, पं० शिवदत्त एम० ए० स्कूल के प्रबन्धक बने।

आज स्कूल आर्य समाज जलन्धर के सर्वथा अधीन है। स्कूल की सम्पत्ति एक लाख की है। इस समय स्कूल में ७६७ विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। स्कूल में धर्म शिक्षा तथा हिन्दी की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता है। २९ अध्यापक स्कूल में कार्य कर रहे हैं। ला० जगन्नाथ आजकल स्कूल के प्रबन्धक हैं।

३. तौंसा, (डेरागाज़ीखाँ) ए९० ए० बी० स्कूल तौंसा

प्रो० गोवर्धन एम० ए०, एम० ओ० एल० को विचार हुआ कि इस इलाके में स्वकीय धर्म और सभ्यता के प्रचार

के लिए संस्था खोलनी चाहिए। एप्रिल १९२० में पांचवीं कक्षा तक स्कूल खोल दिया गया। इस स्कूल में हिन्दुओं के अतिरिक्त यवन भी शिक्षा पाते हैं। इस का नाम इलाके के नाम पर संघन एंग्लो वरनैक्यूल रखा गया। स्कूल की प्रबन्धकर्तृ सभा के प्रधान ला० धनपतराय प्लीडर तथा मन्त्री प्रो० गोवर्धनलाल रहे। उन्नति करते-करते यह हाई स्कूल कर दिया गया। इस स्कूल से ही इस इलाके में आर्य समाजों की स्थापना हुई। धर्म शिक्षा का सन्तोषजनक प्रबन्ध है।

मार्च १९२६ में प्रोफेसर जी की मृत्यु हो जाने से स्कूल की अवस्था शिथिल पड़ने लगी। सरकार की ओर से ग्रांट के अभाव से निराशा हुई। हाई क्लासों के तोड़ने पर ग्रांट की आशा दिलाई गई। हाई क्लासें उड़ा दी गईं। लड़के चले गए। अध्यापक की कमी होने लगी। इस अवस्था में एप्रिल १९२८ में ला० निरञ्जनदेव को मुख्याध्यापक बनाया गया। मुकाबिले पर गौरमिएट हाई स्कूल था। सरकार ने अचानक अकारण ग्रांट बन्द कर दी। ला० हेतराम रिटायर्ड जेलर ने इस गिरते स्कूल को सम्भाला। इस समय १३० विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं।

४ देहली, डी० एन० हाई स्कूल

५. नवांशहर (जलन्धर) आर्य हाई स्कूल

एप्रिल १९११ में आर्य मिडिल स्कूल की यहाँ स्थापना हुई। म० भद्रसेन उस के मुख्यध्यापक थे। १९२३ में यह स्कूल हाई कर दिया गया। इस के मुख्याध्यापक ला०

मेलाराम, ला० विश्वम्भरदयाल तथा ला० हरिकृष्णलाल रह चुके हैं। आजकल श्री मा० जयदेव मुख्याध्यापक हैं। स्कूल तथा आश्रम का भवन बन चुका है। ला० रामादित्तामल, ला० साईंआमल, श्री जगन्नाथ, श्री कुलवन्तराय ने तथा महाराज गैंदा क्षत्रिय ने स्कूल को आर्थिक सहायता दी है। और तो और ला० वलायतीराम क्षत्रिय नवांशहर ने जिन का ८) मासिक वेतन है ५००) से एक कमरा बनवा दिया है।

स्कूल में १८ अध्यापक हैं। मा० नौहरियामल और पं० लक्ष्मणदत्त लग्न से कार्य कर रहे हैं। परिणाम अच्छा रहता है। गत वर्ष ६८ प्रतिशत विद्यार्थी पास हुए हैं। १९२७ में विद्यार्थियों की संख्या जहाँ ४४३ थी, १९३३ में ४८३ हो गई। स्कूल में शिल्प जारी करने का विचार हो रहा है। धर्म शिक्षा का समुचित प्रबन्ध है।

स्कूल की प्रबन्ध कर्तृ समिति के निम्न सदस्य हैं :—

१. ला० काशीराम प्लीडर, २. ला० भीमसेन प्लीडर, ३. डा० आशानन्द, ४. ला० रुलियाराम ५. ला० बेलीराम।

६. नूरमहल (जलन्धर) डी० ए० वी० हाई स्कूल

७. भेरा (शाहपुर) के० आर० ए० एम० हाई स्कूल

८. मिण्टगुमरी, डी० ए० वी० हाई स्कूल

९. रामाँमण्डी (पटियाला) एंग्लो वैदिक हाई स्कूल

वैशाख १९८६ में एँग्लो वैदिक मिडिल स्कूल के नाम से पाँचवीं और छठी श्रेणी के १२ विद्यार्थियों से इस संस्था का कार्य प्रारम्भ किया गया जो आजकल आर्य जुबली हाई स्कूल के रूप में १५० विद्यार्थियों और १७ अध्यापकों

के साथ कार्य करता हुआ दिखाई देता है। पहले यह स्कूल समाज मन्दिर में ही लगता था। अब इस का पृथक् बड़ा सुन्दर भवन बन गया है। मिडिल स्कूल की मन्जूरी पटियाला राज्य से हो चुकी है परन्तु आर्य जुबली हाई स्कूल की स्वीकृति विचाराधीन है। स्कूल ने कई एक गत वर्षों से अच्छे परिणाम दिखाए हैं और इस इलाके में एक बड़ी भारी आवश्यकता को पूरा किया है। आज २० के लगभग विद्यार्थी आश्रम (बार्डिंग हौस) में रहते हैं। स्कूल में धर्म शिक्षा और हिन्दी का विशेष ध्यान रखा जाता है।

प्रारम्भ में स्कूल की कार्य-कारिणी समिति पर अभियोग चलाया गया जिसमें म० गेंदाराम प्रधान को जेल जाना पड़ा। अभियोग की पैरवी बा० अर्जुनदेव बगाही एडवोकेट, हाईकोर्ट लाहौर ने बड़ी योग्यता से की और आखिर स्कूल अपने उद्देश्य में सफल हुआ। ला० रामलाल हैड मास्टर, आर्य हाई स्कूल लुधियाना और डा० मथुरादास ने विद्यार्थियों का निरीक्षण किया तथा अन्य उनकी शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त कराने में उनकी सहायता की है। अभियोग में स्वा० स्वतन्त्रानन्द जी महाराज तथा म० कृष्ण जी ने भी पर्याप्त सहायता की है।

१०. लुधियाना आर्य हाई स्कूल

इस स्कूल को पहले-पहल मुन्शी जमनाप्रसाद ने जो लुधियाने की कचहरी में एक अहलकार थे हिन्दू स्कूल के नाम से २१ एप्रिल १८८३ को खोला।

पहले तो यह स्कूल उन्नति करता रहा परन्तु थोड़े

वर्षों के पश्चात् अवनति की ओर झुक गया । आर्थिक अवस्था शोचनीय हो गई यहाँ तक कि उस समय तक इसकी प्रबन्ध कमेटी ने इस स्कूल को २ जून १८८९ को आर्य समाज लुधियाने को सौंप दिया । उस समय इस में ४ अध्यापक थे और २५ वा ३० विद्यार्थी थे। ला० किशनदास उस समय इस के हैड मास्टर थे।

जब से यह स्कूल आर्य समाज के हाथ में आया इस का प्रबन्ध उत्तम होता गया और इस की अवस्था उन्नत होती गई। परीक्षा परिणाम भी अच्छे निकलने लगे। यह १९०५ तक मिडिल रहा और १९०६ में इस को हाई बना दिया गया। इस समय इस में २६० विद्यार्थी थे। प्रारम्भ में आर्य समाज के अधिकारियों को धन एकत्र करने और प्रबन्ध करने में विशेष प्रयत्न करना पड़ा। स्वर्गवासी ला० उमरावसिंह का नाम इस सम्बन्ध में विशेष वर्णन करने के योग्य है। उस समय से इस स्कूल में हर प्रकार से उन्नति करनी आरम्भ की जिस का वर्णन नीचे किया जाता है।

१९१० तक स्कूल किराये के मकानों में लगता रहा। १९११ में इस के लिए भूमि खरीदी गई और इस भवन की आधारशिला श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपने करकमलों से रखी। ज्यों-ज्यों धन आता गया भवन के कमरे शनैः-शनैः बनते गए। अब स्कूल का भवन मुकम्मल हो चुका है जिस में ४४ कमरे और एक बड़ा हाल बना हुआ है इस पर एक लाख रुपये के लगभग लागत आ गई है। सब कमरों में बिजली के पंखे लगे हुए हैं और

पहली श्रेणी से तीसरी श्रेणी तक के विद्यार्थियों को छोटी कुरसियाँ और मेजें मिली हुई हैं। पाँचवीं श्रेणी से दसवीं श्रेणी तक को डेस्कें दी जाती हैं।

इस समय स्कूल में अध्यापकों की संख्या ४५ है। यह सब सिवाय एक के ट्रेंड हैं। अध्यापकों में १२ बी० ए० हैं, और तीन शास्त्री हैं। प्राइमरी की कक्षाओं में ६ एफ० ए० पास ट्रेंड अध्यापक पढ़ाते हैं।

१९०९ से विद्यार्थियों की संख्या लगातार बढ़ती रही है जैसा कि निम्नलिखित ब्योरे से प्रतीत है। इस स्कूल की विशेषता यह है कि, लुधियाने में मुसलमान, सिक्ख, हिन्दू, ईसाई और गवर्नमेंट स्कूल होते हुए भी प्रत्येक मत और धर्म के विद्यार्थी इस में शिक्षा ग्रहण करते हैं। इस समय १४५० विद्यार्थियों में से १२५ सिख, १७० मुसलमान, ५ अछूत और शेष हिन्दू हैं। नगर के तकरीबन सब ही बड़े-बड़े अफ़सरों, रईसों, वकीलों, सौदागरों के पुत्र इसी स्कूल में शिक्षा प्राप्त करते हैं।

दूसरी श्रेणी से मुसलमान विद्यार्थियों के अतिरिक्त सब को सातवीं श्रेणी तक आर्य भाषा पढ़नी आवश्यक है। बड़ी श्रेणियों में भी जो विद्यार्थी चाहें आर्य भाषा ले सकते हैं। स्कूलों के अन्य सब विषय यहाँ पढ़ाये जाते हैं। धर्म शिक्षा प्रत्येक विद्यार्थी को चाहे कोई मतावलम्बी हो, आवश्यक रूप में पढ़ाई जाती है।

युनिवर्सिटी परीक्षा के परिणाम सदा अत्युत्तम निकलते रहे हैं और विद्यार्थी प्रतिवर्ष यूनिवर्सिटी की छात्रवृत्तियां

भी पाते रहे हैं और प्रथम श्रेणी में बहुत संख्या में विद्यार्थी पास होते रहे हैं।

इस स्कूल में विद्यार्थियों की शारीरिक अवस्था को उन्नत करने के लिए व्यायाम और खेलों का विशेष प्रबन्ध है और स्कूल की क्रिकेट, हाकी, फुटबाल और वालीबाल की टीमें टूरनामैंटों में जीतती रही हैं और स्कूल के लिए १८ ट्राफ़ी शील्ड और कप सदा के लिए जीत चुकी है। क्रिकेट टीम गत २५ वर्षों में केवल दो बार टूर्नामैंट में हारी और शेष वर्षों में सदा जीतती रही। वालीबाल टीम भी स्कूल के लिए कई कप जीत चुकी है। हाकी टीम ने अर्द्धशताब्दी टूर्नामैंट अजमेर में हाकी का कप जीता। गत वर्ष लुधियाना के सिलवर जुबली टूर्नामैण्ट में इस स्कूल की क्रिकेट, फुटबाल, और वालीबाल की टीमें जीतीं। भारतवर्षीय श्रद्धानन्द टूर्नामैंट १९२४ में इस स्कूल की वालीबाल की टीम सब से जीती।

इस स्कूल में निम्नलिखित विशेष बातें हैं।

१. पहिली श्रेणी से आठवीं श्रेणी तक सब को संगीत सिखाया जाता है।

२. स्कूल का अपना बैंड बाजा है।

३. स्कूल के विद्यार्थियों की एक आरकैस्ट्रा भी है।

४. बालचर की शिक्षा का प्रबन्ध है

५. रोगी सेवा का एक सेवा दल है

६. इस स्कूल में विद्यार्थियों का एक सेवा दल भी है

७. ड्रिल में विद्यार्थियों को विशेष तौर पर प्रवीण कराया जाता है

८. वायरलैस, रेडिओ सैट, बायिसकोप आदि यन्त्रों द्वारा शिक्षा का सामान भी रखा गया है

९. दस्तकारी भी थोड़ी-थोड़ी आरम्भ कर दी गई है

१०. विद्यार्थियों के लिए कोआपरेटिव स्टोर खोले हुए हैं

११. विद्यार्थियों को वस्त्रों और शरीर की स्वच्छता सिखलाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है

१२. प्रत्येक ६ मास के पश्चात् विद्यार्थियों की शारीरिक अवस्था की जाँच करने के लिए उनका माप और तोल किया जाता है

विद्यार्थियों में वैदिक धर्म और आर्य समाज सम्बन्धी प्रचार करने के लिए प्रत्येक श्रेणी को प्रतिदिन एक अन्तर धर्म शिक्षा अवश्य दी जाती है जिस का प्रभाव विद्यार्थियों के दैनिक जीवन पर पड़ता है। धार्मिक शिक्षा का यह फल हुआ है कि कई स्थानों पर आर्य समाजों के पदाधिकारी और कार्यकर्त्ता इस स्कूल के पुराने विद्यार्थी है। कई स्थानों पर उन्हों ने नई आर्य समाजें स्थापित की हैं और जो उनके ही आश्रय पर हैं। ब्रह्मा में यहाँ के कुछ विद्यार्थी समाज का कार्य कर रहे हैं। अफ्रीका के केनिया, यूगैण्डा और टांगानेका प्रान्त में इस स्कूल के कम-से-कम २ दर्जन पुराने विद्यार्थी कई क्षेत्रों में आर्य समाज का बहुत सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

आर्य विद्यार्थी आश्रम। यह आश्रम १९१४ में बनना आरम्भ हुआ १९२८ में पूरा हुआ। पहिले विद्यार्थी किराये के मकानों में रहते रहे। आश्रम के पास ६० बीघे जगह

है जिसमें विद्यार्थी सायंकाल को खेल सकते हैं। आश्रम के दो भाग हैं एक भाग में बड़े बालक रहते हैं दूसरे में छोटे बालक। आश्रम में इस समय कुल १८० विद्यार्थी हैं। आश्रम में ४ अध्यक्ष हैं जिनमें से दो ग्रेजूएट हैं और २ पंडित। आश्रम की सारी इमारत में बिजली लगी हुई है। स्नान के लिए सारा दिन कूआं चलता है, और एक कमरा इसके लिए जुदा नियत है। भोजनशाला का भी एक विशाल कमरा है जिसमें १०० बालकों के लगभग एक समय बैठकर भोजन कर सकते हैं। प्रत्येक छात्र को संध्या और हवन में प्रातः और सायं नित्य आना पड़ता है। आश्रम की एक आर्य कुमार सभा भी है जिसमें विद्यार्थी बड़े उत्साह से काम करते हैं। पढ़ाई में कमज़ोर बालकों का बड़ा ध्यान रखा जाता है। अध्यक्षगण ऐसे बालकों को अपनी निगरानी में पढ़ाते हैं। रोगी लड़कों की देख-भाल के लिए डा० गुज्जरमल नित्य आते हैं। हैड-मास्टर साहिब की कोठी भी पास ही है ताकि समय-समय पर वह स्वयं निरीक्षण कर सकें। आर्य समाज के साप्ता-हिक सत्संगों में आश्रम के सब विद्यार्थियों को सम्मिलित होना आवश्यक है।

स्कूल की इस सारी उन्नति का श्रेय श्री मा० रामलाल बी० ए० हैडमास्टर को है।

१३. स्यालकोट, आर्य हाई स्कूल

सन् १९०४ में पहले-पहल मेघोद्धार सभा सियालकोट ने प्राइमरी इण्डस्ट्रियल स्कूल खोला। इस स्कूल में मेघ

बालकों को साधारण शिक्षा के अतिरिक्त दर्ज़ी और तरखान का भी काम सिखाया जाता है। १६१९ में मेघ और उच्च जाति के बालकों में परस्पर मेल-जोल पैदा करने के लिए मिडिल की श्रेणियाँ भी खोल दी गईं। १६२० में हाई क्लासें भी खोल दी गईं। उस समय स्कूल में १५० विद्यार्थी थे। १६३२ में यह संख्या ५३२ हो गई। १६३५ में ७१७ छात्र और २२ अध्यापक थे।

स्कूल के सब से पहले प्रबन्धक ला० गंगाराम रहे। वे १९०४ से १६३३ तक बड़ी लग्न से स्कूल के प्रबन्ध का कार्य करते रहे। ये शुद्धि के आदर्श पुजारी, आर्य समाज के सच्चे सेवक और ऋषि के अनन्य भक्त थे।

इस स्कूल में मेघ बालकों को यथाशक्ति कई सुविधाएँ पहुँचाई जाती है। बोर्डिंग हाऊस में उनको भोजनादि मुफ़्त मिलता है। इस स्कूल से कई मेघ बालक एण्ट्रैंस पास करके ब-इज़्ज़त रोटी कमा रहे हैं। स्कूल के दो मेघ बालकों ने वकालत पास की है।

आज-कल स्कूल के मैनेजर ला० चरणदास और हैड मास्टर ला० हरिराम हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

परिशिष्ट

सभा-कार्यालय

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की स्थापना १८८५ ई० में हुई। प्रारम्भिक वर्षों में तो सभा का पत्र व्यवहार सभा-मन्त्री ही किया करता था। मन्त्री के अतिरिक्त अन्य अधिकारियों को भी कुछ-न-कुछ पत्र-व्यवहार सम्बन्धी कार्य करना पड़ता था। उत्तरोत्तर यह कार्य बढ़ता गया। १८९२-९३ ई० के वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि मन्त्री जी ने १४०७ पत्र और प्रधान जी ने ५०० पत्र लिखे।

१८९५-९६ ई० में सभा का कार्यालय और पुस्तकालय आर्य समाज वच्छोवाली के मन्दिर में ४) मासिक किराया के मकान में लगता रहा। कार्यालय के उन्नत होने पर पत्रों को रजिस्टर पर चढ़ाया जाने लगा। उपदेशकों और आर्य समाजों की पञ्जिकाएँ बनने लगीं। ला० जयचन्द्र सभा के सहायक मन्त्री पांच-छः घण्टे नित्य सभा का कार्य करते थे। ला० खुशीराम उपप्रधान को सभा के कार्यार्थ आर्य

समाज मन्दिर में बैठे-बैठे रात के दो बज जाते थे। १८९६-९७ में एक डुप्लीकेटर ५०) के मूल्य से सरक्यूलर पत्र निकालने के लिए खरीदा गया। इस वर्ष ३५०३ पत्र कार्यालय में बाहिर से प्राप्त हुए। २६७५ पत्र कार्यालय से बाहर भेजे गए। १४ सरक्यूलर पत्र भेजे गए जिनकी संख्या १९९६ थी।

इस भांति वर्ष प्रति वर्ष कार्यालय का कार्य बढ़ता जाता था। एक लेखक भी इस कार्य को नहीं कर सकता था। ला० देवीदास गणक नियत किए गए और लाला गुरुप्यारा, मन्त्री आर्य समाज बन्नूँ जोकि एक अतीव धार्मिक और पुरुषार्थी सज्जन थे सभा के वैतनिक कार्यालयाध्यक्ष नियत हुए। सभा का हिसाब बा० बिचाराम चैटर्जी देखते रहे। सभा का हिसाब आर्य पत्रिका लाहौर, सद्धर्म-प्रचारक जलन्धर, आर्यमित्र मुरादाबाद, आर्यावर्त्त रान्ची आदि पत्रों में प्रकाशित होता रहा।

ला० गुरुप्यारा रुग्ण हो जाने के कारण चले गए। कुछ काल के अनन्तर १८९९-१९०० में म० आत्माराम सभा के कार्यालयाध्यक्ष नियत हुए। अगले वर्ष पं० अमीचन्द उपमन्त्री बने और पश्चात् ला० सुन्दरदास नियत हुए। १९०१-०२ में पं० ठाकुरदत्त शर्मा (अमृतधारा) गणक नियत हुए। १९६७ वि० में प्रेषित पत्रों की दैनिक औसत १९ थी, १९६८ में २४ हो गई और उससे अगले वर्ष २९ तक पहुँच गई। १९७२ वि० के वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि उस समय ला० सुन्दरदास कार्यालयाध्यक्ष, ला० लागरचन्द गणक, ला०

बृजलाल और ला० रामस्वरूप लेखक और म० मदनलाल पुस्तकालय लेखक थे। इस वर्ष ७०५० पत्र कार्यालय में प्राप्त हुए और ६४१२ पत्र बाहर भेजे गए।

१९७६ वि० में ला० सुन्दरदास के चले जाने पर म० फ़क़ीरचन्द और तदनन्तर पं० जयदेव और फिर ला० नन्द-लाल कार्यालयाध्यक्ष नियत हुए। लाला जी सभा का सर्वांगीण कार्य भली-भाँति करते आ रहे हैं। कुछ कालान्तर म० सुन्दरदास पुनः सभा-कार्यालय में आए और कुछ वर्ष कार्य करते रहे।

यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि गत पचास वर्षों में सभा का कार्यालय बड़े छोटे से आकार से इतने बृहद् आकार में आया है। १९६८ वि० से यह गुरुदत्त भवन की बड़ी विशाल बिल्डिंग में है। आजकल इसका सम्पूर्ण कार्य हिन्दी में होता है। प्रारम्भिक वर्षों में तो कुछ कार्यवाही उर्दू व आंगल भाषा में भी होती रही। स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में अन्तरंग सभा के रजिस्टरों की कार्यवाही उर्दू में लिखी हुई उपलब्ध होती है। हिसाब अंग्रज़ी में होता था। परन्तु यह अवस्था थोड़े ही वर्ष रही। १९७२ वि० से सभा के वार्षिक वृत्तान्त भी हिन्दी में छपने लग पड़े हैं।

सभा का कार्य अब इतना विस्तृत हो गया है कि गुरुदत्त भवन में कई-एक सभा से सीधे वा अन्यथा सम्बद्ध कार्यालय चल रहे हैं। ला० नन्दलाल मुख्य कार्यालय के अध्यक्ष हैं। वेद प्रचार विभाग के पं० ज्ञानचन्द अधिष्ठाता हैं। दलितोद्धार सभा के मन्त्री पं० यशपाल सिद्धान्तालङ्कार

हैं। अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष पं० बुद्धदेव विद्यालंकार हैं। विद्यार्थी आश्रम के अध्यक्ष पं० बनवारीलाल बी० ए० हैं। शिक्षा-समिति प्रान्त में कन्या पाठशालाओं और स्कूलों को संगठित करने के लिए स्थापित है। पं० जयदेव विद्यालंकार समिति की ओर से निरीक्षक नियत हैं। वर्त्तमान में ही एक आर्य साहित्य-विभाग बनाने की आयोजना की जा रही है।

सभा का कोष वर्त्तमान में २५ लाख का है। १६ लाख गुरुकुल का और ९ लाख वेद-प्रचार का है। ला० नोतनदास १९७८ वि० से बड़ी तत्परता तथा लग्न से अपना अमूल्य समय देकर कोषाध्यक्ष का कार्य कर रहे हैं। सभा की ओर से पं० प्रियव्रत के सम्पादकत्व में 'आर्य' (मासिक हिन्दी) और म० चिरञ्जीलाल 'प्रेम' के सम्पादकत्व में 'आर्य मुसाफ़िर' (उर्दू सप्ताहिक) पत्र निकल रहे हैं।